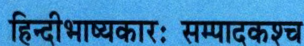
महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योतसहितं
नीरक्षीरविवेकहिन्दीभाष्योपबृंहितञ्च

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

[द्वितीयो भागः]

कुलपतेः प्रो. राजेन्द्रमिश्रस्य प्रस्तावनया विभूषितम्

हिन्दीभाष्यकारः सम्पादकश्च



सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
वाराणसी

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[३२]

महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योतसहितं
नीरक्षीरविवेकहिन्दीभाष्योपबृंहितञ्च

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

[द्वितीयो भागः]

कुलपतेः प्रो. राजेन्द्रमिश्रस्य प्रस्तावनया विभूषितम्

हिन्दीभाष्यकारः सम्पादकश्च
डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'



सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
वाराणसी


सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय

YOGATANTRA-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 32]

ŚRĪ SVACCHANDATANTRA

[PART TWO]

With Two Commentaries

'UDDYOTA'

OF

MAHĀMĀHEŚVARA ŚRĪ KṢEMARĀJA

&

'NĪRAKṢĪRAVIVEKA'

By

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'

FOREWORD BY

PROF. RAJENDRA MISHRA

VICE-CHANCELLOR

EDITED BY

DR. PARAMHANS MISHRA 'HANS'



VARANASI
2004

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

ISBN : 81-7270-111-X (Part II)
ISBN : 81-7270-098-9 (Set)



Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.



First Edition, 500 Copies

Price : Rs. 400.00





Printed by—
VIJAY PRESS
Sarasauli, Bhojubeer
Varanasi.

योगतन्त्र-ग्रन्थमाला

[३२]

महामाहेश्वराचार्यश्रीक्षेमराजकृतोद्द्योतसहितं
नीरक्षीरविवेकहिन्दीभाष्योपबृंहितञ्च

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

[द्वितीयो भागः]

कुलपतेः प्रो. राजेन्द्रमिश्रस्य प्रस्तावनया विभूषितम्

हिन्दीभाष्यकारः सम्पादकश्च

डॉ. परमहंसमिश्रः 'हंसः'



वाराणस्याम्

२०६१ तमे वैक्रमाब्दे १९२६ तमे शकाब्दे २००४ तमे खैस्ताब्दे

ISBN : 81-7270-111-X (Part II)
ISBN : 81-7270-098-9 (Set)

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षकः —
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी।

❐

प्रकाशकः—
डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
निदेशकः, प्रकाशन-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी-२२१००२

❐

प्राप्ति-स्थानम्—
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१००२

❐

प्रथमं संस्करणम् – ५०० प्रतिरूपाणि
मूल्यम् – ४००.०० रूप्यकाणि

❐

मुद्रकः—
विजय प्रेस
सरसौली, भोजूबीर
वाराणसी।

नान्दीवाक्

भारतीय संस्कृति में सद्‌गुरु-परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । ब्रह्म-जीव अथवा पिता-पुत्र सम्बन्ध के समकक्ष ही गुरु-शिष्य सम्बन्ध का भी उदय हम प्राचीन कथाओं, पुरावृत्तों, वैदिक एवं पौराणिक आख्यानों में पाते हैं । वेदमन्त्रों में तो अग्नि को ही 'पुरोहित' की संज्ञा दी गई है; क्योंकि वही देवताओं के योगक्षेम का चिन्तक है[१] । वह 'हव्यवाह' है । देवताओं के नाम, श्रौतविधि से प्रदत्त हविष्यान्न को पूर्ण निष्ठा एवं आर्जव (ईमानदारी) के साथ उन तक पहुँचा देता है[२]–यही उसकी गुरुता है, गौरव है ।

माता एवं पिता तो शिशु को जन्म देकर, उसका पालन-पोषण कर दायित्व से मुक्ति पा लेते हैं; परन्तु कर्तव्यबोध के लिए, आध्यात्मिक चेतना की सक्रियता के लिए गुरु की आवश्यकता होती है । माता-पिता यह कार्य नहीं कर सकते । वे तो बच्चे की लौकिक एवं सांसारिक चेतना को उभारने में लगे रहते हैं । शुद्धोदन ने सिद्धार्थ की आध्यात्मिक जागृति को झुठलाने का कितना प्रयास किया ? कोई माता-पिता यह नहीं चाहता कि उसका पुत्र संन्यस्त हो जाय, संसार से मुँह मोड़ ले ।

परन्तु शिलासञ्चय को भेदकर फूटने वाले गिरि-निर्झर की तरह पूर्व-जन्मार्जित आध्यात्मिक संस्कार यथावसर फूट ही पड़ते हैं । यह अध्यात्मस्फोट कभी उद्वेग से, तो कभी सहज संस्कार से, तो कभी सद्‌गुरु के दर्शन मात्र से हो उठता है । ध्रुव एवं सिद्धार्थ का वैराग्य उद्वेगजन्य ही था । माता सुरुचि के व्यङ्ग्य ने कुमार ध्रुव को और शवयात्रा ने सिद्धार्थ को अशान्त बना दिया था; परन्तु आदि शंकर का वैराग्य किसी घटना से नहीं, सहज-संस्कार से ही जनमा था । सद्‌गुरु-दर्शन से जागृत वैराग्य-चेतना के भी असंख्य उदाहरण हैं । गौराङ्ग महाप्रभु के दर्शन से रूप-सनातन[३], स्वामी देवचन्द्र के दर्शन से महामति प्राण-नाथ एवं स्वामी रामकृष्ण परमहंस के दर्शन से विवेकानन्द[४] की आध्यात्मिक चेतना जागृत हुई ।

गुरु शब्द 'गृ गायने' धातु से उत् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है । अपनी (आध्यात्मिक) गरिमा-महिमा के कारण जो गाया जाय, प्रशंसित हो, महान् हो–वही गुरु है । कोषों में इस शब्द का अनेक प्रकार से व्याख्यान किया गया है, जो रोचक भी है, ज्ञानप्रद भी ।

---

१. अग्निमीडे पुरोहितम्–ऋग्वेद ।

२. वहति विधिहुतं या हविः । (अभिज्ञानशाकुन्तल की नान्दी में कालिदास)

३. दीक्षा से पूर्व रूप एवं सनातन बंगाल के नवाब हुसेनशाह के दरबार में नौकरी करते थे ।

४. बालक नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) भी प्रारम्भ में स्वामी रामकृष्ण से नास्तिकता के प्रश्न पूछा करता था ।

१. गीर्यते स्तूयते महत्त्वात् । गृधातु+उत् प्रत्यय । अर्थात् महान् । ऋग्वेद में अग्नि का संस्तवन करते हुए कहा गया है–'इदं मे अग्ने ! क्रियते पावकामिनते गुरुं भारं न मन्म' । (४.५.६)

२. गुरु शब्द वेदों एवं पुराणों में देवगुरु बृहस्पति के अर्थ में भी रूढ़ है । बृहस्पति इन्द्रादि देवताओं के उपदेष्टा हैं । हलायुधकोष की विवृति में कहा गया है–'गृणाति उपदिशति वेदादिशास्त्राणि इन्द्रादिदेवेभ्य इति । यद्वा गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वमनुष्यादिभिः । बृहस्पतिः' ।

कालान्तर में गुरु शब्द का अर्थविस्तार हुआ दीखता है । सामाजिक संस्कारों को निष्पन्न कराने वाले विप्र एवं श्रद्धेय जनों (माता-पिता, श्वसुर, मातुल आदि) को भी 'गुरु' सम्बोधित किया जाने लगा । मनुस्मृति में गर्भाधान एवं सीमन्तोन्नयनादि संस्कारों के निष्पादक आचारवान् विप्र को गुरु कहा गया है ।

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ।। (मनु. २.१४२)

भारत में गुरुपरम्परा का विशेष महत्त्व वेदों के अध्ययन-अध्यापन के सन्दर्भ में रहा है । चिरकाल तक वैदिक-संहिता क्रमपाठ, घनपाठ एवं जटा-पाठादि की मौखिक परम्परा से ही सुरक्षित रही । यह दुष्कर कार्य, भिक्षान्न-मात्र से अपना तथा शिष्यों का पेट पालने वाले वेदाध्यापक गुरुवों द्वारा सम्पन्न किया गया । स्मृतिकार मनु वेदपरम्परारक्षक इन आचार्यकोटिक गुरुवों के प्रति श्रद्धा-वनत हैं । उनका कहना है कि ऐसे महान् त्रयीपारग गुरु के चरणों में बैठकर शिष्य को ३६, १८ अथवा ९ वर्ष तक वेदाध्ययन करना चाहिए, अथवा उस अवधि तक, जब तक कि वह वेदों में पारंगत न हो जाय—

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया ।। (२.१४९)
षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकव्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ।। (३.१)

इस प्रकार गर्भाधान से लेकर आजीवन प्रवर्तित समस्त संस्कारों के आधान का दायित्व, गुरु के ही हाथों में केन्द्रित रहता है । विद्याविनय-सम्पन्न श्रेष्ठ गुरु के अभाव में मनुष्य संस्कारहीन ही बना रह जाता है, जब कि आध्यात्मिक परिवेष में प्रवेश करने के लिए संस्कार अनिवार्य हैं । संस्कारों से कायिक शुचिता सम्भव होती है और कायिक शुचिता ही आत्मिक शुचिता की पृष्ठभूमि भी है—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यञ्च सन्ध्योपासनमेव च ।। (मनु. २.६९)

संस्काराधान का गुरुतर दायित्व ही गुरु को सांसारिक प्राणियों से पृथक् एवं विलक्षण सिद्ध करता है; क्योंकि अपनी तेजस्विता, तपश्शक्ति, अतीन्द्रिय ज्ञान एवं दैवी आत्मशक्ति के कारण गुरु सामान्य विषयासक्त प्राणी नहीं रह जाता । वह अन्तर्यामी बन जाता है, देवस्वरूप बन जाता है । वह मुक्ति-मार्ग को भली प्रकार जान लेता है[१] । कठोपनिषद् में ऐसे ही स्वयंप्रकाश गुरु की शरण में जाने का निर्देश दिया गया है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ।।

कबीरदास भी साधना के मार्ग को 'छुरे की धार' के ही समान संकटापन्न मानते हैं । ईश्वरप्राप्ति का मार्ग अत्यन्त विषम है । इस मार्ग पर वही आरूढ़ हो सकता है, जो 'अकिञ्चन' (ऐश्वर्य, वैभव एवं विषयवासना से परे) हो—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं ।
सीस उतारे, भुइँ धरे, तब पैठे घर माँहि ।।

इस दुर्गम पथ पर चलने की विधि गुरु ही बताता है; क्योंकि वह इस मार्ग पर चल चुका होता है–

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय ।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय ।।

श्रेष्ठ गुरु का संवरण भी महत्त्वपूर्ण कार्य है । कच्ची या अपूर्ण साधना वाला गुरु किसी का कल्याण नहीं कर सकता, छिद्र-बहुला नौका की तरह । ऐसी नाव तो स्वयं भी मँझधार में डूबती है और यात्रियों को भी संकटापन्न बना देती है ।

कालिकापुराण में इसीलिए सावधान किया गया है कि ऐसे गुरु का आश्रय नहीं लेना चाहिए, जो अभिशप्त हो, कितव (धूर्त, पाखण्डी) हो, क्रियाहीन एवं (शिष्य के प्रति) ईर्ष्यालु हो ।

अभिशप्तमपुत्रं च सन्नद्धं कितवं तथा ।
क्रियाहीनमकल्पाङ्गं वामनं गुरुनिन्दकम् ।।
सदा मत्सरसंयुक्तं गुरुं मन्त्रेषु वर्जयेत् ।
गुरुर्मन्त्रस्य मूलं स्यान्मूलशुद्धौ सदा शुभम् ।।

पुराणकार की दृष्टि में गुरु ही मन्त्र का मूल (जड़) है । मूल शुद्ध है, तो कल्याण ही कल्याण होगा । जैसे जड़ के हरे रहने पर ही वृक्ष स्वस्थ रहता है, ठीक उसी प्रकार मन्त्रदाता गुरु के निर्दोष होने पर ही शिष्य की मन्त्रशक्ति अक्षुण्ण रहती है ।

---

१. गिरति अज्ञानमन्तर्यामिरूपेण अविद्यां नाशयतीत्यर्थः । गीर्यते स्तूयते जीवनिकरैरिति वा ।
(हलायुधकोषः)

सांसारिक-स्तर पर संस्कार सम्पन्न कराने वाला, विद्या देने वाला, विविध कर्मानुष्ठानों की व्यवस्था करने वाला तथा अन्ततः मन्त्र-दीक्षा देकर श्रेयोमार्ग पर अधिरूढ़ कराने वाला–वही गुरु साधना के चरम बिन्दु पर पहुँचकर साक्षात् ब्रह्ममय हो जाता है । वह मनुष्यमात्र न होकर 'महाविराट्' रूप धारण कर लेता है । चाहे जो भी नाम उसे दिया जाय–परब्रह्म, अक्षरातीत, परमशिव, निरंकार अथवा महाविष्णु । संज्ञा का परिवर्तन तो वाणी का विकार मात्र है । उससे अक्षरातीत ब्रह्म के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता ।

असाधारण (Impersonal) होते ही गुरु (देश, काल, व्यक्ति की सीमा में आबद्ध जीव-विशेष) ब्रह्ममय (देश, काल, व्यक्ति की सीमा से परे) बन जाता है । ब्रह्म सत् (Eternal) है । वह मृत्यु से परे है । उसमें 'क्षरण' (विनाश) होता ही नहीं । तभी तो वह 'अक्षर' कहा जाता है । उसी ब्रह्ममय गुरु के लिए 'सद्गुरु' शब्द प्रयुक्त होता है । सांसारिक स्तर पर वरण किया गया गुरु तो, मनुष्यधर्मा होने के कारण 'गुरु' ही है; परन्तु अक्षरातीत ब्रह्मस्वरूप गुरु मृत्यु-बन्धन से परे होने के कारण 'सद्गुरु' होता है । महाभारत में भी गुरु की सर्व-देवमयता का उल्लेख है—

सहस्रमूर्द्धा देवेन्द्रः सर्वदेवमयो गुरुः । (महा. १३.१७.१३०)
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुस्साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

तन्त्रों में उपलब्ध एक श्लोक में तो यहाँ तक कहा गया है कि दश विद्याएँ भी जो मनोवाञ्छित फल देने में असमर्थ हैं, वह गुरु की कृपा से, सहज रूप में ही उपलब्ध हो जाता है[१] ।

भारतीय इतिहास का मध्यकाल भक्ति-आन्दोलन का स्वर्णयुग है । शुष्क कर्मकाण्ड, मतमतान्तर एवं ज्ञानमार्ग की नीरस तर्कवीथियों में उलझी जनता जब अनास्था के कगार पर खड़ी थी, हिन्दूधर्म स्मृतियों तथा तन्त्रग्रन्थों द्वारा प्रवर्तित जाति-व्यवस्था एवं हठयोग की विभीषिका से जब सन्त्रस्त हो रहा था, मदान्ध इस्लाम जब तलवार के बल पर अपने प्रचार-प्रसार में लगा था–तभी समूचे भारत में भक्ति-भावना की पुरवाई बहने लगी । भक्त और भगवान् के बीच के सारे शास्त्रीय प्रत्यवाय नष्ट हो गये और प्रेमा भक्ति का सम्बन्ध स्थापित हो गया ।

---

१. मातङ्गी भुवनेश्वरी च बगला धूमावती भैरवी
तारा छिन्नशिरोधरा भगवती श्यामा रमा सुन्दरी ।
दातुं न प्रभवन्ति वाञ्छितफलं यस्य प्रसादं विना
तं वन्दे शिवरूपिणं निजगुरुं सर्वार्थसिद्धिप्रदम् ॥

गुरु नानक, कबीर, रैदास, देवचन्द्र, तुलसी, सूर, मीरा, आण्डाल, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ, ज्ञानेश्वर, गौराङ्ग-महाप्रभु, मलूकदास एवं नरसी–सब एक ही ऐतिहासिक कालखण्ड में अवतरित हुए । इनमें से अधिकांश सन्त श्रेष्ठ कवि भी थे । प्रायः सभी ने जाति-पाँति की दीवार को तोड़ा तथा सच्ची श्रद्धा एवं भक्ति से ही ईश्वरप्राप्ति का मार्ग सुगम बताया—

जाति-पाँति मानै नहिं कोय ।
हरि का भजै सो हरि का होय ।।

भक्तिपरम्परा की आधारशिला गुरु-शिष्य-परम्परा ही थी । भक्ति-आन्दोलन, स्वयंप्रकाश श्रेष्ठ गुरुवों द्वारा चलाया गया, जो कि उनके सुयोग्य शिष्यों के संरक्षण में उत्तरोत्तर विकास एवं समृद्धि प्राप्त करता रहा । इस परम्परा में गुरु का क्या महत्त्व था, इसे गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में समझा जा सकता है—

बन्दउँ गुरु पद पदुम परागा । सुरुचि सुबास सरस अनुरागा ।।
अमिय मूरिमय चूरन चारू । समन सकल भवरुज परिवारू ।।
सुकृत संभुतन बिमल बिभूती । मंजुल मंगल मोद प्रसूती ।।
जन मन मंजु मुकुर मल हरनी । किएँ तिलक गुन गन बस करनी ।।
श्री गुरु पद नख मनि गन जोती । सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ।।
दलन मोह तम सो सुप्रकासू । बड़े भाग उर आवइ जासू ।।
उघरहिं बिमल बिलोचन ही के । मिटहिं दोष दुख भव रजनी के ।।
गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन । नयन अमिय दृग दोष बिभंजन ।।

(रामचरितमानस, बालकाण्ड)

शंकरदिग्विजय महाकाव्य के प्रणेता स्वामी विद्यारण्य ने तो यहाँ तक कह दिया कि गुरुकृपा के अभाव में कोई सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती, देवता भी अनुकूल नहीं हो सकते; क्योंकि देशिक (गुरु) स्वयं विश्वमय होता है–

तुष्टे गुरौ तुष्यति देवतागणो रुष्टे गुरौ रुष्यति देवतागणः ।
सदात्मभावेन सदात्मदेवताः पश्यन्नसौ विश्वमयो हि देशिकः ।।

(शङ्करदिग्विजयम्, १०.१०२)

वस्तुतः गुरु शिष्य के अज्ञानरूपी अन्धकार का अपहारक होता है । 'गु' का अर्थ ही है 'अन्धकार' और 'रु' का अर्थ है 'निरोधक' । इस प्रकार, गुरु शब्द का तात्पर्य ही होता है–मोहान्धकार का विनाश करने वाला, अर्थात् प्रकाशदाता । प्रमाणभूत श्लोक है–

गुशब्दो ह्यन्धकारः स्याद् रुशब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ।।
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

ऐसी विलक्षण गुरुपरम्परा की जैसी प्रतिष्ठा भारत में मिलती है, वैसी सम्पूर्ण विश्व में अन्यत्र नहीं। काश्मीर शैवतन्त्र की तो समूची प्रभविष्णुता ही दीक्षामूलक है। इस सम्प्रदाय में आचार्य अथवा गुरु को साक्षात् शिव ही माना गया है। ऐसे शिवावतार गुरु के दर्शन, सम्भाषण, संस्पर्श अथवा स्मरण मात्र से साधक शिष्य के व्यक्तित्व में **ऐश्वरी व्याप्ति** सम्भव हो जाती है तथा उसे सांसारिक विषय-वासनाएँ छू तक नहीं पाती हैं–

एवमाचरते यस्तु आचारं तु शिवात्मकम्।
शिवेन सहचारित्वादाचार्यस्तेन चोच्यते।।
तस्य दर्शनसम्भाषास्पर्शनात्स्मरणादपि।
भवत्येवैश्वरी व्याप्तिर्न भवेत्तदधोगतिः।।

(स्वच्छन्दतन्त्रम्, ४.४०८,४०९)

ऐसे महान् गुरु की कृपा प्राप्त हो जाने पर **द्विजहन्ता** भी **शिवस्वरूप** बन जाता है। वस्तुतः चराचर जगत् में शिवाभिन्न गुरु के समान कोई और नहीं होता है। स्वच्छन्दतन्त्र में सुस्पष्ट निर्देश दिया गया है कि गुरु के प्रति मानवी बुद्धि नहीं करनी चाहिए, अर्थात् गुरु को सामान्य मनुष्य मानकर उसके आचरणों का मूल्यांकन नहीं करना चाहिए। यह मन्तव्य अत्यन्त गूढ़ है। इसका अभिप्रेतार्थ सम्भवतः यही है कि गुरु का **पारमार्थिक विग्रह** उसके भौतिक विग्रह से सर्वथा पृथक् है। भौतिक विग्रह मात्र से उसका अन्यान्य मनुष्यों के साथ साम्य है; परन्तु साधनाजन्य **ऐश्वरी शक्ति** ही गुरु के गौरव की विधात्री है। उस ऐश्वरी शक्ति के ही कारण वह साक्षात् शिव होता है। साधना के उस शिखर पर आरूढ़ दीक्षागुरु समस्त सांसारिक उपाधियों से मुक्त हो जाता है। वर्ण या जाति के बन्धन भी उसका संस्पर्श तक नहीं कर पाते। गुरु तो बस गुरु होता है, चाहे वह जिस वर्ण का हो।

ततस्तेन समो नास्ति जगत्यस्मिंश्चराचरे।
शिव आचार्यरूपेण लोकानुग्रहकारकः।।
तस्मान्न मानवीं बुद्धिं कारयेद्देशिकं प्रति।
आचार्यस्य च मन्त्रस्य शिवज्ञाने शिवस्य च।।
नानात्वं नैव कुर्वन्ति विद्येशाश्चक्रनायकाः।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वै वीरवन्दिते।।
आचार्यत्वे नियुक्ता ये ते सर्वे तु शिवाः स्मृताः।।

(स्वच्छन्दतन्त्रम्, ४.४११-१३)

शिवस्वरूप ऐसे महान् आचार्य के प्रति जो सन्दिग्ध हैं, अश्रद्धालु हैं, वे वस्तुतः नराधम हैं तथा सदाशिव के तीन वत्सरों की कालावधि तक नरक-यातना भोगते रहते हैं। ऐसे गुरुद्रोहियों से तो शिवार्थी साधक को सम्भाषण तक नहीं करना चाहिए। वस्तुतः मुक्त्यर्थी साधक की समस्त लोक के प्रति 'शिव-दृष्टि' होनी चाहिए—

अन्यथा प्राक्स्वरूपेण ये पश्यन्ति नराधमाः ।
नरके ते प्रपच्यन्ते सादाख्यं वत्सरत्रयम् ।।
न तेन सह सम्भाषा कर्तव्या तु शिवार्थिना ।
कृत्वा सम्भाषणं तेन नरकं सोऽपि गच्छति ।।
तस्माच्छिवसमाः सर्वे द्रष्टव्या मुक्तिमिच्छता ।
भुक्तिमुक्तिफलावाप्तिर्भवत्येव तदाज्ञया ।।

(स्वच्छन्दतन्त्रम्, ४.४१४-४१७)

श्रीस्वच्छन्दतन्त्र में शैवदीक्षा की सूक्ष्मेक्षिकया व्याख्या की गई है । मूल के साथ ही साथ, व्याख्या(उद्योत)कार महामाहेश्वर आचार्य क्षेमराज के विवरण को पढ़कर मन श्रद्धा से ओतप्रोत हो उठता है, साथ ही यह भी अनुभव होने लगता है कि इस गूढ़ ज्ञान से विरहित संसारी जनों का जीवन, सचमुच कृमियों से अधिक कुछ नहीं है । दीक्षा के विना इस मुक्तिसौध में प्रवेश सम्भव नहीं और दीक्षा का माध्यम है शिवस्वरूप गुरु की साधक शिष्य के प्रति सहज अनुग्रहाकांक्षा ।

आखिर दीक्षा का इतना महत्त्व क्यों है ? दीक्षा में अथवा दीक्षा से – होता क्या है ? इस रहस्य को समझ लेना आवश्यक है[1] । दीक्षा का महत्त्व इसलिये है कि इसी प्रक्रिया द्वारा सिद्धगुरु साधक शिष्य को 'शिवत्व' से जोड़ता है । दीक्षा में होता यह है कि शिवस्वरूप गुरु सानुकम्प-भाव से सर्वप्रथम तो शिष्य को **आत्मसमरस** बनाता है तथा अगले चरण में उसे, अपने ही व्यक्तित्व में विद्यमान **शिवत्वबोध** के साथ सम्पृक्त कर देता है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि शिवस्वरूप गुरु के साथ तादात्म्य हुए विना, साधक शिष्य का तादात्म्य शिवतत्त्व के साथ सम्भव नहीं है । साधक शिष्य एवं साध्य शिवसंवित् के मध्य की अपरिहार्य कड़ी है शिवस्वरूप गुरु । अद्भुत है दीक्षा का यह स्वरूप !

व्यापारं मानसं त्यक्त्वा बोधरूपेण योजयेत् ।
तदा शिवत्वमायाति पशुर्मुक्तो भवार्णवात्[2] **।।**

संक्षेप में यही दीक्षा का रहस्य है । दीक्षा में साधक शिष्य, शिवस्वरूप गुरु तथा स्वयं महेश्वर शिव–तीनों एकाकार हो जाते हैं । यही मुक्ति है ।

---

१. दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः ।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ।।
तस्मात्प्रविततताद् बन्धात्परस्थानविरोधकात् ।
दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि ।।

२. इस कारिका की व्याख्या में आचार्य क्षेमराज 'दीक्षा' का निर्गलितार्थ प्रस्तुत करते हैं, जो विलक्षण है–तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः (स्पन्द० ३.१) इति स्पन्ददृशा आदौ शिष्यात्मानं स्वात्मनि समरसीकृत्य समनान्तमतिक्रम्य शुद्धात्मनि स्थितिं बद्ध्वा बोधरूपेणेति अविकल्पसंवित्स्पर्शेनैव उन्मनाशक्त्यनुप्रवेशप्रमुखं शिवे समायोजयेत् ।

शैवतन्त्रागम के चूडान्त ज्ञान के अधिकृत विद्वान् एवं व्याख्याकार **आचार्य परमहंस मिश्र** जी भी अपने सुयोग्य गुरु के साथ समरस बनकर शिवबोध से सम्पृक्त हो उठे हैं । निश्चय ही, आचार्य मिश्र पर साक्षात् महेश्वर का परम अनुग्रह है । उसी अनुग्रह का यह सुखद परिणाम है कि वह स्वयं लोकानुग्रह के निस्यन्द बन गये हैं । काश्मीर शैवसिद्धान्त से जुड़े गूढ़ातिगूढ़ मूलग्रन्थों को उन्होंने अपनी हिन्दी व्याख्या से सर्वजन-बोधगम्य बना दिया है । गुरु तो किसी एक शिष्य को शिवत्व-संवलित करता है दीक्षा द्वारा; परन्तु **आचार्य परमहंस मिश्र** जी ने अपनी हिन्दीव्याख्यारूपी इस **वाङ्मयी दीक्षा** से हजारों पाठकों को 'शिवत्व' से जोड़ दिया है । ऐसे उदारमना, लोकानुग्रह-परायण, प्रतिभापटिष्ठ कवि-कोविद का मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ । इस ग्रन्थ (स्वच्छन्दतन्त्रम्) के प्रथम भाग के **नान्दीवाक्** में भी मैंने डॉ० मिश्र के सारस्वत सद्गुणों की चर्चा की है । एक बार पुनः उनके अहर्निश प्रवर्तित ज्ञानयज्ञ एवं ज्ञानामृतवितरण-अध्यवसाय की वन्दना करता हूँ । अपनी यशस्वी कृतियों से उन्होंने **सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय** के प्रकाशन-संस्थान को भी लोकव्यापिनी कीर्ति प्रदान की है ।

प्रकाशन-संस्थान के यशस्वी निदेशक **डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** तो मेरी अनुशंसाओं के सत्पात्र हैं ही । वस्तुतः यदि डॉ० मिश्र, लेखक होने के नाते इस ग्रन्थरत्न के 'निमित्तकारण' हैं, तो डॉ० त्रिपाठी जी प्रकाशक के रूप में 'उपादानकारण' हैं । मैं दोनों ही महानुभावों का समवेत अभिनन्दन करता हूँ तथा प्रकाशनतन्त्र से जुड़े समूचे परिवार को हार्दिक आशीः वितरित करता हूँ ।

वाराणसी
रथयात्रा,
वि० सं० २०६१
(१९ जून, २००४ ई०)

विद्वद्वशंवद
अभिराजराजेन्द्र मिश्र
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

स्वात्मविमर्श

स्वात्म के साक्षात्कार का महाविमर्श भैरव सद्भाव की भावना में दीप्ति के अङ्कुर की तरह अङ्कुरित होता है । वह प्रकाश के कल्पतरु की तरह आत्मा के नन्दनकानन में बढ़ते हुए अपने उद्योत की आभा से पूरे अस्तित्व को उद्भासित कर देता है । स्वयं प्रकाश परमेश्वर पर-प्रकाश से विश्व को प्रकाशमान् कर देता है और महामाहेश्वर के ऐश्वर्य की सुरभि से 'सर्व' को सुरभित कर देता है । स्वच्छन्दतन्त्र में भैरवदेव की सर्वज्ञता, परितृप्ति, अनादिबोधता, स्वतन्त्रता, अविलुप्त शक्तिमत्ता आदि गुणों के महाविमर्श का अमृत कलश अनवरत उच्छलित हो रहा है । यह निष्कल बीजमन्त्र से अभिमन्त्रित है । उसी भैरवामृत की छलकती बूँदों से अभिषिक्त प्रकाश की परा-रश्मियों का महारास इस तन्त्र में प्रदर्शित है ।

स्वच्छन्दतन्त्र के बोधसिन्धु में शाश्वत समरस रहने वाली वृत्तियों की व्योमगङ्गा का समागम ज्ञान के गङ्गासागर को गौरवान्वित करता है । स्वच्छन्द चिदुद्बोध की परावाग्धारा पश्यन्ती और मध्यमा के माध्यम से वैखरी का वरण करती है । विश्वशरीर में सन्निविष्ट मातृका के स्वरवर्णों में महालक्ष्मी का वैलक्षण्य, कवर्ग में कमलोद्भवा का प्रकल्प, चवर्ग में महेशानी का ऐश्वर्य, टवर्ग में कौमारी का मर्म, तवर्ग में वैष्णवी की व्याप्ति, पवर्ग में वाराही का वैराज्य, यवर्ग में ऐन्द्री की इन्द्रजालिकता और शवर्ग में चामुण्डा शक्ति की चामत्कारिकता की चिरन्तनता के अनुदर्शन का स्वच्छन्दतन्त्र साक्षी है । अपने निष्कल और सकल शरीरों के रहस्य को स्वच्छन्द भैरव स्वयं इस तन्त्र के वर्ण-वर्ण में व्यक्त करते हैं ।

'विद्याराज' के बीजमन्त्र में भैरवाष्टकों की छटा का छन्द छिपा होने पर भी प्रत्यक्ष प्रतीत होता है । सिद्धि की आकाङ्क्षा से भैरव की आराधना में समाहित साधक के संवित्समुद्र में शाक्त रश्मियों की रागिनी विश्व को एक नयी ऊर्जा से भर देती है । उस समय उसमें सृष्टि के आसूत्रण का अविभागमय अद्वयबोध उद्भूत होता है । वहीं से सृजन का अङ्कुरण होता है । उसी का साकार विग्रह संसार के रूप में प्रतिफलित होता है । संसारविषयक यह श्लोक भी यही कहता है–

आश्यानं चिद्रसस्यौघं साकारत्वमुपागतम् ।
जगद्रूपतया वन्दे, प्रत्यक्षं भैरवं वपुः ।।

अर्थात् चिद्रस का साकार रूप ही संसार है ।

सृजन और संहार की संतुलित संरचना के चित्र का चितेरा परम प्रसन्न है । उसका साक्षात्कार स्वच्छन्दतन्त्र के शब्द-शब्द के माध्यम से किया जा सकता है । कोई भी स्वाध्यायशील अध्येता इसका अनुभव साधना के आधार पर कर सकता है ।

स्वच्छन्दतन्त्र का यह दूसरा भाग है । इसमें दीक्षा के सन्दर्भों का विशद विवरण दिया गया है । प्रधानतः समयाचार नियमों के पालन करने में प्रवृत्त व्यक्तियों को उनकी प्रवृत्ति के अनुरूप ही 'समय' नामक दीक्षा दी जाती है । समय के आचारों के पालन करने वाले साधक बुभुक्षु कहलाते हैं । भोग-वाद की इच्छा रखने वाले प्रवृत्तिमार्गी इन शिष्यों का कल्याण समय दीक्षा से भी हो जाता है । भोग के राजमार्ग पर चलते इनकी प्रवृत्तियों का भी परिष्कार हो जाता है । यह सरल मार्ग माना जाता है ।

दूसरे प्रकार के मोक्ष की इच्छा रखने वाले शिष्य 'मुमुक्षु' कहलाते हैं । मुक्तिरूपी लक्ष्य की पूर्त्ति इस मार्ग से करने वाले लोग पुत्र की तरह गुरुरूपी परमेश्वर पिता पर विश्वास करते हैं । इसलिये इन्हें 'पुत्रक' कहते हैं । इनमें भी दो भेद हो जाते हैं–१–'गुरुप्रत्ययी' वे शिष्य होते हैं, जो गुरु के वचनों को ही वेदवाक्य मानते हैं । गुरु के आदेश के प्रति ऐसे लोग पूर्ण समर्पित होते हैं । कुछ शिष्य स्वात्म चेतना की चैतसिकता के चिन्तन की प्रधानता के साथ गुरु-देव के वचनों में ज्ञान की चिन्तामणि को अञ्चित करते हैं । ये 'स्वप्रत्ययी' शिष्य आत्मविश्वास की आधारशिला पर अनुभूतियों के आनन्दमन्दिर का निर्माण करते हैं । ऐसे पुत्रक शिष्यों में भी शिवधर्मी और लोकधर्मी शिष्य होते हैं । इन्हीं में ऐसे शिष्य जो शास्त्रीय मर्यादाओं और उनकी आनुशासनिक परम्पराओं के पालन में प्रवृत्त रहना चाहते हैं तथा गुरु के गौरवशाली अधिकारों को प्राप्त कर अपनी साधना के साथ सामाजिकता को भी अक्षुण्ण रूप से सुरक्षित रखना चाहते हैं, वे 'आचार्य' कहलाते हैं । पुत्रक ही आचार्य भी होते हैं । इन सभी के लिये पूर्णाभिषेक की प्रक्रिया अपनायी जाती है ।

मुमुक्षु पुत्रक साधक एक तरह से स्वात्मनिष्ठ रहता है और केवल मोक्ष की आकाङ्क्षा में लीन रहता है । इसे विरक्त श्रेणी में रखा जा सकता है । समाज से इसका कोई मतलब नहीं रह जाता है । वहीं आचार्य उत्सवप्रिय होता है । ज्ञानवान् होते हुए भी समाज से जुड़ा रहता है । लोककल्याण का निमित्त भी होता है । वहीं समयी चर्याप्रधान शिष्य माना जाता है । चर्या में ध्यान की अव-धारणा का भी प्रमुख स्थान होता है । इन दोनों के माध्यम से स्वात्म को विशुद्ध रखते हुए लोकहित में निरन्तर लीन रहता है । देहाधिष्ठान में अधिष्ठित रहकर यह जीवन के कारण तत्त्वों को भी अपने अधिकार में रखने की साधना करता है । इस प्रक्रिया को अपनाकर यह सदाशिव भाव के स्तर पर्यन्त की उपासना–योग्यता से परिपूर्ण रहता है । इससे ऊपर की सूक्ष्मता में अनुप्रवेश की इसे कोई आवश्यकता नहीं होती । परामुक्ति इसका उद्देश्य नहीं होती ।

मन्त्रों की आराधना और जपादि क्रमप्रक्रिया से उसे मुक्ति होगी, इस बात का विचार उसे नहीं होता । वह अपने शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट 'समय' की सपर्या को ही प्रधान मानकर ऐसा आचारवान् बन जाता है, जिससे पुत्रक और आचार्य आदि की स्तरीय साधनाओं की योग्यता उसमें आ जाती है । वह जब चाहे, गुरु उसे परामुक्ति प्रक्रिया में समायोजित कर सकता है । इसके लिये गुरु को उसके अशुद्ध अध्वा के अंशों का अपाकरण करना पड़ता है । तभी शिष्य के उद्धार के उद्देश्य से दीक्षा दी जा सकती है ।

दीक्षा का उद्देश्य ही पशुवासनात्मिका अशुद्धि का अपाकरण है । शास्त्र कहता है–

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः ।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्त्तिता ।।

अर्थात् गुरु द्वारा ज्ञानसद्भाव (दान) शिष्य को प्राप्त कराया जाता है । परिणामतः पाशों के द्वारा आवरण रूप से प्राप्त पशुवासनाओं का नाश हो जाता है । दीक्षा के उद्देश्य में दान और क्षपण दोनों निहित हैं । दोनों भावों से दीक्षा समन्वित होती है । इसी दृष्टि से इसे दीक्षा कहते हैं ।

पाशों (पाँच कंचुक और माया) के द्वारा जीव अनन्त आवरणों से आवृत होता है । ये आवरण प्रवितत माने जाते हैं । ये पराविद्या के, परमज्ञान के विरोधी होते हैं । इन बन्धनों से मुक्त कराने में केवल दीक्षा ही समर्थ होती है । शास्त्र कहता है–

तस्मात्प्रविततादु बन्धात्परस्थानविरोधकात् ।
दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि ।।

पाशों का सर्वग्रासी स्वरूप नितान्त प्रवितत होता है । यह उत्तम ऊर्ध्व गतिशीलता का विरोधी होता है । उससे छुटकारा दिलाने का काम दीक्षा करती है और शैवधाम पर ले जाने में भी यह समर्थ है ।

दीक्षा देने से पहले गुरु शिष्य की प्रवृत्तियों की परीक्षा करता है । शिष्यों से यह प्रश्न भी करता है कि, वत्स ! तुम्हारी इच्छा क्या है ? किस उद्देश्य की सिद्धि के लिये दीक्षा की चाह लेकर तुम हमारे यहाँ आये हो । तुम जिस प्रकार के फल की आकांक्षा रखते हो, मैं उसी प्रकार की दीक्षा देकर तुम्हारे उत्तरोत्तर उत्कर्ष की साधिका उसी दीक्षा से तुम्हें उपकृत करूँगा ।

इससे शिष्य की वासनाओं का पता लग जाता है । उसे यह भी पता लग जाता है कि, शिष्य स्वप्रत्ययी है या गुरुप्रत्ययी । दोनों प्रकार के शिष्यों की आस्था के अनुसार उन्हें आगे बढ़ाने में गुरु को आसानी हो जाती है । तदनुरूप आराधना और उपासना में गुरु उन्हें प्रवृत्त कर देता है । ऐसा ही मन्त्र देता है, जिससे शिष्यों के श्रेय और प्रेय समान रूप से सिद्ध हो सकें ।

वासनाओं के अनुरूप ही शिवधर्मी और लोकधर्मी शिष्यों के स्वभाव का भी पता चलता है । १-शिवधर्मी शिष्य शिवमन्त्र के समाराधन में तत्पर रहता है । २-मन्त्राराधन से उसके अध्वा विशुद्ध हो जाते हैं । ३-साध्यमन्त्र में स्वात्म को समायोजित कर वह शैवतादात्म्य की उपलब्धि कर लेता है । ४-ज्ञानवान् होता है । ५-अन्त में अभिषेक का अधिकार प्राप्त कर लेता है । ६-सारी सिद्धियाँ उसकी ओर स्वत: आकृष्ट होकर उसका वरण करना चाहती हैं । ७-असंकीर्ण आचार का पक्षपाती होता है । यह गृहस्थ भी हो सकता है और यति भी हो सकता है ।

वहीं लोकधर्मी शिष्य १-इष्टापूर्त्त विधि-विधानज्ञ और उनके सम्पादन समायोजन में रत रहता है । २-फल की आकांक्षा से कर्म में प्रवृत्त होता है । ३-अशुभ का त्याग कर शुभ कर्मों के करने में लगा रहता है । ४-श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित मार्ग का ही विशेषत: अनुगमन करता है । ५-इसे मन्त्राराधन की कोई आकांक्षा नहीं होती । ६-इसको अशुभशमन की ही दीक्षा दी जाती है । ७-देहारम्भी कर्मों के अशुभांश का वह शोधन करता है । आरब्ध कर्मों के शोधन वर्जित होते हैं ।

इस प्रक्रिया में प्राग्जाति का कोई महत्त्व नहीं होता । इसलिये दीक्षा से पहले जात्युद्धार क्रिया आवश्यक होती है । वर्ण विभाग में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों की प्रधानता होती है । इसके अतिरिक्त भी अन्त्यज और अस्पृश्य कई जातियों की प्रथायें यहाँ अस्तित्व में हैं । इस पन्थ में इनका कोई मूल्य नहीं है । गुरु सर्वप्रथम जातिपाश को ध्वस्त करता है । जाति आठ प्रकार के पाशों में मुख्य है-

घृणा, शङ्का, भयं, लज्जा, जुगुप्सा चेति पंचमी ।
कुलं, शीलं तथा जातिश्चाष्टौ पाशाः प्रकीर्त्तिताः ।।

इस उक्ति के अनुसार जाति का भाव एक झूठे अहं को जन्म देने वाला पाश है । अतः गुरु शिष्य के उद्धार की दृष्टि से जात्युद्धार की प्रक्रिया अपनाता है । जात्युद्धार के बाद ही द्विजत्वापादन होता है । यहाँ द्विजत्व का अर्थ ब्राह्मण जातित्व नहीं वरन् एक नये जन्म से है, जिसमें रुद्रांश के आपादन की प्रक्रिया से शिष्य में शैवमहाभाव की भव्यता भरी जा सके । इसके बाद भैरवीया दीक्षा दी जाती है । इसीलिये इस तन्त्र की मान्यताओं के अनुसार एकमात्र 'भैरवीया' जाति ही होती है । इसमें सभी वर्ण दीक्षा ग्रहण करने के अधिकारी होते हैं । इस दीक्षा-परम्परा में दीक्षित शूद्र भी आचार्य हो सकता है । पूर्णाभिषेक का वह भी अधिकारी होता है । वर्णाश्रम धर्म से इसका यह आन्तर विरोध है । इसकी एक सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता शिष्य को रुद्रांश के आपादन से समन्वित करना है । यों इसके समयाचार में वर्णाश्रमाचार का विरोध नहीं करने का निर्देश है । शास्त्रों की निन्दा का भी निषेध है । इस आचार का वैचारिक रूप आदर्श पर निर्भर है । इससे बहुत सारी सामाजिक समस्याओं का समाधान सम्भव है । भारतीय समाज में वर्णाश्रम धर्म की जड़ें इतनी गहरी हैं कि, भैरवीया ही एक जाति होती है, ये विचार शास्त्रों के पन्नों में प्रतिष्ठित रह गये । जो कुछ हो भैरवीया एक जाति के प्रकल्पक भारत के भविष्यत् उत्कर्ष के द्रष्टा थे । कुल, शील और जाति के झूठे अभिमान ने भारत को हमेशा अभिशप्त ही किया है । ऋषियों की एक जाति थी और वही वस्तुतः भैरवीया थी । आज का जगत् इसी की दीक्षा के योग्य है ।

इस सिद्धान्त को अपनाने के लिये गुरुजनों ने कभी जोर नहीं दिया । उन्होंने शिष्य की भावना और वासना को ही मुख्यता दी । उसी के अनुसार दीक्षा दी और शास्त्र की मर्यादाओं को यथाशक्ति आगे बढ़ाया । गुरु के कर्त्तव्य की

सीमा भी शास्त्रों में निर्धारित है । उसके अन्दर रहकर ही वह भरसक शिष्य के कल्याण की कामना करता है । दीक्षा में दीक्ष्य के अनुकूल मन्त्रों का चयन गुरु करता है । वह मन्त्रों की अचिन्त्य शक्ति से परिचित होता है । मन्त्रों के प्रयोग में गुरु ही दक्ष होता है । क्रिया, काल और देश के अनुसार शिष्य की शारीरिक संरचना को ध्यान में रखते हुए गुरु ही मन्त्र का चयन करता है । वह यह जानता है कि, अकुल, अकथह, राशि, ऋण धन राशि और नक्षत्र चक्रों की मेलापक दृष्टि से चुने हुए मन्त्र ही महत्त्वपूर्ण हैं, जिनसे शिष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो जाता है और उसके संविद्विमर्श में भैरवतादात्म्योल्लास की ललामता खिल उठती है । गुरु का इस दृष्टि से अप्रतिम महत्त्व है । कहा गया है कि,

यः क्षणेनात्मसामर्थ्यं स्वशिष्याय ददाति हि ।
क्रियाऽऽयासादिरहितं स गुरुर्देवदुर्लभः ।।

गुरु कलाविद्, मन्त्रोद्धार और ऊहन का विशेषज्ञ, शास्त्रवित् संहितार्थ और सर्वशास्त्रार्थविद् होता है । ऐसे त्रिकालदर्शी गुरु ही रुद्रांशापादन में समर्थ होते हैं ।

स्वच्छन्दतन्त्र सर्वप्रथम शिष्य की कलाशुद्धि पर बल देता है । कलायें मुख्यतः पाँच होती हैं–१. निवृत्ति, २. प्रतिष्ठा, ३. विद्या, ४. शान्ता और ५. शान्त्यतीता । इन पाँचों कलाओं से सारे अध्वा व्याप्त हैं । सारे शरीरों में भी कलाओं की व्याप्ति की अनायास अनुभूति होती है । कलाओं की शुद्धि क्रियायोग के ही अन्तर्गत आती है । शास्त्र की भाषा में इसे क्रियाकाल कहते हैं । शिष्य गुरुनिष्ठा से परिपूर्ण होकर तैयार है । गुरु के प्रति उसके मन में भक्ति है । गुरु सन्तुष्ट है । इसी समय जैसे विष का मन्त्रों से हरण किया जाता है, उसी तरह गुरुदेव सिद्ध मन्त्रों से शिष्य के पाशों का ग्रास बनाने में जुट जाते हैं ।

निवृत्ति कला के शुद्ध हो जाने पर दो स्थितियों में शिष्य की आन्तरिकता पड़ जाती है । निवृत्तिकला शुद्ध हो गयी है और आगे की प्रतिष्ठाकला अभी अशुद्ध ही है । इसका अनुसन्धान शिष्य को करना चाहिये ।

यह द्विरूपीय कलानुसन्धान है । शिष्य और गुरु के बीच ही निष्कल मन्त्र की यह प्रक्रिया व्यक्त की जाती है । यहाँ इतना बताना ही पर्याप्त है कि, निष्कल मन्त्र के ह्रस्व और दीर्घ उच्चार में ही पाशशुद्धि का रहस्य निहित है ।

ह्रस्व विश्वप्रसर की प्रशान्त अवस्था और दीर्घ प्रसरोन्मुखता की नादात्मकता से समन्वित समरसता की अवस्था मात्र है । उसी समय प्रतिष्ठाकला की शुद्धि हो जाती है और सामरस्य का विभावन होने लगता है । इसी प्रकार विद्या, शान्ता और शान्त्यतीता कलाओं की शुद्धि प्रक्रिया कलाशुद्धि के रूप में अपनायी जाती है । कलाओं की शुद्धि से षडध्वाशुद्धि भी सम्पन्न हो जाती है । ये मुख्य पाश माने जाते हैं । यों तो परमाद्वैतमय संवित्स्वातन्त्र्य सुन्दर परमशिव के अतिरिक्त जो कुछ भी अस्तित्व में है, वह सब कुछ पाश ही माना जाता है, फिर भी कलाओं और इनके माध्यम से अध्वावर्ग की शुद्धि से मुक्ति हस्तामलकवत् सरलतया उपलब्ध हो जाती है । इस प्रक्रिया के लिये अपेक्षित होम और विशिष्ट संस्कार प्रक्रिया भी पूरी कर ली जाती है ।

षडध्वमण्डल शिव की शिवता में समरस भाव से मयूराण्डरसन्याय के अनुसार ही रहता है । विश्व-प्रसर में अशुद्धि का सम्पर्क स्वाभाविक है । उसी में उक्त पाँचों कलायें, ३६तत्त्व, २२४भुवन, शक्ति, ८१पद, ५०वर्णमातृका और ५० मालिनी प्रसर तथा कुल ग्यारह मन्त्र माने जाते हैं । इनके शुद्ध होने पर सभी कुछ शुद्ध हो जाते हैं । इस सन्दर्भ में निष्कृति और विश्लेष की क्रियायें भी अपनानी पड़ती हैं ।

साधना के इन सन्दर्भों में स्वात्म का समर्पण आवश्यक माना जाता है । इस स्थूल शरीर के शोधन के साथ आन्तर शोधन की एक और प्रक्रिया महत्त्व-पूर्ण मानी जाती है । पञ्चतन्मात्राओं के साथ मन, बुद्धि, अहङ्कार इन आठों को पुर्यष्टक कहते हैं । इनका अर्पण ही पुर्यष्टकांशार्पण कहलाता है । शब्द और स्पर्श का अर्पण ब्रह्मा में, रस का अर्पण विष्णु में, रूप और गन्ध का अर्पण अना-श्रित रुद्र में, बुद्धि और अहङ्कार का अर्पण ईश्वर में और मन का अर्पण सदा-शिव में करने का विधान है । इस प्रकार पुर्यष्टकांश के अर्पण से साधक ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति व्यापिनी, समना होते हुए उन्मना में समाहित हो जाता है । इस प्रक्रिया में हवन और अनेक अङ्गभूत कर्मकाण्ड पूरा करना चाहिये ।

क्रिया शक्ति के क्रियायोगान्तर्गत उक्त कलाध्वशुद्धि के बाद ज्ञानशक्ति के विशेष गुरु शिष्य को परभैरव भाव में योजित करता है । शिष्य भी इन विषयों का विज्ञ हो चुका होता है । विशेषज्ञ गुरु शिष्य के अस्तित्व को पुलकित करने वाले तत्त्व को शिव में नियोजित करता है । वे तत्त्व निम्नलिखित हैं । इनमें प्रायः आठ यत्नज हैं और शेष ५ अयत्नज और यत्नज दोनों के मेल रूप होते हैं । जो इस प्रकार हैं–

१– चार-प्राणापानवाह की श्वास-प्रक्रिया। जीवनदायिनी चार-प्रक्रिया सूर्य-सोमात्मक मानी जाती है। इसका समायोजन मुख्य कार्य है। इसलिये इसका प्राथमिक महत्त्व है।

२– प्राण में सारा अध्व विभाग अवस्थित रहता है। अध्वमण्डल का शोधन कर के इसका भी समायोजन शिव में आवश्यक रूप से किया जाता है।

३– हंसोच्चार ऊर्ध्वनदनरूप होता है। यह यत्नज और अयत्नज दो प्रकार का होता है। यत्नज में निष्कलमन्त्र के वर्णों का उच्चार साधना से सरल हो जाता है और अयत्नज स्वाभाविक होता है। ये दोनों शिव में समायोजित कर दिये जाते हैं। शिव, सूर्य, आत्मा और प्राण ये चारों 'हंस' माने जाते हैं। यों पाँचवें शब्द को भी 'हंस' कहते हैं।

४-- कारण ब्रह्मादि सदाशिवान्त देव हैं। ऊर्ध्व गतिशील होने पर एक-एक का त्याग कर ऊपर और ऊपर की ओर अग्रसर होते हैं। क्रमशः इन सभी कारणरूप देवों का त्याग होता जाता है और अन्त में शिव समायोजन भी हो जाता है।

५– शून्य-'षट्त्यागात् सप्तमे लयः' साधना का सूत्र है। उन्मना परम-शून्य धाम है। इसका भी समायोजन करना आवश्यक है। अशून्य भाव भी शून्य होता है, जिसे अभाव कहते हैं।

६–समरस समायोजन–आत्म, प्राण, नाडी, शक्ति, व्यापिनी, समना और तत्त्व इन सात समरस भावों के बाद प्रशान्त सामरस्य भाव आता है। इन सभी सामरस्यों का समायोजन परभाव में करना आवश्यक है। यह साम-रस्य निर्व्युत्थान–समाधिरूप और महारहस्यमय होता है।

७–कालत्याग–अठारह प्रकार के काल-धर्म से यह शरीर और विश्व दोनों जुड़े हुए हैं। इन दोनों का त्याग काल विषुवत् रूप कालाभाव रूप में करते हैं।

८–संयोग–मन का संयोग समरस ज्ञेय मात्र से होता है। संसृति से जुड़ा मन शिव भावना की ओषधि से पारद की तरह रसराज हो जाता है और इसका संयोग समायोजन परम शिव से हो जाता है। उस समय सर्वत्र इसी तरह उद्भव, भेदन, आत्म और विद्या का समायोजन शिव में करने से प्रमेय मात्र का समायोजन परम प्रमाता में हो जाता है और साधना सफल हो जाती है।

समरस भाव की तरह विषुवद्भाव का भी इस ग्रन्थ में महत्त्वपूर्ण वर्ण्य के रूप में ग्रहण किया गया है । विषुवत् का अर्थ होता है–

'विषुं साम्यरूपां व्याप्तिमर्हतीति विषुवत्' ।

अर्थात् जैसे भूमध्य रेखा पर भूमण्डल में सूर्य, चन्द्र एवं काल की एक रेखा में व्याप्ति होती है, उसी प्रकार की व्याप्ति में आत्मा, मन और प्राण को एक मध्यवाह में समायोजित करने से प्राणविषुवत् सम्पन्न होता है । इसी क्रम में क्रमशः मन्त्रों, नाड़ियों, समस्त तत्त्वों को समायोजित करने से इन्हीं नामों के अन्वर्थ विषुवत् होते हैं । मन्त्र अर्थात् निष्कल भैरव बीज नादान्त से ऊपर शक्ति, व्यापिनी और समना केन्द्रों तक अपर–मान्त्र विषुवत् और जब उन्मना से होते हुए पर भैरव भाव से भावित कर देते हैं, तो पर–मान्त्र विषुवत् होता है ।

इसी तरह सुषुम्ना के माध्यम से नाभि से शिव पर्यन्त पहुँचते हैं, तो समस्त नाडियों में नयी ऊर्जा भर जाती है । सारी नाडियों का एक स्पन्द में समायोजन करना योगी के ही वश की बात है । इसके अतिरिक्त जब छः अङ्गुलों की अयन गणना का क्रम अपनाया जाता है, उस समय एक-एक अंगुल में छः कारण देवों को अतिक्रान्त कर सप्तम भाव में प्रवेश हो जाता है । उस समय प्राण, मन, आत्मा मन्त्र और नाडियाँ सभी एक में समायोजित हो जाती हैं और योगी परम शान्ति का अनुभव करता है । इसीलिये इसे विषुवत् भाव कहते हैं । इसे प्रशान्त विषुवत् की संज्ञा प्रदान की जाती है ।

इसमें काल स्वाभाविक रूप से बीतता रहता है । शक्ति, व्यापिनी समनान्त काल की समान व्याप्ति में काल विषुवत्, तत्त्व समायोजन में तात्त्व विषुवत् की प्रक्रिया पूरी होती है । शास्त्र यह उद्‌घोष करता है कि, ऐसा साधक अवश्य ही मुक्ति को उपलब्ध होता है ।

इस शास्त्र में इन उक्त साधना-क्रमों का विशद वर्णन किया गया है । मानव शरीर आन्तरिक संरचना की दृष्टि से आश्चर्यों का आसदन माना जाता है । तन्त्रयोग का विशेषज्ञ आन्तर उत्कर्ष के बल पर ही परमतत्त्व का साक्षात्कार करता है । मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत विशुद्ध आदि चक्र शरीर के भीतर प्रकृति द्वारा रचित ऐसे स्थान हैं, जिनके माध्यम से ही योगी ऊपर जाने की योग यात्रा का सम्पादन करता है । एक-एक कर इनका आश्रय लेने के कारण इन्हें स्थान कहते हैं । इन स्थानों में उनके कारण देव रहते हैं । जैसे मूलाधार में ब्रह्मा आदि । हृदय को अनाहत चक्र कहते हैं, इस स्थान के कारण-

देव ईश्वर माने जाते हैं । इस स्थान की शक्ति को काकिनी कहते हैं । एक स्थान से ऊपर अग्रसर होने पर उन स्थानों को और उन पर रहने वाले कारणरूप देवों का त्याग करना पड़ता है । इस तरह शरीर के विशुद्ध चक्र पर्यन्त स्थानों और देवों का परित्याग कर शरीरस्थ भुवर्लोक की अन्तिम सीमा के आज्ञा-चक्र पर पहुँचते हैं । यहाँ से शरीर के तीसरे स्वर्लोकीय भाग का प्रारम्भ होता है ।

आज्ञा-चक्र का बीजवर्ण ॐ माना जाता है । ओङ्कार के पाँच वर्णविभाग किये जाते हैं । इनका आश्रय लेकर स्वर्लोक विभाग की अत्यन्त सूक्ष्म यात्रा का आरम्भ होता है । ओङ्कार विभागों में अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद ये पाँच स्थान हैं । इन्हें पद कहते हैं । इनके भी कारण देव हैं । एक-एक कारणों की अभ्यर्थना ऊपर जाने के लिये करते हैं । अभ्यर्थित होने के कारण ही ये सभी 'पदे अर्थ्यन्ते' इस विग्रह के कारण पदार्थ कहलाते हैं । ये अकार से नाद तक की पञ्चप्राणता को पार कर समना तक जाते हैं और 'ग्यारह' माने जाते हैं । इन्हें इस प्रकार जानते हैं । अ, उ, म, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना । इन सभी पदों पर अर्थना होती है । अतः ये पदार्थ माने जाते हैं ।

इन पदार्थों में प्रवेश करना, उनका अनुभव करना, उनके अनुभव की दशा में उन पर अधिकार करना और अधिकार के बाद ऊपर के पदार्थ की ओर अग्रसर होने की इस क्रिया को 'पदार्थभेदन' कहते हैं । पदार्थभेदन की इसी प्रक्रिया से साधक समना तक की यात्रा करता है । अधर अधर का अनुभव, वशीकरण और उत्तरोत्तर पदार्थों का अनुभव ही सम्यक् योग माना जाता है ।

इस तरह पदार्थैकादशी का भेदन कर उन्मना चक्र में पहुँचते हैं । इससे ऊपर परमभावानुभूति से भावना भर जाती है । पदार्थभेदन की क्रिया ज्ञानशूल से होती है । परशक्ति का परस्फार प्रकाश ज्ञान का ही प्रकाश होता है । इसमें इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों की रश्मियों की समरसता किरणों की तीक्ष्णता को आत्यन्तिक तीखापन प्रदान कर देती है । इस तीक्ष्णता से तीखे ज्ञान को ही शास्त्र ज्ञानशूल कहता है । इसी ज्ञानशूल से पदार्थों का भेदन हो जाता है और पारमेश्वर साक्षात्कार हो जाता है । ऐसे योगी का जीवन धन्य हो जाता है ।

ज्ञान समस्त ज्ञेय तत्त्व का ज्ञापक होता है । ज्ञापक वही होता है, जो आत्यन्तिक ज्ञान होता है । वहीं परम पारमेश्वरी प्रथा प्रथित होती है । जैसे दीपक से द्रव्यों का प्रकाशन होता है, उसी तरह इस ज्ञानशूल से भेदित होने पर

परमज्ञेय रूप परमेश्वर का बोध हो जाता है । दीपक के प्रकाश से प्रकाश्य ज्ञेय भिन्न होता है; किन्तु इस शास्त्रीय परम्परा में ज्ञान और ज्ञेय अभिन्न ही माने जाते हैं । इसीलिये भगवान् भैरव ज्ञान को ज्ञेयतत्त्व का लक्षण मानते हैं ।

'ज्ञानं वै लक्षणं प्रोक्तं ज्ञेयतत्त्वस्य'।

और लक्षण ही गुण माना जाता है । इसी आधार पर विज्ञानभैरव कहता है कि,

यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य वा ।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः श्रितः ।।

यह सुनिश्चित सत्य है कि, गुण के विना कोई तत्त्व नहीं हो सकता और तत्त्व के विना गुण का अस्तित्व भी असम्भव है । यह सारा ज्ञान मात्र आगम से ही प्राप्त किया जा सकता है ।

'आगमो ज्ञानमित्युक्तम्' इस उक्ति के अनुसार आगमिक शास्त्रज्ञान अनन्त हैं । इसी ज्ञान से परमेश्वर के परस्फार का साक्षात्कार होता है । शास्त्र भी परमेश्वर के परस्फार सार स्वरूप ही होते हैं । 'आ' का अर्थ समन्तात् होता है । गम अर्थात् गमयति । अभेद-विमर्श करने वाला । पूरी तरह परमेश्वर का अभेदविमर्शक शास्त्र ही होता है । संस्कृत में इसे यों कहते हैं–**'आ समन्ताद् गमयति अभेदेन विमृशति पारमेशं स्वरूपमित्यागमः'** ।

शब्दसन्दर्भरूप शास्त्र उस पारमेश्वर स्वरूप साक्षात्कार के 'उपाय' हैं । इसीलिये कहते हैं कि,

शास्त्रं शब्दात्मकं सर्वं शब्दो 'हंसः' प्रकीर्त्तितः ।

इस प्रक्रिया के सम्यग्बोध को 'हंसयोग' कहते हैं । सारे शास्त्र शब्दात्मक होते हैं । इनमें केवल ५० वर्णों का ही समायोजन है । शब्द इसी हंसोच्चार के प्रतीक हैं । 'हंसयोग' का योगी शब्दों के माध्यम से आराध्य को अधिगत कर लेता है । इस दृष्टि से स्वच्छन्दतन्त्ररूप शास्त्र 'हंसयोग'प्रतिपादक शास्त्र ही सिद्ध होता है ।

यह शास्त्र यह उपदेश देता है कि, परमात्मा १–सर्वज्ञ, २–अनादि-बोध, ३–सर्वथा तृप्त, ४–स्वतन्त्र, ५–अनन्तशक्तिक और ६–अलुप्तशक्ति-विग्रह होता है । इन छः गुणों से गुणवन्त परमतत्त्व में युक्त योगी यह जानता है कि, अद्वय भैरव शिव अविभाग अद्वैत भाव से सर्वत्र व्याप्त एकमात्र आराध्य देव हैं । इस तरह उस अविभागरूप से भासित परमेश्वर में आत्मा, विद्या और शिव ये परतत्त्व माने जाते हैं । अध्वामण्डलरूप स्थूल तत्त्व भी उसी परतत्त्व

में घुले-मिले अध्वमध्यग अपरतत्त्व होते हैं । इस अपरतत्त्व को संसाररूप में स्थूल देखकर और मयूराण्डरसन्याय के अनुसार तन्मय मानकर उसी में योजित करते हैं । इस तरह शिष्य भी इस त्रितत्त्वदीक्षा (आत्म-विद्या और शिव) में समाहित हो जाता है । इस समायोजन के कारण शिष्य का शरीर भी त्रितत्त्व-मय हो जाता है । इसीलिये तन्त्रसन्ध्या में आचमन करते समय त्रितत्त्वशोधक आचमन करते हैं, वैष्णव आचमन नहीं । जैसे–'ऐं आत्मतत्त्वं शोधयामि, ह्रीं विद्यातत्त्वं शोधयामि और क्लीं शिवतत्त्वं शोधयामि नमः स्वाहा' ।

यह शिवात्मक आचार है । इसका जो आचरण करता है और स्वात्म को सदैव शिव में समायोजित करता है एवं इसी शैव महाभाव की भव्यता में साँस लेता है, वह शिव का सहचारी बन जाता है । शिव के साहचर्य के आधार पर ही उसे आचार्य कहते हैं । यह शास्त्र अध्येता से यही अपेक्षा करता है कि, सभी आचार्य बनें ।

स्वच्छन्द तन्त्र में उस पर–विमर्शमय महाविमर्शभित्ति के रहस्य का उद्घाटन किया गया है, जो अन्य तन्त्रों में दुर्लभ है । स्वच्छन्द भैरव की शक्ति को अघोरेश्वरी कहते हैं । यह भैरवोत्सङ्गगामिनी मानी जाती है । इसकी उपासना निष्कल और सकल भैरव के मन्त्रों द्वारा सम्पन्न होती है । यह तन्त्र दक्षिणाचार का प्रधान सिद्धान्त ग्रन्थ है । भैरव के पञ्चवक्त्र क्रम में अघोर दक्षिणवक्त्र के रूप में ही शास्त्र में प्रथित हैं । इनके घोर शर्व और रुद्र सम्बोधनों के द्वारा वैदिक अघोरमन्त्र को आगम अपना मुख्य मन्त्र मानता है । अघोर की रहस्यमयी उपासना वैदिक परम्परा पर ही आधृत है ।

स्वच्छन्दतन्त्र क्रियायोग का अप्रतिम रूप से प्रतिपादन करता है । भैरव स्वातन्त्र्यवाद का यह समर्थक है । देवी और भैरव के संवादों के द्वारा दक्षिणा-चार के वैलक्षण्य को समझने और समझाने का यह महत्त्वपूर्ण माध्यम है । यह शास्त्र मर्त्य प्राणियों पर अनुग्रह के अमृत प्रतीक रूप में आगमिक परम्परा में मान्य है । भैरवभाव से भावित होने के लिये यह श्लोक ही पर्याप्त है–

स्वात्मन्येव चिदाकाशे विश्वमस्म्यवभासयन् ।
स्रष्टा विश्वात्मक इति प्रथया भैरवात्मता ।।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के उदारचेता कुलपति **प्रो० 'अभिराज' राजेन्द्र मिश्र** जी ने अपने 'नान्दीवाक्' से इस ग्रन्थ को गौरवान्वित किया है । तन्त्रशास्त्र के अध्येतावर्ग को इससे नयी दिशा मिलेगी एवं नया प्रोत्साहन प्राप्त होगा । आपने इसके प्रकाशन का आदेश दिया है । एतदर्थ मैं अपनी हार्दिकता के अमृत से आपको अभिषिक्त कर रहा हूँ ।

प्रकाशन-निदेशक **डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी** ने विश्वविद्यालय के प्रकाशन को नयी दिशा दी है और नये आयामों के माध्यम से संस्कृत जगत् की अनन्य सेवा की है । वे मेरी अनन्यता के अधिकारी हैं । उनको मेरे अनन्त आशीर्वाद ।

अन्त में आपने श्रद्धास्पद विश्वास को गुरु-चरणों में अर्पित कर रहा हूँ–

काश्मीरिकेण शुभलक्ष्मणनामकेन
साक्षात्परेश्वरसमेन गुरूत्तमेन ।
कात्स्न्यात् कृतेन तरसा सदनुग्रहेण
हंसश्चकार चितिचित्रितभाष्यमेतत् ।।

।। इति शम् ।।

महाशिवरात्रिपर्व
२०५९ वैक्रमाब्द
१/३/०३

परमहंस मिश्र
ए ३६, बादशाहबाग
वाराणसी

विषयानुक्रम

चतुर्थ पटल

●

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेतम्

द्वितीयो भागः

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

[श्रीमहामाहेश्वराचार्यक्षेमराजविरचितोद्योताख्यविवरणोपेतम्]

[द्वितीयो भागः]

अथ चतुर्थः पटलः

दीक्षाज्ञानक्रियाप्लुष्टदुष्टपाशवनावलिः ।
महाज्योतिर्जयत्येको ह्लादी भैरवहव्यभुक् ।।

अधिवासानन्तरभाविनीं दीक्षां प्रस्तावयितुं श्रीभैरव उवाच–

प्रत्यूषे विमले कृत्वा शौचाद्यान्पूर्ववत्क्रमात् ।
सकलीकरणं कृत्वा पूर्ववत्प्रविशेद्गृहम् ।।१।।

पटलसंगत्या प्रकृत आचार्यः, शौचाद्यानित्यादिशब्दात् स्नानादि, पूर्ववत्प्रविशेदिति द्वारदेवतार्चां कृत्वा,

---

श्रीस्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यक्षेमराजकृतोद्द्योताख्यविवरणोपेत

डॉ० परमहंसमिश्रकृतनीरक्षीरविवेकभाषाभाष्यसंवलित

चतुर्थ पटल

[४]

भैरव-दीक्षा-ज्ञान-शुचि-दग्ध पाश-विस्तार ।
महाज्योति बोधाग्नि जय, क्रिया-प्रक्रियाऽऽधार ।।

अधिवास के अनन्तर दी जाने वाली दीक्षा को भगवान् भैरव प्रस्तावित कर रहे हैं–

मलावरण रहित प्रत्यूष अर्थात् प्रभातकालीन पावन पवित्र वेला में पहले की तरह नित्यकर्म से निवृत्त होकर शौचादि स्नानादि कर्म पूरा कर और संध्या वन्दन सम्पन्न कर सर्वप्रथम आचार्य यागगृह में प्रवेश करे। प्रवेश के पहले उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि, वह द्वार-देवताओं की अर्चना भी कर ले। 'पूर्ववत्' शब्द के दुबारा प्रयोग के आधार पर द्वार-देवार्चन का भी अध्याहार हो जाता है ।।१।।

शिष्यश्च शुचिराचान्तःपुष्पहस्तः............।

प्रविशेत् । स च–

..............गुरुं ततः ।

प्रणम्य शिरसा

तत्प्रणामादेव च–

...............हृष्टो गुरोः स्वप्नान्निवेदयेत् ।।२।।

तांश्च–

शुभान् स्वप्नान्प्रवक्ष्यामि अशुभांश्च वरानने ।
स्वप्नेषु[1] मदिरापानमाममांसस्य भक्षणम् ।।३।।
क्रिमिविष्ठानुलेपं च रुधिरेणाभिषेचनम् ।
भक्षणं दधिभक्तस्य श्वेतवस्त्रानुलेपनम् ।।४।।
श्वेतातपत्रं मूर्धस्थं श्वेतस्त्रग्दामभूषणम् ।
सिंहासनं रथं यानं ध्वजं राज्याभिषेचनम् ।।५।।

उनके साथ शिष्य भी शुचिता पूर्वक अर्थात् समग्र प्रातः कृत्य सम्पन्न कर पवित्र भाव से आचमन आदि कर गुरुदेव का प्रणामकर हाथ में फूल लेकर यागवेश्म में प्रवेश करें । भीतर जाकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणिपात पूर्वक प्रसन्न होकर रात्रि में देखे गये अच्छे बुरे सभी प्रकार के स्वप्नों को गुरु से ज्यों का त्यों वर्णन करे ।।२।।

भगवान् कह रहे हैं कि, वीरेश्वरि देवि ! मैं तुम्हारे समक्ष शुभ और अशुभ अच्छे और बुरे सभी प्रकार के स्वप्नों का वर्णन कर रहा हूँ । इससे यह निर्णीत हो सकेगा कि, शिष्य ने जो स्वप्न देखे थे, वे शुभ थे, या अशुभ । अच्छे थे या बुरे, तुम्हारी तरह शिष्य के गुरुदेव भी इनके शुभाशुभ का निर्णय कर सकेंगे' । इनमें क्रमशः प्रथमतः शुभ स्वप्नों का वर्णन कर रहा हूँ–

१–मदिरापान, २–कच्चे मांस का भक्षण, ३-क्रिमिमय (लाक्षा और छोटी छोटी कीड़ियों से भरी) विष्ठा का शरीर पर लेपन, ४–रुधिर से अभिषेक (स्नान) ५–दही और भात के मिश्रण का भोजन, ६–श्वेत वस्त्र से उसका शरीर में उपलेपन, ७–शिर पर श्वेत आतपत्र (राजछत्र धारण या दर्शन) ८–श्वेतहार और माला, आभूषण आदि का धारण, ९–सिंहासन पर बिठा कर राज्याभिषेक के साथ ही रथ, यान और ध्वज आदि के प्रदर्शन, १०–रत्नों के आङ्गिक आभूषण आदि, ११–ताम्बूल १२–फल सङ्ग्रह, १३–लक्ष्मी और सरस्वती के दर्शन, १४–शुभ प्रिय दर्शिनी नारी का आलिङ्गन ।

---

१. क. पु. स्वप्ने त्विति पाठः ।

रत्नाङ्गाभरणादीनि ताम्बूलं फलमेव च ।
दर्शनं श्रीसरस्वत्योः शुभनार्यवगूहनम् ।।६।।

क्रिमिर्लाक्षा, एतत्सर्वं श्रेष्ठम् ।।६।।

किञ्च–

नरेन्द्रैर्ऋषिभिर्देवैः[1] सिद्धविद्याधरैर्गणैः ।
आचार्यैः सह संवादं कृत्वा स्वप्ने प्रसिद्ध्यति ।।७।।

सम्यक् वादः संवादः ।।७।।

तथा च–

नदीसमुद्रतरणमाकाशगमनं तथा ।
भास्करोदयनं चैव प्रज्वलन्तं हुताशनम् ।।८।।
ग्रहनक्षत्रताराणां चन्द्रबिम्बस्य दर्शनम् ।
हर्म्यस्यारोहणं चैव प्रासादशिखरेऽपि वा ।।९।।

इन स्वप्नों में कोई भी स्वप्न बुरा नहीं हैं । सभी अच्छे हैं । इन्हें गुरुदेव प्रमाणित करे ।।३-६।।

भगवान्, अन्य शुभ स्वप्नों के सम्बन्ध में पुनः कह रहे हैं कि, नरेन्द्रों राजाओं, राजपुरुषों और प्रजा में मुख्य प्रतिनिधि जनों से, ऋषियों, देवों, सिद्धों या विद्याधर समुदाय के श्रेष्ठ पुरुषों तथा आचार्यों से स्वप्न में यदि संवाद देखा जाय, तो यह निश्चय हैं कि, इन स्वप्नों के देखने का फल यह है कि, स्वप्नद्रष्टा अपने कार्य में सिद्धि प्राप्त करता है । इसमें सन्देह नहीं ।।७।।

इसी तरह १–नदी और समुद्र में संतरण, २–आकाश गमन, ३–सूर्योदय, ४–आग की लपटों से भरा ज्वाल, ५–ग्रहों, नक्षत्रों और ताराओं के दर्शन, ६–चन्द्रबिम्ब दर्शन ७–ऊँची अट्टालिकाओं पर चढ़ना, ८–राजमहल के शिखर पर आरूढ होना, ९–मनुष्य, अश्व, वृषभ, जहाज, हाथी की सवारी, १०–तरु और शैल की चोटी पर चढ़ना, ११–हवाई यात्रा, १२–सिद्धमन्त्र मान्त्रिक पुरुष के दर्शन, १३–सिद्ध चरु की प्राप्ति, १४–देव आदि दिव्यों के दर्शन, १५–गुटिका, १६–दन्तकाष्ठ, १७–खड्ग, १८–रोचना, १९–उपवीत, २०–अञ्जन, २१–अमृत, २२–पारद, २३–ओषधियाँ, २४–शक्ति, २५–कमण्डलु, २६–कमल, २७–अक्षसूत्र, २८–मनःशिला (मैनसिल), २९–ज्वलनशील, सिद्धद्रव्य ३०–गैरिकान्त द्रव्य,

---

१ ख. पु. ऋषिदेवैश्चेति पाठः ।

नराश्ववृषपोतेभतरुशै[1]लाग्ररोहणम् ।
विमानगमनं चैव सिद्धमन्त्रस्य दर्शनम् ।।१०।।
लाभः सिद्धचरोश्चैव देवादीनां च दर्शनम् ।
गुटिकां[2] दन्तकाष्ठं च खड्गपादुकरोचनाः ।।११।।
उपवीताञ्जनं चैव अमृतं पारदौषधीः ।
शक्तिं कमण्डलुं पद्ममक्षसूत्रं मनःशिलाम् ।।१२।।
प्रज्वलत्सिद्धद्रव्याणि गैरिकान्तानि यानि च ।
दृष्ट्वा सिद्ध्यति स्वप्नान्ते क्षितिलाभं [3]व्रणं तथा ।।१३।।

सिद्धो जपादिक्रमेण मन्त्रो यस्य, व्रणमिति स्वदेहेऽस्त्रजम्, स्वप्नान्ते इति न तु स्वप्नस्याद्यमध्ययोः । यथोक्तमन्यत्र–

'प्राङ्निमित्तं दिवा ग्राह्यं रात्रौ ग्राह्यं तु पश्चिमम् ।' इति ॥१३॥

किञ्च–

क्षतजार्णवसंग्रामतरणं विजयं रणे ।
ज्वलत्पितृवनं रम्यं वीरवीरेशिभिर्वृतम् ।।१४।।

३१–पृथ्वी प्राप्ति और ३२–अपने शरीर में शात्रास्त्र के आघात से उत्पन्न घाव ये सभी पदार्थ यदि स्वप्न समाप्ति के समय (आदि मध्य रहित) दीख पड़ें, तो अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है ।

एक स्थान पर स्वप्नों के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है-

'स्वप्न यदि दिन का हो तो, स्वप्न का प्रथम भाग ही ग्राह्य होता है । इसी तरह रात्रि के स्वप्न में स्वप्न का अन्तिम भाग ही गृहीतव्य होता है ॥८-१३॥

इनके अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे स्वप्न हैं, जो दीख पड़ने पर अवश्य ही सिद्धि प्रदान करते हैं । जैसे–

१–रुधिर का समुद्र, २–संग्राम में खून के समुद्र में संतरण, ३–संग्राम में विजय, ४–जलती चिताओं से प्रकाशमान श्मशान, ५–श्मशान में वीरों और वीरेश्वरियों के दर्शन, ६–वीरवेताल और सिद्धों द्वारा महामांस का विक्रय, ७–महापशु रूप पुरुष का देवताओं द्वारा आवंटन, ८–स्वयं देवपूजन प्रक्रिया, ९–जप, १०–ध्यान, ११–प्रार्थना, १२–हवन (प्रज्वलित कुण्ड में होम), १३–स्वात्म पूजन, १४–हंस, १५–सारस, १६–चक्राह्व (चकवा), १७–मोर, १८–शवारोहण,

---

१. ख. ग. ङ. पु. दोलाग्रति पाठः । २. ख. पु. गुडिकामिति पाठः ।
३. क. पु. भवेद्ध्रुवमिति पाठः ।

वीरवेतालसिद्धैश्चमहामांसस्य विक्रयम् ।
महापशोः संविभागं लब्ध्वा देवेभ्य आदरात् ।।१५।।
आत्मना पूजयन् देवं जपन् ध्यायन् स्तुवन्नपि ।
सुहुतं चानलं दीप्तं पूजितं वा प्रपश्यति ।।१६।।
हंससारसचक्राह्वमयूरशवरोहणम् ।
मातृभिर्भैरवैश्चैव मातृरुद्रगणैः सह ।।१७।।
भैरवं भैरवीं दृष्ट्वा सिद्ध्यत्यत्र न संशयः ।

वीरवेतालसिद्धैश्चेति सहार्थे तृतीया । मातृरुद्रा देवविशेषाः, महापशुः पुरुषपशुः, सारसः सरस्येव य आस्ते हंसविशेषः । सिद्ध्यतीति तत्स्वप्नानुसारिणीमुत्तमादिरूपां सिद्धिं प्राप्नोतीत्यर्थः । यद्यपि–

'दृष्टः श्रुतोऽनुभूतश्च प्रार्थितः कल्पितस्तथा ।
भावितो दोषजश्चेति स्वप्नः सप्तविधः स्मृतः ॥'

इति निमित्तान्तरजोऽस्ति स्वप्नः, तथापीह भगवद्गुर्वधिष्ठिते यागधाम्नि मन्त्रादिमाहात्म्याद्भाविफलानुरूप एव दृश्यतेऽसावधिवासे ॥१७॥

१९–मातृशक्तियों अथवा भैरवों के साथ, अथवा रुद्रों के साथ विहरण और २०–भैरव या १८भैरवी का दर्शन । इस प्रकार के उक्त सभी स्वप्न सिद्धि के पुष्ट प्रमाण माने जाते हैं ।

यद्यपि एक उक्ति है कि, 'देखा, सुना, अनुभूत तथ्य, प्रार्थित द्रव्य, अपनी कल्पना के बल पर प्रकल्पित, भावना भावित दोष (त्रिदोष वातपित्तकफ के कारण उत्पन्न ये सात प्रकार के स्वप्न प्रायः लोगों द्वारा देखे जाते हैं ।" इसके अतिरिक्त अन्य कारणों से भी स्वप्न दीख पड़ते हैं । फिर भी इस अधिवास के समय भगवान् भैरव के अनुग्रह पूर्ण वातावरण में तथा भगवान् गुरुदेव के सान्निध्य में जो स्वप्न दीख पड़ेगें, वे अवश्य ही भविष्य के उत्कर्ष के संवाहक सिद्ध होते हैं–यही बलवती आशा लेकर शिष्य शयन करता है और अनुकूल स्वप्नों का दर्शन कर गुरु से उन्हें सुनाकर परिणाम सिद्धि के सन्दर्भों में प्रसन्न रहने का सौभाग्य प्राप्त करता है । श्लोक १७ में सारस पक्षी का नाम आया हुआ है । यह वही पक्षी है, जो सरसी को छोड़कर कहीं नहीं जाता । सरस् में ही जन्ममरण सब कुछ बीत जाता है । इसका दर्शन सिद्धिप्रद माना गया है । यह भी एक प्रकार का हंस पक्षी ही है ॥१४-१७॥

एवम्–

शुभाः स्वप्ना मयाख्याता अशुभांश्च निबोध मे ।।१८।।

तानाह–

तैलाभ्यङ्गस्तथा पानं विशनं च रसातले ।

तैलस्यैव च ।

अन्धकूपे च पतनमथ पङ्के [१]निमज्जनम् ।।१९।।
वृक्षवाहनयानेभ्यः पतनं हर्म्यपर्वतात् ।
कर्तनं कर्णनासाभ्यामथ वा हस्तपादयोः ।।२०।।
पतनं दन्तकेशानामृक्षवानरदर्शनम् ।
वेतालक्रूरसत्त्वानां तथैव[२] कालपूरुषाः ।।२१।।
कृष्णोर्ध्वकेशा मलिनाः कृष्णमाल्याम्बरच्छदाः ।
रक्ताक्षी स्त्री च यं स्वप्ने पुरुषं त्ववगूहयेत् ।।२२।।
म्रियते नात्र सन्देहो यदि शान्तिं न कारयेत् ।
गृहप्रासादभेदं च शय्यावस्त्रा[३]सनेषु च ।।२३।।

भगवान् कह रहे हैं कि, इन शुभ स्वप्नों के अतिरिक्त बहुत सारे अशुभ स्वप्न भी होते हैं । इस समय मै तुम्हें अशुभ स्वप्नों के सम्बन्ध में बताने जा रहा हूँ । ध्यान पूर्वक इन्हें भी सुनो ।।१८।।

तैल मर्दन, तेलका पीना, रसातल में प्रवेश, अन्धे कुएँ में गिरना, पाँक में धसना, पेड़, सवारी और गाड़ी आदि कार यान आदि से दुर्घटना वश पतन, ऊँची अटारी और पहाड़ से स्खलित हो जाना, कान और नासिका का काटा जाना, इसी तरह हाथ या पाँव या दोनों का एक साथ कर्तन, दाँत और केशों का गिरना, भालू और वानर का स्वप्न में दर्शन, वेताल आदि क्रूर प्राणियों को देखना तथा काल पुरुष का दर्शन ये सभी स्वप्न अशुभ माने जाते हैं ।।१९-२१।।

काली, खड़े बालों वाली, गन्दी, काले फूलों की मालाओं, वस्त्रों और आवरणों वाली, लाल लाल आँखों वाली ऐसी स्त्री को स्वप्न में जो पुरुष आलिङ्गन करता है, वह निश्चित ही मृत्यु को प्राप्त है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं । हाँ शान्ति के लिये यदि मन्त्रपाठ जपादि कर दुःस्वप्न फल के निराकरण का प्रयत्न करे तो शायद बच जाय ? घर और प्रासाद रूप महल इत्यादि का फटना, टूटना या गिरना, शय्या, वस्त्र और आसन इत्यादि या भोजन इत्यादि का भी भेद बुरा माना जाता है ।।२२-२३।।

---

१. ख. पु. पङ्के च मज्जनमिति पाठः । २. ख. पु. तथा वै इति पाठः ।
३. ख. पु. अशनेष्विति पाठः ।

आत्मनोऽभिभवं संख्य आत्मद्रव्यापहारणम् ।
खरोष्ट्रश्वसृगालेषु कङ्कगृध्रबकेषु च ।।२४।।
महिषोलूककाकेषु रोहणं च प्रवर्तनम् ।
भक्षणं पक्वमांसस्य रक्तमाल्यानुलेपनम् ।।२५।।
कृष्णरक्तानि वस्त्राणि विकृतात्मा प्रपश्यति ।
हसनं वल्गनं स्वप्ने म्लानस्रग्दामधारणम् ।।२६।।
स्वमांसोत्कर्तनं बन्धं कृष्णसर्पेण भक्षणम् ।
उद्वाहं च तथा स्वप्ने दृष्ट्वा नैव प्रसिध्यति ।।२७।।

क्रूरसत्त्वं व्याघ्रादि, संख्ये संग्रामे, विकृतात्मा विघ्नव्याकुलचित्तो भीषणाकृतिर्वा, हसनोद्वाहादि आत्मनः, वल्गनं नृत्तम् ॥२७॥

अपनी हार या पराभव, किसी से व्यर्थ की लड़ाई, सियार, कङ्क, गीध, बकुले, भैंस, उलूक, कौवे की सवारी या इनकी सवारी का प्रवर्त्तन, पके मांस का भक्षण लाल रंग के माल्य (माला या गजरा) का अपने शरीर पर मर्दन, ये सभी स्वप्न दुःस्वप्न और अशुभ होते हैं ॥२४-२५॥

काले और लाल रंग के वस्त्र आदि का स्वप्न में दीख पड़ना विकृतात्मता का ही लक्षण है अर्थात् इनका देखना भी अशुभ है । स्वप्न में हंसना, बकबकाना, मुरझाये फूलों वाली माला या हार आदि का धारण, अपने ही मांस का नोचना, काटना, बन्ध में पड़ना, काले साँप का डस लेना और विवाह आदि का स्वप्न में दीख पड़ना कभी भी सिद्धिप्रद नहीं होते अर्थात् इन बुरे स्वप्नों का बुरा फल ही होता है । श्लोक २६ में विकृतात्मा शब्द के दो अर्थ आचार्य क्षेमराज लिखते हैं–१–विघ्नों से व्याकुल चित्त और २–भीषण आकृति वाला । मेरी दृष्टि में विकृतात्मा वह शिष्य होता है, जिसके संस्कार में अभी कुछ विकार अवशिष्ट रह गये हैं क्योंकि, शुद्ध संस्कारों से संस्कृत चित्त शिष्य को बुरे स्वप्न दीख ही नहीं सकते । दूसरा शब्द वल्गन है । वल्ग धातु लगाम लगाने या गति अर्थ में प्रयुक्त होता है । स्वप्न में वागात्मक गति ही बकबकाना है । या मुख में लगाम लगाने अर्थ में भी यह प्रयुक्त हो सकता है । नृत्त का अर्थ नाचने गाने का समन्वित रूप माना जाता है । जो कुछ भी हो, ये सारे स्वप्न अशुभ माने जाते हैं । यह जानना चाहिये ॥२६-२७॥

उपसंहरति–

अशुभा ह्येवमाख्याता विज्ञेया दैशिकोत्तमैः ।

विज्ञेया इति कालस्वरूपाधिकार्यनुसारेणैव एषां बलाबलचिन्ता कार्येत्यर्थः ।

तत्र–

शुभास्तत्रानुमोद्यास्तु[1] अशुभेषु तु होमयेत् ॥२८॥

अष्टोत्तरशतं धाम्ना प्रायश्चित्ताद्विशुद्ध्यति ।

तथा सति दीक्षान्तरायोपशान्ते ॥२८॥

अत्र विधिमाह–

पूर्ववत् सकलीकृत्य विघ्नोच्चाटनरक्षणम् ॥२९॥

अब स्वप्नवर्णन का उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि, ये उक्त वर्णित स्वप्न अशुभ होते हैं, यह तथ्य दीक्षा देने के महान् कार्य में संलग्न रहने वाले देशिक शिरोमणि आचार्यवर्य गुरुजनों को अवश्य जानना चाहिये । जानने का तात्पर्य यह है कि, शिष्य की योग्यता, काल द्वारा सूचित स्वप्नों और इस अधिकारी के बलाबल का ध्यान रख कर ही आचार्य को दीक्षा का निर्णय लेना चाहिये ।

इसलिये यह उचित है कि, शुभ स्वप्नों का अनुमोदन कर शिष्य को प्रोत्साहित करना चाहिये । इसी प्रकार अशुभ स्वप्नों के दोषों के निराकरण के लिये प्रायश्चित्त होम करना चाहिये । इसके लिये यह निर्देश भी है कि, धाममन्त्र से अष्टोत्तर शत अर्थात् एक सौ आठ बार हवन करना चाहिये । इस प्रक्रिया से दीक्षा में आने वाले अन्तरायों अर्थात् विघ्न रूप उपद्रवों का शमन हो जाता है । अशुभ स्वप्न देखने का यही प्रायश्चित्त है ॥२८॥

इस सम्बन्ध में विशेष विधि का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट कर रहे हैं कि, पहले की तरह सकलीकरण की प्रक्रिया अपनानी चाहिये । विघ्नों का उच्चाटन कर स्वात्म संरक्षण के उपाय पहले आवश्यक हैं । इसके बाद कवच से वेष्टन होना चाहिये । इसी क्रम में शिवाम्बु से सारी चीजों का प्रोक्षण भी आवश्यक है । शिव हस्त विधि आचार्य सम्पन्न करते हैं । शिवहस्त विधि को सम्पन्न करने का सुपरिणाम यह होता है कि, कर्म में दीप्ति आ जाती है । सभी प्रकार के प्रायश्चित्तों की शान्ति होती है ।

---

१. ख. पु. वै इति पाठः ।

वेष्टनं पूर्ववत् कुर्याच्छिवाम्भः शिवहस्तकम् ।
लोकपालांस्तु सम्पूज्य शिवकुम्भं च स्थण्डिलम् ।।३०।।
अग्निकार्यं यथापूर्वं पूर्णाहुतिप्रपातनम् ।
प्रायश्चितं ततः पश्चाद्दुःस्वप्नार्थं यदुक्तवान् ।।३१।।

तत् कुर्यादिति शेषः । वेष्टनं कवचेन, शिवाम्भ इति प्रोक्षणादिकं (घ्रर्थं), शिवहस्तः कर्मणो दीप्त्यापत्त्या सम्यक् प्रायश्चित्तशान्त्यर्थम्, स्थण्डिलमिति तदाधेयं[१] भैरवम् ॥३१॥

एतदुपसंहरन् प्रकृतं प्रस्तावयति–

एवं पूजादिकं कृत्वा विसृज्य स्थण्डिलाच्छिवम् ।
निर्माल्यापनयं कृत्वा भूमिं संशोध्य पूर्ववत् ।।३२।।

इसके बाद लोकपालों की पूजा करनी चाहिये । शिवकुम्भ रूप प्रधान कलश से सम्बन्धित कार्य के साथ ही स्थण्डिल अर्थात् भैरव की आराधना भी आवश्यक होती है ॥२९-३०॥

पहले की तरह अग्निकार्य आर्थात् विधिवत् सभी देवों की तुष्टि के लिये प्रज्वलित अग्नि में हवन करना आवश्यक रूप से करणीय कार्य है । तत्पश्चात् कुण्ड में पूर्णाहुति का विधिवत् प्रपातन होना चाहिये । यहाँ एक बात विशेष रूप से विचारणीय है । यह है–पूर्णाहुति के बाद दुःस्वप्नार्थ प्रायश्चित्त होम की बात । श्लोक ऊनतीस की प्रथम अर्धाली में अष्टोत्तर शत होम से दुःस्वप्न दर्शन के दोष से निवृत्त होने का उल्लेख है । यह भी लिखा है कि, दीक्ष्य शिष्य इससे विशुद्ध हो जाता है । यहाँ श्लोक इकतीस में पूर्णाहुति के बाद पुनः होम करने की बात उचित प्रतीत नहीं होती । मान्यता यही है कि, पूर्णाहुति के बाद कोई दूसरा होम नहीं होना चाहिये । वह परम्परा प्राप्त विधान है । ऐसी स्थिति में यहाँ इसका उल्लेख क्यों किया गया है । इस भगवदुक्ति का रहस्य क्या है ? मेरा दृष्टिकोण यह है कि, श्लोक २९ से ३१ तक के विधान पूरा होने पर प्रायश्चित्त से छुटकारा मिलता है । ये तीनों श्लोक अठाइसवें श्लोक के पूरक मात्र हैं ॥३१॥

शुभ और अशुभ स्वप्नों से सम्बद्ध ये उक्त कार्य अवान्तर कार्य हैं और प्रसङ्ग वश यहाँ वर्णित हैं । मुख्य विषय नित्य कर्म सम्पन्न कर नैमित्तिक कार्य सम्पन्न करने की विधि का निर्देश है । यहाँ वही प्रकृत विषय प्रस्तुत कर रहे हैं–

---

१. अधीशमिति पाठः ।

नित्यकर्म ततः कुर्यात्पूजाहोमजपादिकम् ।
नित्याह्निके समाप्ते तु नैमित्तिकमथाचरेत् ।।३३।।

नित्यकर्म स्वानुष्ठानविषयम् । तत्र प्रायश्चित्तिनो नाधिकार[1] इति तच्छुद्ध्यन्ते तस्याभिधानम्, नैमित्तिकं दीक्षाख्यान्निमित्तादागतम् ।।३३।।

तदुपक्रमते–

उपलिप्य शिवाम्भोभिर्ब्रह्मस्थानं[2] प्रपूजयेत् ।
भावेन गन्धपुष्पाद्यैः ततो मण्डलमालिखेत् ।।३४।।

भावेन प्रणवेन ।

तद्विधिरग्रे भविष्यति ।।३४।।

अथ–

करणीं खटिकां चैव भैरवेण प्रपूजयेत् ।
धाम्ना तु रजसां पातः

भैरवः सकलः, धाम्नाभिमन्त्रितानां रजसां पश्चात् पातो निर्मन्त्रक एव, अन्यथा भाविरजोदोषोक्त्यनुपपत्तिः ।

इस प्रकार स्वानुष्ठान विषयक नित्यकर्म से सम्बन्धित सामान्य पूजा सम्पन्न करने के बाद स्थण्डिल पर विराजमान शिव का विसर्जन करते हैं । निर्माल्य का अपनयन, भूमि का संशोधन कर नित्यकर्म पूरा कर पहले की तरह जप और होम आदि कार्य कर लेना चाहिये । इस तरह से नित्यकर्म समाप्त करने के बाद नैमित्तिक आचार का प्रारम्भ करना चाहिये । प्रायश्चित अशुभ स्वप्न दर्शन का किया जाता है । उसके बाद ही प्रायश्चित्त दोष समाप्त होने पर नैमित्तिक कार्य करने का अधिकार प्राप्त होता है । निमित्ततः प्राप्त दीक्षाकर्म नैमित्तिक होता है ।।३२-३३।।

उसी का उपक्रम कर रहे हैं । शिवाम्भस से ही ब्रह्मस्थान अर्थात् मन्त्र दीक्षा स्थान का उपलेपन करना चाहिये । इसमें भावना पूर्वक सर्व देव पूजन सम्पन्न कर लेने का निर्देश है । ओङ्कारमयी भावना से ही गन्धपुष्पादि पञ्चोपचार पूजन सम्पन्न करना चाहिये । इसके बाद विशेष मण्डल अर्थात् वह चौकोर स्थान जहाँ मन्त्र ग्रहण करना है, उसे लिखना चाहिये । उस चौक को पूरा जाता है । उसमें अल्पना भी बनायी जाती है ।।३४।।

इसके लिये करनी और खटिका की व्यवस्था पहले से ही कर ली जाती है । इनकी पूजा सकल भैरव मन्त्र से की जाती है । उसी चौक में धाम मन्त्र से अभिमन्त्रित रजस् अर्थात् रंगीन द्रव्य को नियम पूर्वक निपात करते हुए चौक को

---

१. ख. पु. अनधिकार इति पाठः । २. क. पु. मन्त्रस्थानमिति पाठः ।

स च रजसां पातः

सिताद्यश्चागमोदितः ।।३५।।

सितं रजः पात्यमानमाद्यं यस्य, आगमे बृहत्तन्त्रे उदितः ॥३५॥

अथ–

निष्पन्ने मण्डले स्नात्वा नित्यकर्म समाचरेत्[1] ।

अपरेऽह्नि इत्यर्थः ।

नित्यकर्मसमाप्तौ तु कुर्यान्नैमित्तिकं बुधः ।।३६।।

तन्नित्यकर्मानूद्य नैमित्तिकमादिशति–

स्नानादि पूर्ववन्मन्त्रैः सकलीकरणादिकम् ।
आत्मरक्षास्त्रप्राकारद्वारपालादिपूजनम् ।।३७।।
विघ्नोच्चाटनदिग्बन्धौ भूपातालख[2]वासिनाम् ।
अस्त्रप्राकारमारोप्य कवचेनावगुण्ठनम् ।।३८।।
उदङ्मुखं तूपविष्टः करशुद्ध्यादि पूर्ववत् ।
शिवाम्भः शिवहस्तं च अर्घत्रयप्रकल्पनम् ।।३९।।

आकर्षक बनाते हैं । यह रजस् सित और आदि शब्द से पीत रक्त और हरित भी होता है । वृहत्तन्त्रनामक आगम ग्रन्थ में इसका उल्लेख है । यही आगमोदित विधि का तात्पर्य है ॥३५॥

मण्डल के कार्य को पूरा कर लेने पर शिष्य स्नान करता है । नित्यकर्म पूरा करता है । इस कथन में भी व्यत्यय दोष है । पहले नहाना फिर नित्य कर्म करना उचित नहीं । दीक्षा के लिये स्थान निर्धारित कर उसे सुसज्जित कर शिष्य के उसी दिन तैयार होने पर नित्यकर्म की कोई आवश्यकता नहीं होती । यह कार्य दूसरे दिन या अपराह्न में करना ही श्रेयस्कर होता है । इसी आधार इस कथन की संमति बैठती है कि, नित्य कर्म पूरा कर लेने पर ही नैमित्तिक कर्म का प्रारम्भ करना चाहिये ॥३६॥

इसके बाद नैमित्तिक कामों का उपदेश कर रहे हैं । ये सभी काम पुनरुक्त और बार बार कहे और निर्दिष्ट किये गये कर्म हैं । आचार्य इन्हें विधिवत्सम्पन्न करे । इतना ही पर्याप्त था । पर इन प्रवचनमयी परिपाटी की पुनरुक्तियों पर क्रमिक रूप से अवश्य ध्यान देना चाहिये ताकि कोई कर्म छूट न जाय । अतः इन पर क्रमिक रूप से ध्यान देने योग्य है । १–पूर्ववत् स्नान, २–सकलीकरण, ३–आत्मरक्षार्थ अस्त्रमन्त्र का प्रयोग, ४–प्राकार, ५–द्वारपालादि पूजन, ६–विघ्नों का उच्चाटन, ७–दिग्बन्ध, ८–पृथ्वी, पाताल और आकाश-

---

१. ख. पु. समारभेदिति पाठः । २. क.ग.पु. गामिनामिति पाठः ।

कृत्वेति शेषः । आत्मरक्षा[१]र्थोऽस्त्रप्राकारः । भूपातालखवासिनां विघ्नानामुच्चाटनमिति व्यवहितः सम्बन्धः, आगमप्रामाण्यात्, अस्त्रप्राकारमिति यागगृहविषयम्, उदङ्मुखमिति बुभुक्षुदीक्षाया अपि मुक्तिपर्यवसायित्वाद् दक्षिणास्यस्य चाशेषपाशदाहकत्वाद् दीक्षाप्रारम्भे च अत्राचार्यस्योदङ्मुखत्वमेवोक्तम्, करशुद्ध्यादीत्यादिशब्दात् देहशुद्ध्यादिकम् । शिवाम्भ इति प्रोक्षणाद्यर्थं शिवमन्त्रितमम्भोऽर्घपात्रात् पृथक्, तच्च प्राक्पटलयोरनुमन्तव्यं पात्रत्रये विधिनिरोधपशुप्रयोजनमर्घत्रयम् ॥३९॥

ततः–

लोकपालांस्तु सम्पूज्य शिवकुम्भं प्रपूजयेत् ।

ततोऽपि–

मण्डलस्याग्रतो भूत्वा मण्डलं प्रोक्ष्य चासिना ॥४०॥
वर्मणा वेष्टयेत् पश्चात् प्रणवेनाभिमन्त्रयेत् ।
अष्टोत्तरशतं धाम्ना रजोदोषैर्विशुद्ध्यति ॥४१॥

मण्डलस्याग्रत इत्यनेन दीक्ष्यजनातिशयेन मण्डलस्य निरन्तराभिमुखत्वमपि ध्वनति । प्रणवेन धाम्नेति प्रणवपूर्वेण निष्कलेनेत्यर्थः ॥४१॥

चारी जीवों की तुष्टि, जिससे ये विघ्न न कर सकें, ९–यागवेश्म का अस्त्र प्राकार विधान, १०–कवच से अवगुण्ठन, ११–उत्तराभिमुख उपवेशन, १२–करशुद्धि आदि अवान्तर कार्य, १३–शिवाम्भस-संप्रोक्षण, १४–शिवहस्त विधि और १५–अर्घत्रय प्रकल्पन (विधि, निरोध और पशुप्रयोजनार्थ तीन पात्र) ये पन्द्रह मुख्य करणीय कार्य हैं । बुभुक्षु दीक्षा का पर्यवसान भी मोक्ष में ही होता है । दक्षिणाभिमुख उपवेशन सम्पूर्ण मलराशि को जला डालता है । इन तथ्यों के सन्दर्भ में आचार्य का उत्तराभिमुख उपवेशन ही उचित माना जाता है ॥३७-३९॥

लोकपालों की पूजा करने के बाद शिवकुम्भ की पूजा आवश्यक मानी जाती है । तत्पश्चात् मण्डल के अग्रभाग में आकर पूरे मण्डल का प्रोक्षण करना चाहिये । असि मन्त्रबीज से यह प्रोक्षण किया जाता है । इस बीज का उद्धार–ज्+र्+ां को मिलाने से होता है । पुनः वर्म अर्थात् कवच से मण्डल को वेष्टित करते हैं । पुनः प्रणव से उसे अभिमन्त्रित करते हैं । एक सौ आठ बार धाम मन्त्र का जप करने से जितने प्रकार के रजस् का प्रयोग किया गया है, उनकी अशुद्धि मूलक दोषवत्ता से मुक्ति मिल जाती है । मण्डल के आगे आकर इन कार्यों को पूरा करने का उद्देय यह प्रतीत होता है कि, शिष्य न केवल मण्डल की सीमा में ही संकुचित रहे वरन् वह विश्व के दिग्दिगन्तराल में फैले विराट् विस्तार के प्रति भी सावधान रहे । धाम अर्थात् निष्कल मन्त्र के प्रयोग से ही रजोदोष नष्ट होते हैं ॥४०-४१॥

---

१. ख.पु. रक्षार्थमस्त्रेति पाठः ।

इत्थं च संस्कृतस्य मण्डलस्य–

चतुर्दिक्ष्वस्त्रं सम्पूज्य द्वारे गन्धादिभिः क्रमात् ।
प्राकारं भावयेदस्त्रं मण्डलं प्रविशेत् ततः ।।४२।।

द्वार इति जातावेकवचनम्, तेन वक्ष्यमाणनवनाभमण्डलस्य चतुर्दिक्षु यान्यष्टौ[1] द्वाराणि, तत्रेत्यर्थः ।

पूजामत्रारभेत इत्यर्थः ।।४२।।

तत्र–

गुरून् सम्पूज्य विघ्नेशं पुष्पाद्यैः प्रणवेन तु ।

पूर्वं गणपतिं वायव्यकोणे सम्पूज्य गुरून् प्राच्यां दिशि प्रपूजयेत् । यथोक्तं तृतीयपटले–

'ब्रह्मस्थानस्य पूर्वेण गुरून् पूज्य विनायकम् ।
वायव्ये............................ .।।' इति ।। (स्व. ३-४२)

ततः–

अनन्तमासनं प्राग्वच्छिवान्तं प्रणवेन तु ।।४३।।

इस तरह पूरा मण्डल संस्कार सम्पन्न हो जाता है । उसके चारों ओर अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित करते हैं । पुनः द्वार पर अर्थात् मण्डल के सभी द्वारों पर भी क्रमशः गन्धादिपञ्चोपचारों से पूजन करना चाहिये । यहाँ पर भी प्राकार को अस्त्र मन्त्र से पूर्णतया सुरक्षित करने के बाद मण्डल में प्रवेश करे । प्रवेश करने के बाद वहाँ के करणीय कृत्यों को पूरा करते हैं ।।४२।।

मण्डल में प्रवेश कर सर्व प्रथम शिष्य अपने आचार्य और कार्य सम्पादक दीक्षक गुरुदेव का पूजन करे । इसके बाद विघ्नेश्वर गणपति की पूजा सम्पन्न करे । इसके लिये पुष्पादि पञ्चोपचारों से प्रणव के द्वारा पूजन करे । यहाँ देखना यह है कि, श्लोक में पहले गुरून् सम्पूज्य आदेश द्वारा गुरुजनों की पूजा का विधान किया गया है । व्यवहार में भी आचार्य का वरण और पूजन करने के बाद ही गणपत्यादि देवों की पूजा होती है । परन्तु उद्योतकार ने 'पूर्वं गणपतिं' ही लिखा है । हमारी दृष्टि से पहले गुरुदेव की पूजा कर देव पूजन का सङ्कल्प लेकर ही गणपति की वायव्यकोण में पूजा की जानी चाहिये । गुरुदेव की पूजा तो पूर्व में ही की जानी चाहिये ।

तृतीय पटल की उक्ति में भी पहले पूर्वेण गुरून् सम्पूज्य ही लिखा है । अर्थात् गणपति की पूजा गुरुपूजा के बाद ही होनी चाहिये । दिशा का उल्लेख भी वहाँ है । पूर्व में गुरुदेव और वायव्य में गणपति की पूजा करनी चाहिये ।

---

१. ख. पु. यथाष्टाविति पाठः ।

मूर्त्यादि पूर्ववन्न्यस्येद्धृदाद्यावरणान्तगम् ।
पूर्वोक्तविधिना पूज्य नैवेद्यानि निवेदयेत् ।।४४।।
निरोधार्घेण चार्घं तु दत्त्वा चैव निरोधयेत् ।
जपध्यानादिकं कृत्वा अग्निष्ठं भैरवं यजेत् ।।४५।।
नाडीसन्धानकं त्रिष्ठं कृत्वा सन्तर्पयेद्विभुम् ।

अग्नाविति शेष: ।।४५।।

तत्र तावन्नाडीसन्धानमाह–

आत्मनो निष्कलोच्चारं कृत्वा कुम्भे निवेशयेत् ।।४६।।
कलशस्थस्य वामेन रेचयेत् पूरयेत्ततः ।
मण्डलस्थस्य सव्येन पुनर्वामेन रेचयेत् ।।४७।।

अनन्त का आसन पहले की तरह नैर्ऋत्य कोण में स्थापित कर प्रणव पूर्वक शिवान्त आसन भी परिकल्पित करना चाहिये । पहले की तरह ही मूर्त्यादिन्यास भी होना चाहिये । इसमें हृदयादि आवरण पर्यन्त न्यास का क्रम अपनाया जाता है । पूजा सम्पन्न कर नैवेद्य का निवेदन करने की विधि भी पूरी करनी चाहिये ।।४३-४४।।

यहाँ निरोध नामक अर्घपात्र से अर्घ समर्पित करना होता है । इससे न्यस्त शक्तियों का निरोध होता है । निरोधन मुद्रा का प्रयोग भी कर लेना चाहिये । इसके बाद जप सम्पन्न किया जाता है । तदनन्तर ध्यान का क्रम आता है । अब शिष्य द्वारा अन्य सभी कार्य पूरा कर अग्नि में प्रतिष्ठापित भैरव के लिये यजन किया जाता है । तत्पश्चात् अग्नि में ही नाडी सन्धान कर विभु सर्वेश्वर की सपर्या करनी चाहिये ।।४५।।

नाडी सन्धान की चर्चा करते हुए कह रहे हैं कि, यह कार्य स्वयम् आचार्य सम्पन्न करें । यदि शिष्य भी योग्य हो और जानकार साधक हो, तो साथ साथ उसके करने में भी कोई विरोध नहीं होता ।

इसे क्रमिक रूप से इस तरह प्रारम्भ करें–

१–स्वात्म में निष्कल का साधनात्मक उच्चार करें ।

२–इस उच्चार के साथ निर्गत निष्कल तत्त्व को कुम्भ में निवेशित करें ।

३–कलश के वाम में उसे रेचक द्वार बाहर निकालें ।

४–पुन: पूरक करे । इसे मण्डलस्थ कलश के सव्य में सम्पन्न करें ।

५–पुन: वाम से रेचित करें ।

अग्निष्ठस्य तु तत्तेजो दक्षिणेन विशन् स्मरेत् ।

मन्त्रकलशाद्भिर्ग्रन्थेः भेदक्रमेण ऊर्ध्वद्वादशान्तमाश्रयन् ततोऽपि हृदयमागत्य तत्र विश्रम्य प्रदक्षिणं भ्रमित्वा सोममार्गेण निःसृत्य कलशस्थस्य दक्षिणेन प्रविशेत्, तत्राप्यमुमेव क्रममास्थाय तद्वामेन निर्गत्य मण्डलस्थस्य दक्षिणेन प्रविश्य प्राग्वद्वामेन निर्गत्य वह्निस्थस्य दक्षिणेन प्रविशेत्, प्राग्वदेव च हृदये विश्राम्येत् । एवमधिकरण-चतुष्टयैक्यापत्त्या वह्नावग्नीषोमसूर्यतेजःसामरस्येन स्थेयम्, न तु ततः स्वहृदयमागन्त-व्यमग्निष्ठ एव भवति, यागस्य प्रस्तुतत्वात्प्राधान्येनैव अवस्थितेर्युक्तत्वात् ।।४७।।

६–पुनः अग्नि में अवस्थित भैरव देव के तेज को उसकी पूर्ण तेजस्विता को दक्षिणनासा अर्थात् पिङ्गला से आचार्य के स्वात्मान्तर में प्रवेश करे और इसका अनुसन्धान करे ।

ये क्रियायें वही कर सकता है, जो ग्रन्थि भेद प्रक्रिया में पूर्ण पारङ्गत होता है । आचार्य ऐसे साधक शिरोमणि ही हो सकते हैं । आचार्य क्षेमराज ने इसे विस्तार पूर्वक दिश निर्देश करते हुए व्याख्यायित किया है । यह ध्यातव्य है । इसके अनुसार सर्व प्रथम कलश के जल से आत्म प्रोक्षण कर मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक एक एक चक्र का भेद करते करते ऊर्ध्व द्वादशान्त में विश्राम की प्रक्रिया अपना कर आचार्य भैरवीभाव से पूर्णतया अपने को भावित कर ले । क्षणानन्तर ऊर्ध्वद्वादशान्त से अनाहत में आ जाय । यहाँ विभु की प्रदक्षिणा का भावन करें । इसके बाद उच्चार प्रक्रिया के पूर्व लिखित छः क्रमों को कलश को केन्द्र में रखकर पूरा करे । यह ध्यान देने की बात है कि, कलश में विभु भैरव की प्रतिष्ठा है । अन्त में अग्नि में प्रतिष्ठापित विभु को ध्यान में रखकर पाँचवी क्रिया अर्थात् रेचन करे । इसके बाद दक्षिण से स्वात्म में अग्निष्ठ तेज को प्रवेश करते हुए भावन करना चाहिये । यहाँ आकर पुनः हृदय में ही विश्रान्ति हो जाती है ।

प्राणापानवाह की इस प्रक्रिया में अधिकरण चतुष्टय का प्रयोग होता है । १–स्वात्मका हृदयाधार, २–अग्निरूप प्रमाता का आधार, ३–सूर्य (प्राण) का प्रमाण मय आधार, ४–सोम (अपान) का प्रमेय मय आधार । यहाँ अग्नि में अवस्थित विभु श्री भैरव देव के साथ आचार्य भी इनमें समाहित रहता हुआ सामरस्य प्राप्त कर लेता है । इस समरसता से वहाँ का वायुमण्डल भी परम पावन बन जाता है । हाँ आचार्य यदि अग्निष्ठ विभु का आधार ग्रहण कर उसमें अवस्थित रहता है, तो उसकी तेजस्विता में अनन्त दीप्ति का समावेश हो जाता है । इससे याग निर्विघ्न समाप्त होता है क्योंकि, आचार्य के तेज से यागमण्डल भी तेजोमय हो जाता है ।।४६-४७।।

यदाह–

एवं सन्धानकं कृत्वा ततस्तर्पणमारभेत् ।।४८।।

एवमित्यग्निविश्रान्त्यन्तम्[१] ।।४८।।

ततश्च–

दशभागविभागेन हुत्वा पूर्णाहुतिं क्षिपेत् ।

मूलहोमात् पूर्वोक्ताद्वक्त्राणां दशमांशेन हुत्वेत्यर्थः ।

अथ–

प्रायश्चित्तविशुद्ध्यर्थं कुर्यादष्टोत्तरं शतम् ।।४९।।

विधेः पूर्णातिरिक्तस्य धाम्ना पूर्णाहुतिं ततः ।

धाम्नेति काकाक्षिवत् ।।४९।।

किञ्च,

आचार्योऽथार्घहस्तस्तु मण्डलं प्रविशेत्ततः ।।५०।।

सम्पूज्य परमेशानं पुष्पाद्यैरर्घपश्चिमम् ।

मुद्रां बद्ध्वा प्रणम्यादौ जानुभ्यामवनिं गतः ।।५१।।

इस तरह नाडी सन्धान की प्रक्रिया पूरी होती है । इसके बाद तर्पण का क्रम आता है । यहाँ तर्पण और पूर्णाहुति का क्रम विचारणीय है । तर्पण का कार्य पूर्णाहुति के बाद होता है, यह क्रम है । यहाँ पूर्णाहुति के पहले ही तर्पण का निर्देश है । आचार्यों को इस पर विचार करना चाहिये । प्रतीत होता है कि, अग्निदेव की शान्ति पूर्ण विश्रान्ति के लिये पूर्णाहुति के पहले तर्पण की चर्चा यहाँ की गयी है ।।४८।।

जप जितना किया गया होता है, उसके दशांश तर्पण कर पूर्णाहुति करनी चाहिये । मूल होम की आहुतियों को ध्यान में रखकर वक्त्रों की परिकल्पना के सन्दर्भ में यहाँ दशमांश हवन की चर्चा की गयी है । इसी क्रम में प्रायश्चित्त की दृष्टि से भी न्यूनातिरिक्त दोष शमनार्थ अष्टोत्तर शत हवन भी यहाँ करना चाहिये । पुनः धाम मन्त्र से पूर्णाहुति करनी चाहिये । धाम शब्द से अष्टोत्तर शत आहुति और पूर्णाहुति दोनों हीं अभिप्रेत है । काकाक्षिन्याय से यह उभयत्र प्रयोक्तव्य है ।।४९।।

इसके बाद हाथ में अर्घ लेकर आचार्य उसी मण्डल में प्रवेश करता है, जिसमें शिष्य पहले से है और पूजा के विविध विधान पूरा कर चुका है ।।५०।।

सर्व प्रथम प्रमथेश्वर परमेश्वर की वह पूजा करता है । यह पूजा गन्ध, पुष्प और अर्घ समर्पण की विधि के साथ करने के बाद जानुओं से भूतल का स्पर्श करता हुआ साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम अर्पित करता है ।।५१।।

---

१. ख.ङ.पु. विश्रान्त्यर्थमिति पाठः ।

विज्ञापयेत पश्वर्थं प्रारब्धोऽयं मखोत्तमः ।
स्नानाधिवासनाद्यं यन्मण्डलेऽग्नौ च यत्कृतम् ।।५२।।
विधानं पुष्कलं सम्यक् त्वत्प्रसादादिहास्तु तत् ।

परमेशानं विज्ञापयेत् पश्वर्थमिति संगतिः ।।५२।।

अनुष्ठितकर्मविषयां विज्ञप्तिं कृत्वा, अनुष्ठास्यमानविषयामप्याह–

इदानीं शिष्यदेहे तु सकलीकरणादिका ।।५३।।
योजन्यन्ताध्वशुद्धिस्तु त्वत्प्रसादात् प्रसिद्ध्यतु ।

ततः कर्मप्रारम्भनिष्पत्त्यन्तं[1] केवलमन्तर्मुखक्रमेण यावन्निश्चितप्रतिपत्त्यापि भगवदधिष्ठितिमात्मनः स्फुटयेदिति विज्ञप्तेराशयः ।।५३।।

अत एव

एवमस्त्वित्यनुज्ञातः परमेशेन वीरराट् ।।५४।।

अब वह भगवान् से प्रार्थना करता है कि, भगवान् यह दीक्षा के लिये उपक्रान्त याग शिष्य के परम कल्याण के लिये ही आयोजित है । इस विधि क्रम में स्नान अधिवास और मण्डल में अग्निस्थापन आदि जो जो कार्य सम्पन्न किये गये हैं तथा जितना पुष्कल विधान यहाँ सम्पन्न किया जा चुका है, यह सभी आप के कृपा प्रसाद से सब यहाँ सफलता को प्राप्त करें । यह विज्ञप्ति शिष्य के उत्कर्ष के लिये की जाय ।।५२।।

यह विज्ञप्ति जितने कर्म वहाँ अनुष्ठित हैं, उनको सूचित करती है । आगे इसके क्या अनुष्ठित करने योग्य है, इसकी चर्चा यहाँ की जा रही है । शिष्य वहीं है । उसके शरीर में सकलीकरण की प्रक्रिया अपनानी चाहिये । इसके साथ ही योजनिका क्रिया पर्यन्त अध्वशुद्धि का विधान होता है । इसके विषय में भी प्रार्थना यह हो रही है कि, भगवान् ! आपकी कृपा से ये सभी किये जाने वाले कार्य भी सिद्ध हो जाँय ! इस प्रार्थना का मुख्य रहस्य यह है कि, कार्य प्रारम्भ से लेकर इसकी पूर्ति पर्यन्त केवल अन्तर्मुखता की प्रक्रिया के आधार पर होने वाली भगवत्सत्ता की निश्चित प्रतिपत्ति में विश्वास हो और भगवान् में श्रद्धा पूर्वक अधिष्ठित हो जाय । इस आशय से की गयी यह विज्ञप्ति यहाँ सार्थक है ।।५३।।

इसलिये आचार्य एकाग्रचित्त होकर यह भावना करे कि, परमेश्वर प्रसन्न हैं । उनका हाथ वरदमुद्रा में ऊपर उठा हुआ है । वे आदेश दे रहे हैं कि, एवमस्तु !

---

१. क.पु. निष्पत्त्यर्थमिति पाठः ।

लब्धानुज्ञः प्रहृष्टात्मा निष्क्रामेन्मण्डलाद्बहिः ।

वीरराडिति परमेश्वराधिष्ठितः, एवं लब्धाशेषनिर्दल[1] नात्मकभैरवीभावोऽत एव तत्समावेशात्प्रहृष्टात्मा, बहिरिति जवनिकान्तरिते यागधाम्न्येव ॥५४॥

पश्वर्थाय कृतं यत्तु तद्गृहीत्वार्घपात्रकम् ॥५५॥
धाम्नस्तु दक्षिणे भागे कारयेन्मण्डलं गुरुः ।

दक्षिण इति दक्षिणास्यस्य [2]पाशप्लोषकत्वात् ॥५५॥

अथात्र–

प्रणवासनं कुशैर्न्यस्य शुचिं शिष्यं निवेशयेत् ॥५६॥
शिवाम्भोऽस्त्रेण संताड्य भस्मना च कुशैः क्रमात् ।
मण्डले कल्पिते शिष्यं मूर्तिभूतं प्रकल्पयेत् ॥५७॥

अर्थात् ऐसा ही हो । वीरेश्वर आचार्य आदेश पाकर कृतार्थ हैं । अनुज्ञाप्राप्त कर प्रसन्न हैं । इसके साथ ही वे उस चौकोर मण्डल से बाहर दूसरा कार्य सम्पन्न करने के उद्देश्य से निकल आवें । इस श्लोक में वीरराट् शब्द का प्रयोग परमेश्वराधिष्ठित कार्य साधक आचार्य के लिये है ।

वीर भाव में सम्पूर्ण रूप से समाहित साध्य सिद्ध आचार्य अपने सम्पूर्ण दोषों का निर्दलन कर निर्मल हो जाता है । भैरवी भाव से वह भावित हो जाता है । उसी समावेश रस में रमकर सदा हर्षोत्कर्ष की सीमा को भी अतिक्रान्त कर प्रसन्न हो जाता है । मण्डल से बाहर का तात्पर्य याग मण्डल से बाहर निकलने का नहीं वरन् वही परदे के पीछे बनाये स्थान पर जा बैठने से होता है ॥५४॥

शिष्य के लिये जिसे तैयार किया गया है, उसी अर्घपात्र को लेकर धाम रूप भैरव के दक्षिण वक्त्र भाग में एक नवीन मण्डल की रचना गुरु करायें । दक्षिण वक्त्र समस्त पाशों को जला कर राख करने में समर्थ है । इसीलिये दक्षिण भाग में इस मण्डल रूपी चौक के बनाये जाने का निर्देश शास्त्र कर रहा है ॥५५॥

कुशों द्वारा प्रणवाभिमन्त्रित आसन प्रकल्पित करने के अनन्तर शुचि शिष्य को उसी पर निवेशित कराये । उसे शिवाम्भस् से अस्त्रमन्त्र से ताडित करना चाहिये । यदि यति शिष्य हो, तो उसे भस्म से ताडित करना चाहिये और कुशों का प्रयोग करना चाहिये । उस चौक रूप पूर्व निर्मित मण्डल में शिष्य को मूर्त्तिरूप ही प्रकल्पित करना चाहिये । जहाँ तक शुचिता का प्रश्न है, यह स्नान से तो आता ही है, स्नानोपरान्त अस्त्रमन्त्र से ताडन से भी आता है ।

---

१. ख.पु. निर्मलात्मकेति पाठः । २. क.पु. पापप्लोषकेति पाठः ।

शुचिं स्नातमस्त्रेणेति त्रिषु योज्यम् । कल्पित इति आसनत्वेन, अत्र च मूर्त्यादीनां पूर्वोक्तैव व्याप्तिः । एवमुत्तरत्रापि ॥५७॥

अथास्य–

उपविश्य करन्यासं निर्दाहाद्यस्त्रपूर्वकम् ।
सबाह्याभ्यन्तरं न्यासं मन्त्रसन्धानमेव च ।।५८।।

गुरुः कुर्यात् ॥५८॥

ततः–

शिवहस्तः प्रदातव्यो ध्यात्वा देवं सुजाज्वलम् ।

गुरुणा । एवं गुरुरस्य–

मूर्ध्नि सम्पातयेत्तेजः पाशाङ्कुरविनाशनम् ।।५९।।

पाशानामङ्कुराः संसारप्ररोहहेतव आद्या उद्भेदास्तेषां नाशनम् । यथोक्तमन्यत्र–

'ब्रह्मपञ्चकसंयुक्तः शिवेनाधिष्ठितः शिवः ।
पाशच्छेदकरः क्षेमी शिवहस्तः प्रकीर्तितः ॥

ऐसे शुचि शिष्य को ही आसन पर बिठलाने का निर्देश है । आसन पर बिठलाने के बाद ही शिष्य को मूर्त्ति रूप में प्रकल्पित करने का विधान शास्त्र निर्दिष्ट करता है ॥५६-५७॥

गुरुदेव भी वहीं कुशासन पर विराजमान हो जाँय । बैठकर शिष्य से करन्यास का विधान पूरा करायें । पुनः प्राणापानवाह के माध्यम से पाप राशि का निर्दाह करा कर अस्त्रमन्त्र से शिष्य को पुनः ताडित कर जितने बाह्य और आन्तर न्यास हैं, उन्हें विधिवत् न्यस्त कराने के बाद मन्त्रानुसन्धान की विधि पूरी करें । यह गुरु द्वारा कारयितव्य है ॥५८॥

इसके बाद गुरुदेव शिवहस्त प्रदान करें । शिवहस्त की यह विधि सुजाज्वल भगवान् के रूप का ध्यान करके ही पूरी करनी चाहिये । इसके बाद पात्ररूप में तत्पर शिष्य के शिर पर गुरु शक्तिपात रूप तेजस्विता की वर्षा करें । इस तैजस प्रक्रिया से समस्त पापराशि का विनाश हो जाता है । पाशों के अङ्कुर से वृक्ष और पाशों के जङ्गल बन जाने की सम्भावना रहती है । वस्तुतः पाश के अङ्कुरों से संसार ही जन्म लेता है । इनके नाश से संसार की वासनाओं का नाश अवश्यंभावी है । शिवहस्त से पाशाङ्कुर विनाश के सम्बन्ध में एक आगमिक उक्ति है कि,

''शिव से अधिष्ठित शिव स्वरूप में समुल्लसित और ईशान तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात रूप पाँच मुखों की मर्मज्ञता से समन्वित यह शिवहस्त पाशों का अच्छेदक माना जाता है ।''

अनेनालब्धमात्रस्तु देही निर्मुक्तबन्धनः ।
प्रयाति शिवासायुज्यं निर्मलो निरुपप्लवः ।।' इति ।।५९।।

उत्थाप्य च[१] ततो नीत्वा मण्डलं तु प्रवेशयेत् ।

इन्द्रियाणां बाह्यप्रसरप्रशमनेन भगवदेकाग्रतामाधातुं बद्धनेत्रस्य मण्डलदर्शनमुचितमित्याह–

वस्त्रं सम्प्रोक्ष्य तोयेन कवचेनावगुण्ठयेत् ।।६०।।
पूजयेद्गन्धपुष्पाद्यैर्भैरवेणाभिमन्त्रयेत् ।
नेत्रे बद्ध्वा तु नेत्रेण पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ।।६१।।

नेत्रेणाभिमन्त्रिते[२] नेत्रमन्त्रोच्चारपूर्वं सर्वेन्द्रियप्रसरपुरःसरभूते[३] नेत्रे वद्ध्वा ।

शिष्यस्य ।

स च–

अकामान्निक्षिपेत्पुष्पं देवस्याभिमुखं स्थितः ।

तदनन्तरं बुभुक्षोः–

पुष्पपातवशान्नाम कुर्याद्वै साधकस्य च ।।६२।।

''शिवहस्त से आलब्ध देही अर्थात् साधक जीव बन्धन से सर्वथा विनिर्मुक्त हो जाता है । निर्मल और निरुपद्रव स्थिति में वह साधक शिव सायुज्य प्राप्त करता है'' ।।५९।।

इस विधि के पूर्ण होने पर दीक्ष्य शिष्य को वहाँ से उठाकर पूर्व मण्डल में प्रवेश करावें । इस अवसर पर शिष्य के वस्त्रों का भी सम्पोक्षण कर लेना चाहिये और उसे कवच से अवगुण्ठित करना चाहिये ।।६०।।

गन्ध पुष्प आदि से शिव रूप में ही उसकी पूजा करने के उपरान्त भैरव मन्त्र से उसे अभिमन्त्रित करना चाहिये । इसके उपरान्त उसके नेत्रों पर पट्टी बाँध देनी चाहिये । पट्टी बाँधने के बाद उसकी अञ्जलि में फूल देने या रखवाने चाहिये । नेत्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए आखों को बाँधना शिष्य के असामान्य दर्शन की भूमिका माना जाता है ।।६१।।

आँख पर पट्टी बँधी हुई अवस्था में ही शिष्य अपने हाथों से बिना किसी कामना के शान्तिपूर्वक देव के अभिमुख भाव का अनुसन्धान करते हुए फूलों को उसी दिशा में फेंकने का कार्य करे । पुष्प के प्रक्षेप को उसके गुरु आचार्य सभी देख रहे हैं । इसलिये उसके पतन की दूरी और तज्जन्य शास्त्रों के निर्देश के

१. ख.घ.ङ.पु.तं तत इति पाठः । २. क.ख.ग.पु. मन्त्रितेनेति पाठः ।
३. क.ख.पु. भूतेनेति पाठः ।

वक्त्राङ्गादिपूर्वं शिवान्तं पुंसः, स्त्रियस्तु शक्त्यन्तम् ॥६२॥

यस्तु निष्कामस्तस्य–

मुमुक्षोर्गुरुरिच्छातः

यथारुचि कुर्याद्वा न वेत्यर्थः[१]।

पूर्वोक्तस्य साधकदीक्षादीक्ष्यस्य–

नाम वै साधकस्य वा ।

वाशब्दो निश्चये कुर्यादेवेत्यर्थः ।

अथ–

मुखमुद्घाट्य तं शिष्यं शिवाय प्रणिपातयेत् ।।६३।।

शाक्तमार्गोद्घाटनव्याप्त्या मुखमस्य लाघवेनोद्घाटयेत् यथासावुद्भूतफुल्लन्यायेन विकसतीति गुरवः ॥६३॥

किञ्च,

प्रदक्षिणमतः कृत्वा [२]मण्डलेऽग्नौ प्रणम्य च ।
अग्निकुण्डसमीपे तु आचार्यः पशुना सह ।।६४।।

अनुसार गुरुदेव उस साधक शिष्य का नामकरण करें । नामकरण में वक्त्र और अङ्गों के वाचक शब्दों के साथ अन्त में शिव शब्द का प्रयोग होना चाहिये । जैसे वामदेव शिव सभी शिष्य के नाम के अन्त में और स्त्रीशिष्य के नाम के अन्त में शिवा शब्द का प्रयोग होना चाहिये ॥६२॥

ऐसा शिष्य जिसे कोई चाह नहीं, जो मुमुक्षु है, उसका नाम गुरु की इच्छा पर निर्भर रहता है । इच्छा के अनुसार गुरु नया नाम रखे या नहीं । किन्तु साधक दीक्षा के अनुसार बुभुक्षु दीक्ष्य का नामकरण तो करना ही चाहिये । 'वै' अव्यय तो कहता है कि, नाम निश्चय रूप से रखना चाहिये ।

नामकरण के तुरत बाद अकस्मात् तत्काल उसकी आँख की पट्टी खोल देनी चाहिये । जिससे वह शैवतादात्म्य की भावना से उस समारोह का दर्शन कर शैव सामरस्य रस से अभिषिक्त हो सके । इसके बाद गुरुदेव उसे शिव के समक्ष प्रणिपात करावें । इससे उसके विकास का मार्ग प्रशस्त हो जाता है ॥६३॥

शिष्य अपनी प्रणिपात प्रक्रिया के उपरान्त मण्डल की प्रदक्षिणा करता है । अग्नि को अपनी श्रद्धा अर्पित करता है । अग्निकुण्ड के पास ही शिष्य है, वहीं आचार्य भी हैं । ये दोनों साथ ही इस विधि विधान को सम्पन्न कर रहे हैं ।

---

१. ख.पु. न कुर्यादिति पाठः २. ख.ग.घ.ङ.पु. कलशे इति पाठः ।

भवेदिति शेषः । प्रदक्षिणादिकर्तृत्वं द्वयोरपि । अत्र च पूर्वोक्ता कराकर्षणयुक्तिः स्मर्तव्या ॥६४॥

आत्म[1]सव्येऽथ दिग्भागे मण्डलं प्रणवेन तु ।
पूर्वन्नाडिसन्धानं तदर्थं चाहुतित्रयम् ॥६५॥
सम्पाताभिहुतिं कृत्वा अणुतर्पणमेव च ।
पूर्णाहुतिं ततो दत्त्वा प्रायश्चित्तानि होमयेत् ॥६६॥

'पिङ्गला मध्यमा नाडी शिष्यदेहाद्विनिर्गता ।' (स्व. ३/१४९)

इति प्रागुक्तस्थित्या शिष्यकरगुरुजङ्घासङ्घातदर्भयुक्त्या नाडीसन्धानम्, अणवो मूलाद्या मन्त्राः ॥६६॥

एतत् कृत्वा–

धाम्ना चाष्टाशतं पश्चात् पातयेदाहुतित्रयम् ।
जात्युद्धारे ध्रुवेणैव द्विजत्वापादने तथा ॥६७॥

ध्रुवं प्रणवमुच्चार्य 'अमुकस्य जात्युद्धारं करोमि स्वाहा' इति प्रयोगेण पशुदेह-सम्बद्धाया जातेरुद्धारे तिस्र आहुतीः पातयेत् । ततोऽपि 'द्विजत्वापादनं करोमि स्वाहा' इति प्रयोगेण भाविरुद्रांशापादनयोग्यतार्थाचिन्त्यशक्तिभिः मन्त्रैः शुद्धविद्यापदजनन-

---

कराकर्षण व्यापार का ज्ञान, क्रिया शक्तियों के आकर्षण के लिये होता है । यह उभय की सहभागिता को ही व्यक्त करता है । यह व्यावहारिक तथ्य है ॥६४॥

तृतीय पटल की उक्तियों का सन्दर्भ ध्यान में रखकर भगवान् कह रहे हैं कि, अपने सव्य दिग्विभाग में (३/१४७) शिष्य को बिठाकर यह कल्पना करते हैं कि, यह अतरुणीभूत शिवरूप में ही शोभायमान है । प्रणव मन्त्र से पूरे मण्डल को अभिमन्त्रित करते हैं । वहीं (३/१४९) नाडी सन्धान सम्पन्न करते हैं । इसके लिये तीन आहुतियाँ अग्नि में अर्पित करते हैं ॥६५॥

सम्पात की इन आहुतियों के उपरान्त अणु अर्थात् बीज मन्त्रों से तर्पण करना चाहिये । इसके बाद पूर्णाहुति प्रदान करनी चाहिये । तत्पश्चात् प्रायश्चित होम भी कर लेना उचित माना जाता है । इस सन्दर्भ में ६५वें श्लोक में नाडी सन्धान की जो चर्चा की गयी है, वह तृतीय पटल के एक सौ उन्चासवें श्लोक में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार ही सम्पन्न की जाती है । इसमें दर्भों का विशिष्ट प्रयोग ध्यातव्य है ॥६६॥

इसके बाद धाम मन्त्र से अष्टोत्तर शत हवन करना चाहिये । इसके बाद पुनः तीन आहुतियाँ देने का विधान है । तत्पश्चात् जात्युद्धार क्रिया की जाती है । इसका मन्त्र है–

---

१. क.पु. अपसव्ये इति पाठः ।

योग्यतात्मकद्विजत्वापादनायाहुतीस्तिस्रः पातयेत् । अतश्च यत्किंचिदूचुः-द्विजत्वापादनमेतन्न वर्तमानशरीरविषयम् । तत्र तद्द्रव्या (देहा) श्रिताया: शूद्रादिजातेरेव स्थितत्वात् द्विजत्वजातेश्च परस्या नित्याया जन्यत्वाभावादिति कर्मान्तरवशसम्भाव्यमानद्विजदेहापेक्षयैवैतदष्टाचत्वारिंशत्संस्कारापादनेन द्विजस्यैव कार्यमिति तदेषां जातिग्रहग्रस्ततयाननुन्मिषिताविवेकत्वादविदितपरमेशशास्त्रार्थसतत्त्वमभिधानमुपेक्ष्यमेव ।

"ॐ अमुकस्य शिष्यस्य जात्युद्धारं करोमि स्वाहा" इस मन्त्र से शिष्य की पूर्व जाति का उद्धार हो जाता है । इसी मन्त्र से तीन आहुतियाँ दी जाती हैं । इसके बाद शिष्य में द्विजत्व की प्रतिष्ठा की जाती है । द्विजत्व की प्रतिष्ठा भी ध्रुव मन्त्र अर्थात् प्रणव मन्त्र से ही की जाती है । इसका मन्त्र है–"ॐ अमुक शिष्ये द्विजत्वापादनं करोमि स्वाहा" । इसके लिये भी तीन आहुतियाँ दी जाती हैं ।

माया का प्रभाव निरोधिनी पर्यन्त अप्रतिरुद्ध भाव से भावित करता है । उसके ऊपर शुद्धविद्या का स्तर आता है । उसमें पहुँचने की योग्यता साधक को अपने में लानी पड़ती है । इसके लिये गुरु कृपा और शक्ति की आवश्यकता होती है । द्विजत्व के आपादन से भी यह सम्भव है । इन सब की पूर्त्ति के लिये भी तीन आहुतियाँ अग्नि के लिये अर्पित करनी चाहिये ।

द्विजत्व का आपादन क्या वर्त्तमान प्राप्त शरीर से किसी प्रकार सम्भव है ? इस पर दूसरा पक्ष कहता है कि, नहों वह इस शरीर का विषय नहीं है । इसका कारण है । यह शरीर हमें प्राप्त है । इसमें लाखों अणु परमाणु परस्पर जुटकर आङ्गिक प्रक्रिया पूरी करते है । ये सभी द्रव्य हैं । यही देह रूप में साकार हैं । इनमें जातिगत संस्कार भरे पड़े हैं । मान लीजिये एक शूद्र शरीर है । उसमें सारे अणु परमाणु रूप मेदस-मज्जा-अस्थि आदि द्रव्य भरे पड़े हैं । उनके संस्कार भी ऐसे ही हैं । उनमें शूद्र जातित्व स्थित है ।

द्विजत्व जाति इसके अतिरिक्त है । जन्म से प्राप्त है । मृत्यु पर्यन्त वही स्थिर है । इसमें जन्यत्व का अभाव है । ऐसी दशा में कोई शूद्र शरीरधारी कर्मान्तर की प्रक्रिया अपनाता है । इससे सम्भाव्यमान द्विज देह की अपेक्षा, जो अड़तालिस संस्कार अपनाये जाते हैं, वे तो निश्चय है कि, द्विज के ही होते हैं । ये दोनों बातें या अवस्थायें जाति ग्रह से ग्रस्त हैं । ऐसी दशा में विवेक के उन्मेष की कोई सम्भावना नहीं रह जाती । विवेक के इस प्रकार अनुन्मिषित रहने पर अर्थात् विवेक के जागृत न रहने पर इस परमेश्वर शास्त्र का रहस्य भी रहस्य ही रह सकता है ।

यतो भाविद्विजदेहविषयमेतदित्यत्रार्थे [१]श्रुतिरस्ति । यथा च वर्तमानस्य पशुशरीरस्याचिन्त्यशक्तिमन्त्रप्रभावात् दाहादिकं जात्युद्धारश्च क्रियते तथा शुद्धतत्त्वमय-देहान्तरोत्पत्तिर्द्विजत्वापादनं च यद्यन्तजात्या (न्त्यजा) देरपि क्रियते तत्र काचिदनुपपत्तिः, श्रुतिस्तर्ह्यत्रार्थे यथाभिहितरूपा सेतिकर्तव्यता [२]स्पष्टैवास्ति । श्रूयते हि एतद्यथाद्यापि योगिन्यो मन्त्रादिप्रभावेन देहजात्यादि आत्मनः परस्य च परिवर्तयन्तीति ।

माहेश्वरे च नये तदुक्तप्रक्रिययापि शिवपुंमायाभ्योऽन्यत्तत्त्व-जात्यादि सर्वमेवा-नित्यम् । यत् तु भुवनाध्वनि अष्टचत्वारिंशत्संस्काराधानेन द्विजत्वापादनं क्रियते तत्पुत्र-कस्य वागीश्यां गर्भाधानादियुक्त्या तत्तत्त्वसम्भाव्यमानभूतसर्गभोगशुद्धिमध्ये द्विजभोग[३] शुद्ध्यर्थम् । इदं तु समयिनो वर्तमानदेहविषयं तस्य तत्त्वशुद्धेरचोदितत्वात् ।

अर्थात् ऐसी दशा में शैवमहाबोध असम्भव ही रह जाता है । अतः इस प्रकार के उलझे हुए द्विजत्वापादन आदि प्रश्नों की उपेक्षा ही करनी चाहिये । क्योंकि यह भविष्य में सम्पन्न होने वाले शरीर से सम्बन्धित विषय हैं ।

इस प्रयोग से शिष्य में रुद्रांश के आपादन की योग्यता और मन्त्रों द्वारा अनिर्वचनीय मान्त्रिक शक्ति के उल्लास को बल मिलता है ।

वर्त्तमान शरीर को हम पशु शरीर मानते हैं । पशु एक पारिभाषिक शब्द है । जिसे शैव महाबोध नहीं प्राप्त है, वह पाशों से बद्ध रहने के कारण पशु, सङ्कोच के कारण अणु और अबोधता के कारण पुद्गल कहलाता है । ऐसे पशु शरीर प्राप्त अणु (जीव) पुरुष के शरीर को अचिन्त्य मन्त्र शक्ति के प्रयोग से दाह दग्ध करते हैं और उसकी जाति का उद्धार करते हैं ।

पुनः यह प्रार्थना करते हैं कि, इस जीव को शुद्धतत्त्वमय शरीर प्राप्त हो । शुद्धतत्त्वमय शरीर प्राप्ति द्विजत्वापादन से सम्बद्ध है । यह बात यदि अन्त्यज भी करता है,तो इसमें किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती । एतद्विषयक श्रुति का भी कोई मतभेद नहीं रह जाता ।

गुरु परम्परा से यह प्राप्त एक रहस्य की बात आज भी सुनी जाती है कि, योगिनी शक्तियों में ऐसी चमत्कार करने की शक्ति होती है कि. वे मन्त्र शक्ति के बल से देह और जाति आदि का परिवर्त्तन कर देती हैं । अपने में भी ऐसा परिवर्त्तन वे कर सकती हैं । दूसरों में भी इस प्रकार करने की शक्ति उनमें होती है । यह परम्परा प्राप्त श्रुति है ।

---

१. ख.ग.घ.ङ.पु.न श्रुतिरिति पाठः । २. ख.पु. सृष्टेति आमृष्टेति च पाठः प्रतिभाति ।
३. ख.ग.पु. भूतशूद्धीति पाठः ।

अतश्चैतदेव यतो दीक्षितानाम्–

'एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाव्यया ।' (स्व. ४/५४१)

इति वक्ष्यमाणस्थित्या न शूद्रादिजातीयत्वमस्ति, प्रत्युत प्राग्जात्युदीरणात् प्रायश्चित्तत्वं शास्त्रसमये स्थितानामुक्तम्, द्विजस्यापि चैतदलौकिकं द्विजत्वापादनं कार्यमेव । यत्तु–

'...........येनेदं तद्धि भोगतः ।' (किरणा०)

इति देहस्थित्या[१] वर्तमानदेहे मन्त्रयोजनं (न) कार्यमित्याहुः, तदारब्धदेहकर्मशुद्ध्यर्थं न कार्यमिति यद्युच्यते तद्युक्तम्, शोषदाहाप्यायजात्युद्धाराद्यर्थं तु वर्तमानदेहेऽपि चोदितत्वात् कर्तव्यमेव ।

द्विजत्व का आपादन एक विवादास्पद प्रश्न है । जाति को जन्म से मानने वाले लोग इसे स्वीकार नहीं करते । जन्म से जाति मानी जाय या कर्म से मानी जाय ? यह प्रश्न यहाँ छोड़ दिया गया है । यहाँ द्विजत्वापादन ही समस्या है । इसका ऐसा समाधान जिसे सबलोग एक स्वर से स्वीकार करें, यह सम्भव नहीं । इसीलिये आचार्य क्षेमराज इस सम्बन्ध में जो विचार उस समय उठ रहे थे, उनको यथावत् विस्तार पूर्वक प्रस्तुत कर रहे हैं–

माहेश्वर सम्प्रदाय में यह स्पष्ट मान्यता है कि, कोई भी प्रक्रिया अपनायी जाये, कुछ भी घटित कर दिया जाये या कोई भी चमत्कार योगिनियाँ कर दें, वास्तविकता यही है कि, शिव, नर, और शक्ति के अतिरिक्त सभी तत्त्व और जाति आदि अनित्य हैं । भुवनाध्वा के सन्दर्भ में अड़तालिस संस्कारों के माध्यम से द्विजत्व के आपादन की जो प्रक्रिया अपनायी जाती है, उसमें पुत्रक दीक्षा में वागीशी शक्ति में गर्भाधान आदि की युक्ति अपनायी जाती है । उसका उद्देश्य यह होता है कि, भविष्य में घटित होने वाले भूतसर्ग के भोगों की शुद्धि हो सके । भूतसर्ग के अदृश्य संस्कारों को समाप्त कर शुद्धि पूर्ण संस्कार भरे जा सकें । उसी से द्विजभोग भी शुद्ध हो सकें ।

यह सन्दर्भ समयीदीक्षा का है और वर्त्तमान शरीर से सम्बन्धित है । इसकी तात्त्विक शुद्धि तो देहपात के बाद ही सम्भाव्य है । इसीलिये इस शरीर की शुद्धि के लिये धाममन्त्र का ही प्रयोग अपेक्षित है । शास्त्र इसके लिये साग्रह प्रेरित नहीं करता । इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर इसी पटल के श्लोक पाँच सौ इकतालिस में यह निर्दिष्ट किया गया है कि,

''वस्तुत एक मात्र अव्यय अर्थात् सनातन शास्त्रीय जाति भैरवीया शिवमयी जाति ही जाति संज्ञा से विभूषित की जा सकती है ।।''

---

१. ख.पु. स्थित्येति पाठः ।

अन्यथा—

'मन्त्रशक्तिभिरुग्राभिः शोषनिर्दहनादिभिः ।
शरीरं शोषितं [१]यस्मात्तदर्थमभिषेचनम् ॥' (स्व. ४/४४७)

इत्यसंगतं स्यात् ॥६७॥

इस दृष्टि से शूद्र जैसी जाति सत्ता का कोई अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता । यही तथ्य उस समय प्रमाणित हो जाता है, जब शास्त्र यह आदेश देता है कि, पहली जाति के स्मरण करने पर भी प्रायश्चित्त करो । शास्त्र की मान्यता को आदर्श मानकर चलने वाले ऐसा ही करते हैं । यदि कोई द्विज भी इस शास्त्र का अनुगामी बनता है, तो यह भी इस शास्त्र में निर्दिष्ट अलौकिक द्विजत्व को ही आपादित करता है । 'किरणा' नामक शास्त्र में एक उक्ति है–

"जिससे इस शरीर की प्राप्ति है, वह भोगवाद पर ही आधारित है"।

इसलिये जब कभी भी अतीत में भी जन्म में शरीर मिला होगा, या वर्त्तमान प्राप्त इस शरीर का अस्तित्व भी कर्मभोग पर ही निर्भर है । कोई इसकी शुद्धि के लिये मन्त्र प्रयोग करे तो करे । वास्तविकता यही है कि, भोग के बाद कर्म क्षय के बाद सच्ची शुद्धि सम्भव है । मन्त्र योजना से भले भोग कुछ टल जाये पर अन्त भले की बात ही हमेशा सोचनी चाहिये ।

इसलिये प्रारब्ध कर्म के अनुसार प्राप्त शरीर की शुद्धि के लिये मन्त्र प्रयोग न कर आचार शुद्धि पर ध्यान देना चाहिये यही बात है । हाँ आचार के नियमों में साधना कर्म के द्वारा मन्त्र से शरीर को सुखा देते हैं । फिर मन्त्र से उसे जलाकर राख कर देते हैं । पुनः वारुण मन्त्र से उसे बहा देते हैं और शरीर के अस्तित्व को आप्यायित करतेहैं । ऐसी साधना तो अवश्य करनी चाहिये । इस साधना द्वारा साधक भैरवीया शिवाजाति प्राप्त कर लेता है । यदि ऐसा नहीं मानेंगे, तो इसी पटल के श्लोक चार सौ सैंतालिस की यह उक्ति है–

"उग्रमन्त्र शक्तियों के प्रयोग द्वारा शोषण, निर्दहन (दाह) व्यापार के माध्यम से जिस शरीर को शुद्धि के लिये साधक ने उसके पूर्व क्रम में अवरोध पैदा कर दिया है, उसे ठीक करने के लिये अभिषेचन रूपी आप्यायन अवश्य करणीय है"।

यह असंगत हो जायेगी । इसलिये शास्त्र के मन्तव्य को ध्यान में रखकर गुरु के निर्देश में सावधानी बरतनी चाहिये ॥६७॥

---

१. शोष्यते ताभिरिति मूलस्थः पाठः ।

अत्र द्विजत्वापादने कर्तव्यान्तरमाह–

बीजाहारे तथा देशभावशुद्धौ द्विजो भवेत् ।

प्रणवपूर्वं 'बीजाहारदेशभावशुद्धिममुकस्य करोमि स्वाहा' इत्यत्र प्रयोगः । इह–

'ब्राह्मण्यं बीजशुद्ध्या स्यात् सा च स्त्रीषु व्यवस्थिता ।

तासां तु चपलं चित्तं चण्डालेष्वपि धावति ॥'

इति मुकुटसंहितोक्तन्यायान्न क्वचिद्बीजशुद्धिर्वास्तवी सम्भाव्यते, इति सा मन्त्रैरेव सम्पाद्या, आहारस्य श्रुतिस्मृत्युक्तप्रक्रियया अनिर्वाहादशुद्धिरस्ति, देशस्यापि म्लेच्छादिसम्पर्कात्, भावस्यासत्यानार्जवादियोगादिति शुद्धिराधेयैव ।

ये बातें द्विजत्वापादन के सन्दर्भ में उस समय के विचारकों को भी उलझन में डालती थीं । ये तथ्य आज की भी ज्वलन्त समस्या के रूप में समाज में उछल रही हैं । यह कैसे हो इसके लिये एक नये कर्त्तव्य की अवतारणा कर रहे हैं–

बीज, आहार, देश, भाव और काल आदि की शुद्धि के लिये नये मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिये । इसके लिये सामान्यतया मन्त्र सरलतया बनाते हैं । पहले ॐ लगाते हैं । पुनः जिसकी शुद्धि करनी है, उन शब्दों का प्रयोग करते हैं । अन्त में स्वाहा लगाते हैं । जैसे–

"ॐ बीजाहारदेशभावशुद्धिममुकस्य करोमि स्वाहा" इस मन्त्र से ही सामान्य शुद्धि हो जाती है । इस विषय में एक मुकुट संहिता नामक आगमिक शास्त्र की उक्ति भी ध्यान देने योग्य है । उसके अनुसार,

'बीज शुद्धि से ब्राह्मण्य की उपलब्धि होती है । यह बीज शुद्धि स्त्रियों पर ही निर्भर है । स्वाभाविक रूप से यह समझा जाता है कि, स्त्रीचित्त बड़ा भावुक होता है । वह अयोग्य और अनुरूप न रहने वालों के प्रति भी आकृष्ट हो जाता है ।'

इस उक्ति से तो बीज शुद्धि बड़ी कठिन असम्भव सी बात सिद्ध होती है । इसलिये यदि बीज शुद्धि करनी है, तो वह मन्त्रों के माध्यम से ही हो सकती है । आहार की शुद्धि श्रुतियों और स्मृतियों में कथित नियमों के पालन से सम्भव है । उन नियमों के अनिर्वाह से अशुद्धि होती है, यह भी स्वाभाविक है । जहाँ तक देश शुद्धि का प्रश्न है, यह सम्पर्क पर निर्भर है । दुष्टों से सम्पर्क से अशुद्धि अनिवार्य है । अतः महान् लोगों के सम्पर्क से ही महिमावान् बना जा सकता है । इसी तरह भाव शुद्धि की समस्या भी ज्वलन्त समस्या है । इसके लिये सत्य और सदाचार का आश्रय लेना चाहिये । इसके अतिरिक्त असत्य और अनार्जव से बचना भी अत्यन्त आवश्यक है । किसी भी कीमत पर स्वात्म में शुद्धि का आधान करना ही चाहिये । यही भारतीय दृष्टि है ।

अत्रैवमस्य मन्त्रैः शुद्धविद्यायां जननेनापादितलोकोत्तरद्विजत्वस्य–

प्रणवेनाहुतीस्तिस्त्रो रुद्रांशापादने तथा ।।६८।।

प्रणवपूर्णं 'रुद्रांशो भव स्वाहा' इति प्रयोगाद् भाविभैरवीभावभूमिकाग्रहणाय रुद्रांशत्वापादनमस्य कार्यं येनाधिगतशास्त्रार्थो रुद्रध्यानैकनिष्ठः स्यात् ॥६८॥

तत्रेतिकर्तव्यतां दर्शयितुमाह–

अस्त्रेण प्रोक्षयेच्छिष्यं पुष्पयुक्तेन ताडयेत् ।
रेचकेन ततो गत्वा शिष्यदेहे विशेद्धृदि ।।६९।।

पुष्पेति अस्त्रजप्तेन पुष्पेणेत्यर्थः । रेचकेनेत्यूर्ध्वमार्गिकेण ॥६९॥

द्विजत्वापादन के सम्बन्ध में विस्तार पूर्वक वर्णन करने के उपरान्त दो बातों पर विचार करना शेष रह जाता है । १–माया को ही मल कहते है । मल अज्ञान का ही पर्याय है । अज्ञान रूपी मल अशुद्धि उत्पन्न करता है । बीज, आहार, देश और भाव की शुद्धि हो जाने पर मन निर्मल हो जाता है । निर्मल मन से ही शुद्ध- विद्या के पावन क्षेत्र में प्रवेश मिलता है और साधक में लोकोत्तर पावनता का उन्मेष हो जाता है । इसके लिये गहरी सावधानी अपेक्षित है । २–दूसरी बात रुद्रांश के आपादन की है । शुद्ध विद्या में प्रवेश और रुद्रांश का आपादन दोनों एक सिक्के के दोनों पहलू के सदृश हैं । गुरु रुद्रांशापादन का मन्त्र बोलता है–

'ॐ रुद्रांशो भव' इस मन्त्र से ही तीन आहुतियाँ दी जानी चाहिये । भावी भैरवीय भूमिका के ग्रहण को ही लक्ष्य में रखकर यह कर्म काण्ड अपनाया जाता है । इससे साधक शास्त्रज्ञ बनता है और रुद्रध्यानैकनिष्ठ हो ज़ाता है ॥६८॥

आगे इस सम्बन्ध में क्या करना चाहिये ? इसका निर्देश कर रहे हैं–

अस्त्रमन्त्र से शिष्य का प्रोक्षण करना चाहिये । पुनः अस्त्रमन्त्र से अभिमन्त्रित पुष्प से उसका ताडन करना चाहिये । तदुपरान्त गुरु स्वयं ध्यानस्थ होकर चक्र भेद करते हुए पहले ऊर्ध्व भूमि में अवस्थित हो जावें । वहाँ से ऊर्ध्व रेचन प्रक्रिया अपना कर शिष्य के हृदय देश अर्थात् अनाहत चक्र में प्रवेश कर गुरुद्वारा शिष्य को अपने प्रभाव क्षेत्र में पूर्ण रूप से ग्रहण कर लेना चाहिये । यह दोनों प्रक्रियायें गुरु अपनाता है ॥६९॥

अथ तत्र–

ओंकारादि शिवं जप्त्वा अस्त्रमन्त्रं फडन्तगम् ।
विश्लेषकरणं कृत्वा चैतन्यस्य विधानतः ।।७०।।
छेदयेदस्त्रमन्त्रेण कवचेनावगुण्ठयेत् ।
अङ्कुशेन समाकृष्य द्वादशान्ते तु कारयेत् ।।७१।।
तत्रस्थः पुद्गलो ग्राह्यः सम्पुट्यैव ध्रुवेण तु ।
संहारमुद्रया सम्यक्

शिवं निष्कलम्[1], चैतन्यस्येति पुर्यष्टकरूपस्य, विधानत इति पूर्वोक्तरश्मिमात्रावियोगभावनया, अङ्कुशेनेति मूलमन्त्रस्य कुटिलकलाक्रमेण अङ्कुशमुद्राप्रदर्शनेन चेत्यर्थः । पुद्गलो जीवः, सम्यगिति स्वाभेदप्रतीतिदार्ढ्येन ।

यथोक्तं स्पन्दे–

'.........अयमेवात्मनो ग्रहः ।' इति ॥ (स्व. २/७)

ॐकार पूर्वक निष्कल भैरवमन्त्र का जप और अस्त्रायफट् पर्यन्त न्यास करना दूसरी प्रक्रिया मानी जाती है । इसमें चैतन्य का विश्लेषकरण भी सम्पन्न किया जाता है । चैतन्य पुर्यष्टक रूप से साकारता को प्राप्त करता है । यह तथ्य है कि, सारे देव परम चैतन्य के पुञ्जीभूत रश्मि रूप ही होते हैं । शिष्य के पुर्यष्टक की रश्मि रूपता का अनुसन्धान करने से स्वभावतः विश्लेषकरण सम्पन्न हो जाता है ॥७०॥

अस्त्रमन्त्र से वे परस्पर मिल नहीं पाते, वरन् परस्पर छिन्न ही रहते हैं । इसके बाद पूरे पुर्यष्टक को कवच से अवगुण्ठित कर देते हैं । अङ्कुश का प्रयोग मूल मन्त्र से करने से चैतन्यांश का आकर्षण हो जाता है । इससे ऊर्ध्वद्वादशान्त में पहुँच बन जाती है । शिष्य भी इस स्तरीय आनन्द से पुलकित हो जाता है ॥७१॥

इस प्रकार वहाँ विद्यमान वह पुद्गल मात्र पुद्गल नहीं रह जाता । उसमें चेतना की रश्मियों का चमत्कार भर जाता है । अब वह दीक्षा के लिये ग्राह्य हो जाता है । ध्रुव मन्त्र से उसे सम्पुटित कर देते हैं । संहार मुद्रा के प्रदर्शन से उसमें चैतन्यात्मक रश्मियाँ बोध का प्रकाश बन जाती है । इसी तथ्य को स्पन्द शास्त्र कहता है कि,

"इससे आत्म तत्त्व की विस्मृति का ध्वंस होता है और वास्तविक आत्मग्रह सध जाता है ।"

---

१. ख.पु. निष्कलनाथमिति पाठः ।

अथोर्ध्वकेन-

पूरकेण विशेद्धृदि ।।७२।।

स्वस्मिन् ।।७२।।

तत्र-

संस्कुभ्य[१] सरसीकृत्य रेचयेत्पुद्गलं पुनः ।
त्यजन्तं देवताषट्कं ततश्चापि स्वकं पदम् ।।७३।।

इसके बाद पूरक प्रक्रिया से अपने इस नव्य रूप में मूल हृदय में प्रवेश होता है । साधनात्मक प्रक्रिया का यह एक सफल प्रयास माना जाता है ।।७२।।

साधना प्रक्रिया का यह शब्द चित्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।प्रथमतः गुरु शिष्य के हृदय में प्रवेश कर गया है । वहाँ जाकर शिष्य को संस्कार पूर्वक क्षुभित करता है । अर्थात् शिष्य के शिशु अस्तित्व को संस्कृत करते हुए अपने अस्तित्व से आच्छादित कर लेता है ।

दूसरी प्रक्रिया के अनुसार गुरुशिष्य में विद्यमान भेदवाद का अपसारण करते हुए अभेद अद्वय सुधा से सिक्त कर शिष्य के अस्तित्व को सरस बना देता है । अभेद अद्वय अनुभूति के आनन्द में सामरस्य का महासागर भी लहराने लगता है ।

इसके बाद रेचन प्रक्रिया पूरी करता है । रेचन श्वास को बाहर निकालने की क्रिया के अर्थ में मुख्यतया प्रयुक्त होता है किन्तु यहाँ रेचन रिक्त करने अर्थ में प्रयुक्त है । पुद्गल दशा में शिष्य आवरणों से आवेष्टित रहता है । वे आवरण यहाँ शिष्य की योग्यता और गुरुदेव के अनुग्रह की आग से झुलस जाते हैं । अतः ऊपर से उनको हटाना ही रिक्त करना या रेचित करना है । इस तरह आवरणों के निराकरण से शिष्य प्रकाश रश्मियों से शोभायमान हो उठता है ।

चौथी क्रिया छः देवताओं के पड़ावों को पार कर ऊपर उठने की है । एक के बाद एक के ऊपर उठने के फलस्वरूप निचले का परित्याग होता रहता है । यह स्वाभाविक भी है । यहाँ छः देवताओं के रूप में चक्रों में अवस्थित देवों को ही स्वीकार करना चाहिये । ये देव हैं- १-ब्रह्मा, २-विष्णु, ३-रुद्र, ४-ईश्वर (ईश या ईशान), ५-सदाशिव, ६-शिव ।

इन देवों के अवस्थान के विषय में योगियों और साधकों में मतभेद है । इसमें सौर और चन्द्रदृष्टि भी अपनायी जाती है । वस्तुतः प्राण सूर्य और अपान चन्द्र है । उदान वायुकी प्रेरणा से क्रमशः जब प्राणश्वास उन्मना में विश्राम कर

---

१. क. संकुभ्येति पाठः ।

समरसीकरणं वक्ष्यमाणस्वाभेदापादनम्, रेचनमूर्ध्वोद्वेष्टनक्रमेण, देवता ब्रह्मविष्णु-रुद्रेश्वरसदाशिवशिवाख्या हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटब्रह्मरन्ध्रगाः, तत्त्याग एव शिष्यस्य तदधिष्ठिताध्वनि विश्लेषयोग्यताधानहेतुः, स्वामिनि जिते स्वस्यापि जयात्, स्वकं पदं भ्रूमध्यम् । यद्वक्ष्यति–

'ऐश्वरं लभते पदम् ।' (स्व. ४/७९)

इति, तन्नये[1] तु तत्पदप्रापकात् तदाराधनाद्योग्यतामस्यादधीत । यदुक्तं मृगेन्द्रायाम्–

'इति सामयिकं कर्म..........।'

इत्युपक्रम्य

'यत्राप्य योग्यतामेति..........॥'इति ॥७३॥

नीचे उतरता है, तब १–ब्रह्मरन्ध्र, २–ललाट, ३–भ्रूमध्य, ४–तालु, ५–कण्ठ (विशुद्ध), ६–हृत् (अनाहत) का क्रम अपनाना पड़ता हैं । आचार्य क्षेमराज के अनुसार ये ही १–हृत्, २–कण्ठ, ३–तालु, ४–भ्रूमध्य, ५–ललाट और छठें ब्रह्मरन्ध्र के क्रम हैं । दूसरी सौर मान्यता के अनुसार, १–ब्रह्मा-मूलाधार, २–विष्णु-स्वाधिष्ठान, ३–रुद्र मणिपुर, ४–ईश्वर-अनाहत, और ५–सदाशिव विशुद्ध चक्र में अवस्थित हैं । छठाँ स्थान भ्रूमध्य है । यहाँ आज्ञा चक्र माना जाता है । इसमें शक्ति और शिव का उल्लास ॐकार के रूप में माना जाता है । तन्त्र-मातृका-सिद्धान्त के अनुसार 'ओ' त्रयोदश धाम और 'औ' चतुर्दश धाम माना जाता है । ओङ्कार आज्ञा का बीज है । यह शाक्त धाम है । इन छः धामों को त्यागकर सातवें में लय होता है । सिद्धान्त वाक्य है–'षट्त्यागात् सप्तमे लयः'। इस तरह ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर 'स्वकं पदं' की उपलब्धि होती है । यहाँ स्वकं पदं को भ्रूमध्य लिखा है । वस्तुतः शक्ति दशा शिव से अवियुक्त दशा मानी जाती है । कहा गया है कि, 'अवियुक्तो यया प्रभुः' अर्थात् शक्ति से शिव किसी अवस्था में वियुक्त नहीं होते । इस दृष्टि से इसकी संगति बिठलायी जा सकती है ।

इसी साधना के ऊच्चस्तर पर १–बिन्दु, २–नाद, ३–नादान्त, ४–शक्ति, ५–व्यापिनी और ६–समना इन छः पड़ावों को पार कर सातवें उन्मना चक्र में लय होता है । 'षट् त्यागात् सप्तमे लयः' वहाँ भी लागू होता है । उन्मना में परा देवी और परम शिव का अभिमर्श होता है ।

शिष्य के सम्बन्ध में उक्त श्लोक चक्रभेदन की प्रक्रिया का ही पर्याय व्यक्त कर रहा है ।

---

१. घ.ङ.पु. तत्र हेतुरिति पाठः ।

तत्रस्थं पुद्गलं गृह्य संपुट्य च भवेन तु ।
संहारमुद्रयोद्धृत्य शिष्यस्य हृदि योजयेत् ।।७४।।
भैरवेणाभिमन्त्र्य

भवेन भैरवेणेति निष्कलेनाभिमन्त्रणं च सप्तवारानित्याहुः । तदेतावत्पर्यन्तो रुद्रांशापादनाय ग्रन्थो न तु द्विजत्वापादनायेति भ्रमितव्यम् ।।७४।।

द्विजत्वापादने तु पूर्वोक्ते वक्तव्यशेषमाह–

एवमुपवीतं शिशोर्ददेत् ।

• स्वच्छन्दतन्त्र का ४-७९ का उद्धरण का ऐश्वर पद ऐश्वर्य की वह अवस्था है, जहाँ चेतना की व्याप्ति में आनन्द लहराता रहता है । उस व्याप्ति को ही ऐश्वर पद से अभिहित किया गया है । इस तरह गुरुदेव द्वारा प्रेरित और स्वतः सक्रियता के इस साधना द्वारा शिष्य में एक विशिष्ट योग्यता का प्रस्फुटन होता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि, शिष्य गुरु की कृपा से इस योग्यता से सम्पन्न हो गया है ।।७३।।

मृगेन्द्रतन्त्र के अनुसार यह सामयिक कर्म है । इसे पूरा करने पर शिष्य अब योग्य हो गया है । अब वह 'पुद्गल' नहीं रह गया है । फिर भी भगवान् भैरव की दृष्टि में शिष्य को पुद्गल कहना असंगत नहीं कहा जा सकता । इस तरह स्वकं पदं को प्राप्त कर लेने वाले शिष्य को अच्छी तरह से गृह्य अर्थात् सावधान कर ' भव मन्त्र से संपुटित करना चाहिये । भवमन्त्र अघोर मन्त्र ही है । मेरी दृष्टि से भव मन्त्र शिवाभिमर्षिणी विद्या है । उससे संपुटित या पूरी तरह शिष्य को वेष्टित ही करना चाहिये । यहाँ निष्कल भैरव मन्त्र को ही भवमन्त्र लिखा है । संपुटित करने के लिये सात बार मन्त्र पाठ करने को कहा गया है ।

संहार मुद्रा से उद्धार कर शिष्य के हृदय में भैरवभाव का योजन करने के बाद उसका भैरव अभिमन्त्रण करना चाहिये । यह सारी प्रक्रिया जो यहाँ तक वर्णित की गयी है, वह केवल रुद्रांशत्व के आपादन के लिये ही की गयी है । यहाँ द्विजत्व के आपादन का कोई प्रसङ्ग नहीं है ।।७४।।

द्विजत्व आपादन के सम्बन्ध में अभी कुछ कहना अवशेष रह गया था । उसे ही यहाँ कह रहे हैं–

भैरव मन्त्र से अभिमन्त्रित कर शिशु को अर्थात् दीक्षा के लिये तैयार उस शिष्य को उपवीत देना चाहिये । यह ध्यातव्य है कि, माया के ऊर्ध्वस्तर पहुँचे हुए उस शिष्य में शुद्ध विद्या पद पर पहुँचने की योग्यता उत्पन्न हो गयी है ।

एवमिति भैरवेणाभिमन्त्र्य मन्त्रशक्त्यैव इदानीं शुद्धविद्यापदोद्भवात्मकद्वितीय-जन्मयोगाद् द्विजत्वं भवति । उपवीतमिति, उपआत्मसमीपे विशेषणे[१] मन्त्रसामर्थ्यात्मना इतं वीतं च शुद्धमनन्तमन्त्रदैवतव्यापकशुद्धविद्यात्मकशक्तिसूत्रप्रतिकृतिरूपमेत[२]दुप-वीतम् ।

दत्तोपवीतो हि असौ–

आधानाद्यावदन्त्येष्टिं द्विजत्वे संस्कृतो भवेत् ।।७५।।

गर्भाधानादयो वक्ष्यमाणाश्चत्वारिंशच्छुद्धविद्योद्भवात्मकप्रोक्तद्वितीयजन्मोपयोगाय, ते [१]च मन्त्रशक्त्यैव सिद्ध्यति ।।७५।।

एतच्चत्वारिंशता संस्कारैः–

पिण्डस्यापादनं जातेः

यह योग्यता मन्त्रशक्ति के माध्यम से ही प्राप्त होती है । भैरव मन्त्र में इतना सामर्थ्य है कि, शिष्य को माया पद से शुद्ध विद्या पद पर पहुँचा सका । यह एक प्रकार से उसका दूसरा जन्म ही है । यही द्विजत्व का आपादन है ।

यहाँ उपवीत का अर्थ भी यज्ञोपवीत नहीं है । वरन् उप अर्थात् आत्मा को सामीप्य में अवस्थित रह कर और उसके पास में इत अर्थात् पहुँच कर वीत अर्थात् अत्यन्त शुद्ध हो जाता है । इस प्रकार शुद्ध भाव से शुद्ध विद्यात्मक शक्ति-सूत्र की प्रतिकृति रूप उपवीत ही उसे पहनाना चाहिये । अर्थात् आचार्य उसे इस प्रकार की योग्यता से सम्पन्न बना दे कि, उसका शुद्ध विद्यापद की प्राप्ति के रूप में दूसरा जन्म ही हो जाय ।

उपवीत से इस अलौकिक रूप से समन्वित रहने के कारण वह गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त के चालिस शुद्धविद्योद्भव संस्कारों से संस्कृत हो जाता है । यह सारी शक्ति मन्त्रशक्ति के बलपर ही उसे प्राप्त होती है ।।७५।।

इन उक्त चालिस संस्कारों से किसी पिण्ड को जाति का आपादन हो जाता है । अर्थात् संस्कारों से संस्कृत शिष्य द्विजत्व को प्राप्त कर लेता है । इस प्रक्रिया की पूर्त्ति के लिये कम से कम तीन आहुतियाँ देनी चाहिये । इस प्रकार शिष्य में एक विशिष्ट चैतन्य का उद्भव होता है । प्रश्न है कि, क्या चैतन्य के उद्भव के बाद संस्कार की आवश्यकता नहीं होती ? इसका उत्तर देते हुए कह रहे है कि,

---

१. ख.ग.घ.ङ.पु. विश्लेषेणेति पाठः ।

२. ख.पु. रूपमेवैतदिति पाठः ।

३. ख.घ.ङ.पु.ते. चेहेत्येवंविधः पाठः ।

भवतीति शेषः ।

कथमित्याह–

आहुतित्रितयेन तु ।

पूर्वं निर्णीतेनैव इत्यर्थः ।

न केवलमियता संस्कारैः पिण्डस्य जात्यापादनं यावत्–

चैतन्यस्यापि संस्कारमाधानान्त्येष्टितः परम् ।।७६।।
सूक्ष्मविज्ञानतः कृत्वा द्विजत्वे संस्कृतो भवेत् ।

आधानेनादिभाविना सहितः पर्यन्तवर्ती अन्त्येष्ट्यात्मा चत्वारिंशः संस्कारः, ततः परं वक्ष्यमाणं दयाक्षान्त्याद्यात्मकात्मगुणसंस्काराष्टकं सूक्ष्मविज्ञानत इति भावनया । एवं द्विजत्वापादनार्थं यथोक्तं निर्वर्त्योक्तसतत्त्वं रुद्रांशापादनं कर्तव्यम् ।।७६।।

तदन्तेऽपि–

शतहोमं सहस्रं वा हुत्वा पूर्णाहुतिं ततः ।।७७।।

दद्यादिति शेषः । शतादिहोमो मूलमन्त्रस्य तदङ्गानां तु दशांशः इति स्थितमेव ।।७७।।

तदिदमुपसंहरति–

समयी संस्कृतो ह्येवं

एवमिति जात्युद्धारद्विजत्वरुद्रांशापत्तिभिः समयी समयः पारमेशशास्त्रमर्यादावर्तनमस्यास्तीति कृत्वा ।

चैतन्य का भी संस्कार करना चाहिये । चालिस संस्कार गर्भाधान से अन्त्येष्टि पर्यन्त मान्य हैं । इन संस्कारों में मन्त्रों का सूक्ष्म विज्ञान ही काम करता है ।

इस तरह इनमें दया, क्षान्ति आदि आठ आत्मिक गुणों और संस्कारों का उदय, संवर्धन और पुष्टिकरण हो जाता है । यह उसी सूक्ष्म विज्ञान का प्रभाव माना जाता है । इस तरह द्विजत्वापादन और रुद्रांशापादन की सारी प्रक्रिया आचार्य पूरी करता है ।।७६।।

इसके अन्त में अष्टोत्तर शत आहुतियाँ देने का विधान है । शिष्य में भावना का प्राबल्य हो तो, वह एक हजार आठ आहुतियाँ भी अर्पित कर सकता है । अन्त में पूर्णाहुति करते हैं । यह होम मूल मन्त्र से होना चाहिये । अङ्गों में दशांश हवन ही सम्पन्न करना चाहिये ।।७७।।

समयी दीक्षा के लिये तत्पर इस प्रकार से संस्कार सम्पन्न होता है । इसमें तीन क्रियाओं का ही प्रामुख्य रहता है । १–जात्युद्धार, २–द्विजत्वापादन और ३–रुद्रांशापादन । इन तीनों से परमेश्वर शास्त्रीय मर्यादाओं का सम्यक् रूप से पालन हो जाता

यदाह–

वाचनेऽस्यार्हता भवेत् ।
श्रवणेऽध्ययने होमे पूजनादौ तथैव च ।।७८।।

वाचनं बुद्ध्याद्यारोहायावर्तनम्, श्रवणमर्थावबोधः, अध्ययनं वेदवत्सततपाठ आगमग्रन्थस्य, आदिशब्देन जपध्यानादयः ।।७८।।

इत्थमयं समयी–

चर्याध्यानविशुद्धात्मा लभते पदमैश्वरम् ।

चर्याध्यानाभ्यां समयपालनयोगाभ्यासाभ्यामेव विशुद्ध आत्मा यस्य । दीक्षया हि अस्याध्वशुद्धियोजनेन विना ईश्वरयोगयोग्यतैवाहितेति तद्योगादेव अस्य पाशशुद्धावीश्वर-पदाप्तिः । अतश्च यत्कश्चिदीश्वरतत्त्वयोजितस्यास्य पुत्रकादिदीक्षायामधरपदशोधनं न युक्तम् इति ईश्वरपदं

'शुद्धभावस्थितस्यास्य कालरुद्रं निधापयेत् ।'

है । इससे शिष्य में बुद्धि के आरोह के उद्देश्य से किये गये वाचन का विस्रम्भ उत्पन्न हो जाता है । यह उसकी योग्यता का प्रमाण है । सुनते ही शब्दों के रहस्य का उद्घाटन हो जाता है । पढ़ते ही आगमिकता का अवगम हो जाता है । होम और पूजन सम्बन्धी तथा जप और ध्यान सम्बन्धी विधियों की विज्ञता होती रहती है ।।७८।।

इस प्रकार यह समयी शिष्य चर्या में चतुर, ध्यान में विदग्ध और अभ्यस्त होकर निर्मल अन्तःकरण महात्मा कहलाने का अधिकारी बन जाता है और शुद्ध विद्या से ऊपर उठकर ईश्वर पद प्राप्त कर लेता है । चर्या और ध्यान समय-पालन के मुख्य मुद्दे होते हैं । यह एक तरह का योगाभ्यास ही माना जाता है । इससे उस शिष्य की आत्मा नैर्मल्य से खिल उठती है ।

अभी दीक्षा नहीं मिल पायी है । अध्वशुद्धि का समायोजन नहीं हो पाया है । फिर भी शुद्धविद्या के प्रभाव से शुद्ध ईश्वर योग की योग्यता तो उसे हो ही जाती है । उसी योग्यता के प्रभाव से पाशों का प्रभाव समाप्त हो जाता है । आत्मा शुद्ध होता है और ईश्वर पद की प्राप्ति सहज ही सम्भाव्य हो जाती है ।

इस ईश्वर पद प्राप्ति योग्यता के सम्बन्ध में किसी टीकाकार ने ऐसी बातें की हैं, जो आचार्य श्री क्षेमराज को मान्य नहीं है । इसी का स्पष्टीकरण यहाँ कर रहे हैं । उनका कहना है कि,

यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता । समयी शिष्य के लिये किसी योजनिका की प्रेरणा शास्त्र नहीं देता । इस दृष्टि से किरण शास्त्र की यह उक्ति पुत्रक दीक्षा से सम्बन्धित भुवन दीक्षा के सन्दर्भ में ही चरितार्थ होती है । क्योंकि किरण शास्त्र में ही समयी दीक्षा के बाद–

इति कैरणवाक्यानुसारेण कालाग्निधाम वा (मैव) इत्यवोचत्, तदसत्, समयिनो योजनिकादेरचोदितत्वात् कैरणस्य वाक्यस्य चास्य पुत्रकाश्रयभुवनदीक्षाविषयत्वात् । किरणायां हि समयिदीक्षान्ते–

'.........ततो दीक्षां समाचरेत् ।'

इत्युपक्रम्य पुत्रकविषयभुवनदीक्षा एतद्वाक्यप्रमुखं निर्वाहितेत्यलम् । ऐश्वरपदलाभोऽपरा मुक्तिः ।

अथोक्तसमयिदीक्षानन्तरनिर्वर्त्यां प्रथमत एव वा कर्तव्यां पुत्रकादिदीक्षां निर्णेतुं प्रस्तौति–

अथ दीक्षाध्वशुद्ध्यर्थं भुक्तिमुक्तिफलार्थिनाम् ।।७९।।
विधानमुच्यते सूक्ष्मं पाशविच्छित्तिकारकम् ।

जब शिष्य ईश्वर तत्त्व से योजित कर दिया जाता है, तो पुत्रक दीक्षा के प्रसङ्ग में अब अधर पद के शोधन की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती । किरण शास्त्र में एक उक्ति है, जिसके अनुसार,

"शुद्ध भाव में अवस्थित इस शिष्य में स्वयं गुरु काल रुद्र को ही निधापित करते हैं । यही कालाग्नि धाम है अथवा यही ईश्वर पद है ।"

'ततो दीक्षां समाचरेत्' अर्थात् इसके बाद दीक्षा का आचार प्रारम्भ करना चाहिये । यह विधान भी किया गया है । यहाँ पुत्रक विषया भुवन दीक्षा ही आदिष्ट है । इस वाक्य से उसी का निर्वाह किया गया है । यह सभी एकमत से स्वीकार करते है कि, शुद्धविद्या से ऊपर उठकर जब साधक ऐश्वर पद पर प्रतिष्ठित होता है,तो यह एक अभिनव मुक्ति ही मानी जाती है ।

समयी दीक्षा के बाद ही पुत्रक दीक्षा का क्रम आता है । येग्य शिष्य को बिना समय दीक्षा दिये पहले भी पुत्रक दीक्षा दी जा सकती है । इस विषय के शास्त्रीय विधान क्या हैं ? इसके निर्णय के लिये इस श्लोक का अवतरण कर रहे हैं–

दीक्षा में अध्वशुद्धि के उद्देश्य से भुक्ति और मुक्ति रूप फलाकाँक्षा रखने वाले बुभुक्षुओं और मुमुक्षुओं के पाशजाल के विध्वंस हेतु सूक्ष्म विधान मेरे द्वारा कहा जा रहा है ।।७९।।

भुक्त्यर्थिन: साधका: मुक्त्यर्थिन: पुत्रकाचार्या:, तेषां या दीक्षा तस्यामध्वशुद्ध्यर्थं सूक्ष्ममिति भाविव्याप्त्या समूलपाशोन्मूलने[1] परतत्त्वयोजनिकादिरूपं विधान-मुच्यते । समयिनस्तु अधिष्ठातृकारणविश्लेषमात्रपूर्वमीश्वरतत्त्वाराधनयोगयोग्यता, इति तं प्रति न सूक्ष्मविधानं नापि परा मुक्तिर्नापि मन्त्राराधनक्रमेण भुक्तिरिति भाविपुत्रकादिपदप्राप्तियोग्यताजननमात्रं समयिदीक्षालक्षणम् । यथोक्तम्–

भुक्ति की इच्छा रखने वाले बुभुक्षु साधक होते हैं । मुक्ति की आकांक्षा करने वाले पुत्रक आचार्य कहलाते हैं । इन दोनों को दीक्षा दी जाये, उसमें अध्वा की शुद्धि नितान्त अपेक्षित है । इसके लिये सूक्ष्म विधान अपनाना चाहिये । यह सूक्ष्म विधान क्या है ? इस विषय में दो बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है । १– पाशों का समूल उन्मूलन किया जाय । २– परतत्त्व से योजनिका क्रिया द्वारा योजित कर दिया जाय ।

समयी दीक्षा से पुत्रक दीक्षा का अन्तर इस अवसर पर स्पष्ट हो जाता है । समयी के लिये समय पालन की साधना का क्रम अपनाना पड़ता है । समयी शिष्य का स्तर उसमें ईश्वरतत्त्व के आराधन व्यापार में जोड़कर या लगाकर आराधना की योग्यता उत्पन्न की जाती है । इसके लिये उसमें अवस्थित अधिष्ठातृकारण का विश्लेष पहले करना पड़ता है । इसके बाद ही आराधना की योग्यता आती है । अत: समयी के लिये किसी 'सूक्ष्म विधान' की आवश्यकता नहीं होती । इसी प्रकार 'परा मुक्ति' की प्रक्रिया अपनाने की यहाँ कोई क्रिया नहीं करनी पड़ती है । न ही मन्त्राराधन क्रम से भुक्ति आदि व्यापार वहाँ सम्पन्न किया जाता है । वहाँ तो भविष्य में पुत्रक पद प्राप्ति की योग्यता उत्पन्न करने का ही उपक्रम किया जाना पर्याप्त होता है । इसी दृष्टि से समयी को राजपुत्रवत् मानते हैं । एक उक्ति है–

'समयी राजपुत्र की तरह होता है' ।

समयी दीक्षा और पुत्रक दीक्षा में यही अन्तर होता है । इस पर ध्यान देना चाहिये ॥७९॥

---

१. ख. उन्मूलेन ।

'............समयी राजपुत्रवत् ।'इति ॥७९॥

अथ पुत्रकसाधकदीक्षयोर्विषयविभागं सपीठिकाबन्धं करोति–

गुरुः सम्पृच्छते शिष्यं द्विविधं फलकाङ्क्षिणम् ॥८०॥

द्विविधं बुभुक्षुं मुमुक्षुं वा, फलमिति मोक्षो भोगो वा ॥८०॥

अतश्चेदमस्यै ब्रूयात्–

फलमाकाङ्क्षसे यादृक्तादृक् साधनमारभे ।

साधनं दीक्षाविधिः ।

यतः–

वासनाभेदतः प्राप्तिः साध्यमन्त्रप्रचोदिता ॥८१॥

साध्य आराध्यो यो मन्त्रः, स चिन्तामणिकल्पो वासनानुसारं फलति । अत एव श्रीस्पन्दे–

पुत्रक और साधक दीक्षाओं में पीठिका बन्ध पूर्वक विषय के विभाग का स्पष्टीकरण कर रहे हैं–

गुरुदेव शिष्य से दो प्रकार के फलों को स्पष्ट करते हैं और उनमें से किस फल की आकांक्षा उसे है ? इस विषय की पूरी जानकारी लेते हैं । इससे शिष्यों के स्वभाव का पता चल जाता है । शिष्यों में दो वर्ग हो जाते हैं । १– बुभुक्षु वर्ग के शिष्य और २– मुमुक्षु वर्ग के शिष्य । इनके फल भी दो तरह के होते हैं । १– भोग और २– मोक्ष । बुभुक्षु को भोग चाहिये और मुमुक्षु को मोक्ष । गुरु द्वारा पूछ लेने से बात साफ हो जाती है ॥८०॥

गुरुदेव यह घोषित करते हैं कि, वत्स ! जैसा फल तुम चाहते हो, मैं उसी के अनुरूप साधन का प्रारम्भ करने जा रहा हूँ । यहाँ साधन का अर्थ दीक्षा विधि मात्र है । क्योंकि, प्राप्ति साध्य मन्त्र से प्रेरित होने पर और तद्विषयक वासना की दृढता पर ही निर्भर करती है ॥८१॥

साध्य का अर्थ आराध्य होता है । जिसकी आराधना से साध्य की सिद्धि होती है, वही मन्त्र आराध्य मन्त्र माना जाता है । वह मन्त्र मानो चिन्तामणि ही होता है, वासना के अनुसार चिन्तामणि भी फल प्रदान करता है और मन्त्र भी । श्री स्पन्द की एक उक्ति है–

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः ।' (स्प. २/१०)

इत्युपक्रम्य–

'सहाराधकचित्तेन ।' (स्प. २/१०)

इत्यन्तम् ॥८१॥

तथा च–

मन्त्रमुद्राध्वद्रव्याणां होमः साधारणः स्मृतः ।

भुक्तौ मुक्तौ च ।

स तु–

वासनाभेदतो भिन्नः शिष्याणां च गुरोस्तथा ।।८२।।

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः' अर्थात् मन्त्र अनुग्रह के लिये उसी समय प्रवर्त्तित होते हैं, जिस समय निरावरण चित् के उल्लासात्मक अलौकिक बल में आक्रान्त होते हैं । जब तक उस परशक्त्यात्मक तेज में वे अधिष्ठित नहीं होते, तब तक वे अनुग्रह नहीं कर सकते ।[१]

इसके तुरत बाद २७वीं कारिका में उत्पलदेव ने स्पष्ट कर दिया है कि, साधक के प्रवृत्तिनिमित्त रूप चित्त अर्थात् इच्छा के साथ ही वे अपना कार्य पूरा कर पूर्ण हो जाते हैं ।

इन दोनों उद्धरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि, वासना भेद से साध्य मन्त्र-शक्ति प्राप्त होती है ।८१॥

इसी तरह भुक्ति के सन्दर्भ में और मुक्ति की वासना के प्रसङ्ग में भी मन्त्रों के प्रयोग, मुद्राओं के प्रदर्शन और द्रव्यों का हवन सामन्यतया करणीय ही माना जाता है । यह होम आदि का प्रयोग वासना के भेद से भिन्न होता है । यह वासना शिष्यों और गुरुजनों में होती हे । इसमें दोनों वासनाओं का महत्त्व है ।

शिष्य की वासना को समझने के लिये शिष्य के स्वभाव का ध्यान रखना पड़ता है । शिष्य मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं । १– स्वप्रत्ययी शिष्य । २– गुरु प्रत्ययी शिष्य । पहला दृढ स्वभाव का होता है । वह अपने निर्णय पर अटल रहता है । उसकी वासना का प्राबल्य अपनी निर्णीत पद्धति पर चलने की प्रेरणा देता है । गुरुदेव भी उसे मानते हैं ।

१–स्पन्द प्रदीपिका २६ ।

यदा शिष्यः स्वप्रत्ययी, तदा गुरुः तद्वासनानुसारं मुक्तये भुक्तये वा जुहुयात् । यदा तु गुरुप्रत्ययी, तदासौ स्ववासनानुसारं मुक्तय एव तस्य बुभुक्षाभावादित्यर्थ-लभ्योऽयमत्राशयः ॥८२॥

अथ वासनाभेदतः शिष्यभेदं प्रतिपादयति–

साधको द्विविधस्तत्र शिवधर्म्येकतः स्थितः ।
शिवमन्त्रविशुद्धाध्वा साध्यमन्त्रनियोजितः ॥८३॥
ज्ञानवांश्चाभिषिक्तश्च मन्त्राराधनतत्परः ।
त्रिविधायास्तु सिद्धेर्वै सोऽत्रार्हः शिवसाधकः ॥८४॥

शिवधर्मः शिवशास्त्रोक्तसमाचारो नित्यावियोगेन[1] विद्यते यस्य, अत एव शिव-पदेन साध्यमन्त्रेणैव विशुद्धो न तु लोकधर्मिण इव अंशेन स्थापितोऽध्वा यस्य,

---

दूसरा शिष्य गुरुप्रत्ययी होता है । गुरु जैसा आदेश देता है, वैसा करने के लिये वह विश्वास पूर्वक दृढ रहता है । उसके मन में भोगवाद का लेश भी नहीं रहता । उसकी दीक्षा में गुरु का निर्णय ही प्रमुख होता है ।

गुरु स्वप्रत्ययी शिष्य की वासना के अनुसार भुक्ति और मुक्ति दोनों के लिये होम करता है । जबकि गुरुप्रत्ययी शिष्य के लिये अपनी वासना के अनुसार केवल मुक्ति के लिये होम करता है । वह जानता है, इसके हृदय में भोगवाद के लिये कोई आकर्षण नहीं है ॥८२॥

वासना भेद से शिष्यों के अन्य भेदों के विषय में भी जानकारी दे रहे हैं–

साधक दो प्रकार के होते हैं । पहला साधक शिवधर्मी कहलाता है । इसकी विशेषता यह होती है कि, १– यह शिवमन्त्र के बल पर विशुद्धअध्वा हो जाता है । २– साध्यमन्त्र में नियोजित होता है । ३–ज्ञानवान् होता है । ४–अभिषिक्त होता है । ५– मन्त्र के आराधन में तत्पर रहता है । ६– ऐसा शिव साधक तीनों प्रकार की सिद्धियों का अधिकारी होता है ।

शिवधर्मी का तात्पर्य ही यह है कि, वह शिवशास्त्र में कहे गये धर्मों का सम्यक् रूप से आचरण करता है । इसी का यह परिणाम होता है कि, शिवपद-प्रदायक साध्य मन्त्रों के जप से वह विशुद्ध हो जाता है । वह उस लोकधर्मा शिष्य की तरह नहीं होता, जिसमें अशुद्ध अध्वावर्ग का आंशिक प्रभाव सदा बना रहता है ।

---

१. ख.पु. नित्ययोगेनेति पाठः ।

यस्मिन्नेव च साध्यमन्त्रयोजित इत्याचार्येणाराधकत्वेन नियुक्तः । ज्ञानवानिति अधिगतमन्त्रतन्त्ररहस्यः ॥८४॥

अपरमाह–

द्वितीयो[1] लोकमार्गस्थ इष्टापूर्तविधौ रतः ।
कर्मकृत्फलमाकाङ्क्षन्[2] शुभैकस्थोऽशुभोज्झितः ॥८५॥

लोकमार्गः श्रुतिस्मृत्याचारः, इष्टं तीर्थस्नानान्नदानादि, पूर्तं कूपतडाकमठादि, फलमाकाङ्क्षन् कर्म शुभमेव करोति, न तु मन्त्राराधनम्,

'लोकधर्मिण्यसौ दीक्षा मन्त्राराधनवर्जिता ।' (स्व. ४/१४४)

इति वक्ष्यमाणत्वात् **शुभकर्मणैव तु फलस्य साधानात्साधकोऽयम्, दीक्षया त्वस्याशुभमात्रमेव शमनीयमित्याह** अशुभोज्झित इति ॥८५॥

वह साध्यमन्त्र में गुरु द्वारा नियोजित रहने के कारण मन्त्रमय बना रहता है । आचार्य ने उसे मन्त्राराधक बना दिया होता है । ज्ञानवान् का तात्पर्य है कि, वह गुरु कृपा से स्वात्म से और शास्त्राभ्यास से शास्त्रीय वचनों के रहस्य का अधिगम कर चुका होता है ॥८४॥

द्विविध साधकों में दूसरा प्रकार लोकमार्गस्थ शिष्य का है । यह इष्टापूर्त्ति के व्यापार विधि को सम्पन्न करने में निरन्तर तत्पर रहता है । कर्म को निष्ठा पूर्वक करता है । फलों की कामना करता हुआ एक मात्र शुभ में और कल्याणकारी सोच में रहते हुए उसी तरह के काम सम्पन्न करता रहता है । अशुभ दर्शन और बुरे कामों से वह हमेशा दूर रहता है ।

यह निश्चित है कि, लोकमार्ग श्रुति और स्मृति निर्दिष्ट आचार की पद्धति को ही कहते हैं । इष्टापूर्त्त परिभाषिक शब्द है । इसमें इष्ट के अन्तर्गत तीर्थ यात्रा, अन्न दान आदि कामों की गणना होती है । पूर्त कुँए खुदवाना, तड़ाग बनवाना और मठ मन्दिर की स्थापना आदि कामों का परिगणन करते हैं । शुभ कर्म के करने से शुभ फल ही होते हैं । इसी शुभ फलों की चाह रखने वाले शुभ काम ही करते हैं, यह स्वाभाविक है । इसमें मन्त्राराधन का कोई महत्त्व नहीं । इसी आधार पर आगे इसी ग्रन्थ के इसी पटल के श्लोक एक सौ चौवालिसवें में यह कहा गया है कि,

इस दीक्षा को लोकधर्मिणी दीक्षा कहते हैं । इसमें मन्त्रों की आराधना का कोई महत्त्व नहीं अपितु उससे वर्जित ही यह दीक्षा होती है ।

इस दृष्टि से शुभकर्म से शुभ फल की सिद्धि के आधार पर ही ऐसे लोगों को साधक कहते हैं । किसी अन्य दीक्षा से तो मात्र इसके अशुभ का ही शमन होगा । इसलिये अशुभ का परित्याग ही उसे अपेक्षित होता है ॥८५॥

---

१. क.ख.पु. द्विविधो लोकेति पाठः । २. ख.पु. साकाङ्क्ष इति पाठः ।

अत एव–

तस्य कार्यं सदा मन्त्रैरशुभांशविनाशनम् ।

सदेति देहारम्भकर्मवर्जं यद्यदकरोत् करिष्यति वा, तत्र मध्ये योऽशुभांशः, स सर्वोऽस्य शोध्यः ।

'...........प्रारब्धेकं न शोधयेत् ।' (स्व. ४/१४०)

इति वाक्यस्य प्रायशः सर्वविषयत्वादसंकीर्णाचारेण शिवधर्मिणा भाव्यमित्याह–

गृहस्थो वा यतिर्वासावाश्रमैकतमस्थितः[१] ।।८६।।

[२]श्मशानादिकवृत्तेनैव वा सिद्धिं साधयेत्, गृहस्थवृत्तेन तादृशैरेव द्रव्यैः,

---

इसलिये ऐसे कल्याणकृत् पुरुष के देहारम्भक कर्मों को छोड़कर वह जो कुछ कर रहा है, उस पर सदा दृष्टि रखते हुए उसके अशुभ अंशो का मन्त्रों द्वारा विनाशन करते रहना चाहिये अर्थात् गुरु द्वारा मन्त्र प्रयोग के माध्यम से उसका शोधन करते रहना चाहिये । देहारम्भक कर्मों को छोड़ने के सम्बन्ध में श्लोक संख्या ४/१४१ में कहा गया है कि,

'प्रारब्ध कर्मों का शोधन नहीं करना चाहिये' कारण कि भोग से ही उनका अतिवाहन होता है । भोगादेव क्षयः रूप कर्म का सिद्धान्तवाद प्रसिद्ध है । इस वाक्य के विषय में यह भी कहा जाता है, देहारम्भक सारे काम तो प्रारब्ध के कारण ही होते हैं । इस आधार पर यह कहा जाता है कि, यह उक्ति सभी प्रारब्ध कर्मों से सम्बद्ध है । सर्व विषया उक्ति है । अतः संकीर्ण आचार अर्थात् संकोच का परित्याग कर शिव धर्मी होने में कल्याण निहित होता है । इसी लिये शास्त्रकार कह रहे हैं कि, चाहे भले गृहस्थ हो, यति हो, उसे एक आश्रम में ही अवस्थित रहना श्रेयस्कर होता है ।

इस सम्बन्ध में अशुभांश के विनाश के लिये क्या किया जाय ? यह प्रश्न ज्वलन्त बन कर खड़ा प्रतीत होता है । यदि वह प्रारब्ध है, तो उसका विनाश कैसे होगा ? इसके लिये कह रहे हैं कि, श्मशान साधना के जो व्यापार हैं, उन्हें भी अपनाया जा सकता है । उन्हें भोग मान लिया जाय । इसी तरह सिद्धि को साध लिया जाय । यदि गृहस्थ जीवन में हैं,तो गार्हस्थिक द्रव्यों से इसे सम्पन्न किया जाय । शबलत्व का क्रम अर्थात् मिलाजुला न अपनाया जाय ।

शिवधर्मी साधक का अधिकार है कि, वह मन्त्रों की आराधना करे । इसलिये करता भी है । अवक्लृप्ति प्राप्ति अर्थ में प्रयुक्त स्त्रीवाचक शब्द है । आश्रम की इसमें अनिवार्यता नहीं होती क्योंकि आश्रम उसके लिये उपयोगी नहीं होता ।

---

१. क.ख.पु. आश्रमैक उपस्थित इति पाठः ।   २. ग.पु. श्माशानिकवृत्तेति पाठः ।

न तु शबलतया, असाविति शिवधर्मी न त्वन्यः, तस्य मन्त्राराधनेऽनधिकारात्[1] न तु आश्रमानवक्लृप्तिपरमेतत्, इहानुपयोगात् ॥८६॥

साधकं निर्णीय मोक्षैकनिष्ठं पुत्रकं निर्णेतुमाह–

मुमुक्षुर्द्विविधः प्रोक्तो निर्बीजो बीजवान्पुनः ।

उभयोर्विषयविभागमाह–

बालबालिशवृद्धस्त्रीभोगभुग्व्याधितात्मनाम् ॥८७॥
एषां निर्बीजिका दीक्षा समयादिविवर्जिता ।

बालिशो मूर्खः, वृद्धोऽनुष्ठानासमर्थः, भोगभुक् उपनतभोगैकसक्तोऽप्यायातशक्तिपातो दीक्ष्य एव । अन्ये त्वालस्योपहतोऽयं न पात्रम्, अतो भोगभुक् अपथ्य-

---

आश्रम धर्म इसमें कोई उपयोगी नहीं । इस तरह चार प्रकार के साधकों में गृहस्थ, यति, शिवधर्मी और किसी एक आश्रम में अवस्थित परिगणित हैं । चार प्रकार की गणना दो में ही अन्तर्भूत होती है–१–शिवधर्मी साधक और २–लोक मार्गस्थ साधक ॥८६॥

साधकों की इन श्रेणियों की चर्चा के बाद एक मात्र मोक्ष निष्ठ पुत्रक के सम्बन्ध में अपने निर्णय से अवगत करा रहे हैं–

मुमुक्षु दो प्रकार के माने जाते हैं । १– निर्बीज और २–बीजवान् (सबीज) । इन दोनों के आचार के विषय में बता रहे हैं ।

बालक, बालिश (अबोध, बालबुद्धि मूर्ख) बृद्ध, स्त्री, भोग में निमग्न व्यक्ति, व्याधिग्रस्त ऐसे लोगों की दीक्षा निर्बीजिका दीक्षा होनी चाहिये । इसमें यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि, भोगभुक् को दीक्षा नहीं देनी चाहिये । यद्यपि वह आसक्त श्रेणी में आता है फिर भी शक्तिपात कर उसे दीक्षा दी जा सकती है । ऐसे लोग जो आलस्य से ग्रस्त हैं और शक्तिपात के भी अधिकारी नहीं है, वे दीक्षा के पात्र नहीं हो सकते । भोगासक्त तो अपथ्य ग्रहण में ही लगे रहने के कारण व्याधिग्रस्त रह सकता है । इसलिये भोगभुक् को भी व्याधित की श्रेणी में डाला जा सकता है । क्योंकि अपथ्य ग्रहण के कारण उसका योग कष्टसाध्य या असाध्य हो जा सकता है । निर्बीजिका दीक्षा देने वालों का वर्गीकरण करने के बाद इस निर्बीजिका शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य कह रहे हैं कि, समय और पवित्रक आदि विधियों से रहित दीक्षा को निर्बीजिका दीक्षा कहते हैं । वस्तुतः बीज रहित को ही निर्बीज कहते हैं । ये समय आदि ऐसे बीज हैं, जिनसे अन्य संस्कारों के अङ्कुर निकल सकते हैं ।

---

१. ख.पु. मुद्राराधनेति पाठः ।

परश्चासौ व्याधित इति योजयन्ति, व्याधितो दुश्चिकित्स्यः, निर्बीजिकेत्यस्य व्याख्यानं समयादिविवर्जितेति आदिशब्दात्पवित्रकादिविधिः । वक्ष्यति च–

'समयाचारपाशांश्च निर्बीजायां विशोधयेत् ।' (स्व. ४/१४७)

इति ॥८७॥

विद्वद्द्वन्द्वसहानां तु सबीजा[1] कीर्तिता प्रिये ॥८८॥

विदुषां शास्त्रविवेककुशलानां द्वन्द्वसहानां व्रतचर्यादिक्लेशक्षमाणां समयपालनेऽपि शक्तत्वात् ॥८८॥

दीक्षानुग्राहिका तेषां समयाचारसंयुता ।

पूर्वाविवेक्यशक्तविषया इयं तु विपरीतविषयेति तात्पर्यम् । अतश्च–

विशेषसमयाचारा मन्त्राख्ये ये प्रकीर्तिताः ॥८९॥
तेऽत्र पाल्याः प्रयत्नेन मोक्षसिद्धिमभीप्सता ।

अतः अङ्कुरों के कारण रूप बीजों के व्यवहार में न लाने के कारण इस दीक्षा को निर्बीजिका कहते हैं । इसी सन्दर्भ को इसी चतुर्थ पटल के श्लोक १४७ एक सौ सैतालिस में स्पष्ट किया गया है कि,

'समयाचार भी एक प्रकार के पाश हैं । निर्बीज दीक्षा में इनका शोधन कर देना चाहिये' ॥८७॥

सबीजा दीक्षा के प्रकरण का प्रारम्भ कर रहे हैं । इसके अनुसार विद्वद्वर्ग, जो शास्त्र विवेचन में दक्ष होते हैं, तथा ऐसे लोग जो सांसारिक सुःख दुःख, हानि लाभ आदि वैकल्पिक द्वन्द्वात्मक उथल पुथल का खुलकर सहन करते रहते है, इन्हीं विषमताओं में जीवन व्यतीत करते हैं, ऐसे लोगों को सबीजा दीक्षा देनी चाहिये । ये लोग ब्रह्मचर्य आदि के कष्टों का भी सहन कर लेते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि, ये समयाचार का सम्यक् रूप से पालन कर सकते हैं ॥८८॥

समयाचार से समन्वित ऐसी सबीजा दीक्षा उनके जीवन में अनुग्रह की वर्षा करती है । निर्बीजिका दीक्षा अविवेकी और अशक्त लोगों के लिये निर्दिष्ट है । जबकि सबीजा इसके विपरीत सशक्त और विवेकशील लोगों के लिये ही उचित मानी जाती है । इसलिये इनके लिये सबीजा दीक्षा ही उचित है ।

मन्त्र पीठ नामक सन्दर्भ में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, इसमें विशेष समयाचार पालनीय हैं । इनका प्रयत्न पूर्वक पालन करना चाहिये । विशेष रूप से जो मोक्ष सिद्धि की आकांक्षा रखता है, उसे मनोयोग पूर्वक इसे सम्पन्न करना चाहिये ।

---

१. ख.पु. निर्बीजेति पाठः ।

मन्त्राख्ये मन्त्रपीठे, अस्मिन् ये–

'न निन्देद्भैरवं देवं न च शास्त्रं तदुद्भवम् ।' (स्व. ५/४४)

इत्यादयो वक्ष्यमाणा विशेषसमयाचारा उक्ताः, ते अत्रेति सबीजदीक्षायां प्रयत्नेन पाल्याः, अन्यथा प्रायश्चित्तित्व[1]मिति भविष्यति । मन्त्राख्ये इति विद्यापीठादेरप्युप-लक्षणपरम् ॥८९॥

येयमेव निर्णीता दीक्षा–

सबीजा सा तु विज्ञेया पुत्रकाचार्ययोः स्थिता ।।९०।।

वागीश्या गर्भोद्भूतेः संसारप्रशमनेनानुकम्पितः पुत्रः पुत्रकः, साधकदीक्षायां यद्यपि समयपालनमाम्नातम्, तथापि न तद्दीक्षा सबीजोच्यते, मुमुक्षुर्द्विविध इति परिभाषणात् ॥९०॥

एवमस्मिंश्चतुर्विधे दीक्षाकर्मणि प्रथमम्–

गृहस्थो वाश्रमी वाथ यतिः सङ्कल्प्य दीक्षयेत् ।

समयाचार के विषय में स्वच्छन्दतन्त्र के पटल पाँच के श्लोक चौवालिस में यह स्पष्ट उल्लेख है कि,

'भैरव देव की कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये । भैरव देव से प्रादुर्भूत शास्त्र की भी कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये । यह आदेश है । इसका अपरिहार्य रूप से पालन करना चाहिये । सबीज दीक्षा में विवकी पुरुषों द्वारा इनका प्रयत्न पूर्वक पालन आवश्यक माना जाता है । पालन न करने से प्रायश्चित होता है । मन्त्र पीठ शब्द तो उपलक्षण मात्र है । इससे विद्यापीठ आदि का भी ग्रहण हो जाता है ॥८९॥

निर्णय के उपरान्त ली जाने वाली निर्णीता दीक्षा मानी जाती है । इसे ही सबीज दीक्षा कहते हैं । यह पुत्रक और आचार्य के बीच की पावन दीक्षा है ।

वागीशी के गर्भ से उद्भूत एवं संसार के प्रशमन के कारण पुत्र ही पुत्रक कहलाता है । यद्यपि साधक दीक्षा में भी समयाचार पालन का आदेश शास्त्र देता है फिर भी उसे सबीजा दीक्षा नहीं कहते । मुमुक्षु के लिये यह विभाजन रेखा की तरह कर दिया गया है कि, यह दीक्षा दो प्रकार की होती है ॥९०॥

इस प्रकार इस चार प्रकार के दीक्षा रूपी कर्म में प्रथम कर्म यही है कि, यह गृहस्थ है, यह आश्रमी है अर्थात् आश्रमों के अनुसार जीवन के सभी प्रकार के भोगों की इच्छा से समन्वित है, यह यति है अर्थात् भोगेच्छा पर विराम लगा चुका है–

---

१. ख.पु. अपि इति पाठः ।

वाक्यार्थस्यात्र कर्मता पश्य मृगो धावतीतिवत्, तेन गृहस्थोऽयमाश्रमीति ऐहिकभोगस्पृहयालुः, यतिरित्येतद्विपरीतो वेत्येतत् प्रथमं सङ्कल्प्य [१]एतदुचितेनैव असङ्कीर्णेन विधिना दीक्षां कुर्यात् ।

तत्र पुत्रकदीक्षायां प्रक्रमते–

पाशसूत्रकमादाय शिष्यदेहेऽवलम्बयेत् ।।९१।।

अधिवासावसरे अधिवास्यकुम्भाग्रे यत्संरक्ष्य स्थापितमवलम्बनं शिखाग्रात्पादान्तं प्राग्वत् ।।९१।।

अथ–

अध्वानं सन्धयेदग्नौ धाम्ना चैव विचक्षणः ।

वक्ष्यमाणषडध्वव्याप्तिज्ञो गुरुः प्राधान्यात् शिवाग्नावेव अशेषपाशप्लोषिणि, अध्वानमितीह प्रस्तुतं कलाध्वानम्, तत्त्वादिदीक्षायां तु तत्त्वादिरूपं सन्दधीत ।

इन तथ्यों का सङ्कल्प कर इन पर विचार कर, तदनुरूप उचित और असंकीर्ण विधि से इनको दीक्षा देनी चाहिये । अर्थात् पहला काम संकल्प, दूसरा कर्म दीक्षा । इस तरह इस पूरे वाक्यार्थ की कर्मता स्पष्ट झलक रही है ।

इस क्रम में पुत्रक दीक्षा की पहली इतिकर्त्तव्यता के विषय में अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं । इसके अनुसार अधिवास के अवसर पर अधिवास्य कुम्भ के आगे सुरक्षित पाशसूत्रक को लेकर शिष्य के शिखाग्र से उसके पैरों की भूमि तक अवलम्बित करना चाहिये ।।९१।।

इसके तुरत पश्चात् गुरु अग्नि में धाममन्त्र से अध्वा की आहुति प्रदान करें । गुरु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त शब्द दीक्षा प्रक्रिया की दक्षता का परिचायक है । वह शिष्य की षडध्वव्याप्ति के स्तर का पूर्ण पारखी है । इसलिये वह यहाँ शिवाग्नि में ही वर्त्तमान में प्रस्तुत कलाध्वा का ही हवन करें । वस्तुतः शिवाग्नि वह आग है, जो समस्त पाशों का प्लोषण कर सकती है । यहाँ कला का ही सन्धुक्षण करना है । तत्त्वादि दीक्षा में तत्त्व रूप की ही आहुति दी जाती है । यह आहुति शिवाग्नि में देनी है । इसमें आहुति का स्वरूप अर्पणात्मक होता है ।

वस्तुतः अग्निशब्द तो उपलक्षण मात्र है । अग्नि तो वस्तुतः शिवाग्नि ही है । पर इसकी व्याप्ति को समझना बड़ा कठिन है । अध्वा छः प्रसिद्ध हैं । इनके विभाजन की रेखा को शास्त्र अध्वसन्धि कहता है । जहाँ इन सन्धियों का सम्मिलनस्थल निर्धारित या अनुभूत किया जाता है । वहाँ शैव चेतना की तैजसिकता व्याप्त रहती है । उस तैजसिक अध्वसन्धि की आग में भी होम किया जा सकता है किन्तु इसे विचक्षण गुरु ही कर सकता है ।

---

१. ख.पु. तदुचितेति पाठः ।

न चाग्नावेव यावत्-

कुम्भमण्डलवह्निस्थश्चाध्वात्मस्थः शिशोश्च यः ।।९२।।

सूत्रस्थश्चापि चैकत्र अध्वसन्धिः प्रकीर्तितः ।

आत्मस्थ इति गुरोः ।।९२।।

एकत्रेत्युक्तमधिकरणं विभजन्नध्वशुद्धिं निरूपयितुमाह-

षड्विधस्याध्वमार्गस्य साधारणगतस्य तु ।।९३।।

कुण्डे सङ्कल्प्य संशोध्यमध्वसन्धौ[1] तु होमयेत् ।

वर्णमन्त्रपदकलातत्त्वभुवनभेदात् षड्विधस्याध्वनः तत्तत्पदप्राप्तिहेतुतया मार्ग-रूपस्य कुम्भादिषु षट्सु अधिकरणेषु साधारणगतस्याभेदेन[2] स्थितस्य तथा ज्ञातस्य च मध्यात् संशोध्यमित्यन्तर्भूताध्वपञ्चकमेकतमं प्राधान्येन शोधयितुमिष्टम्, कुण्डे इति तत्स्थे शिवाग्नौ सङ्कल्प्य अध्वसन्धिनिमित्तं होमं कुर्यात् ।।९३।।

यहाँ हमें अध्वसन्धि के विषय में विशेष रूप से जानना चाहिये । कुम्भ, मण्डल, वह्निस्थ, शिशु के आत्मस्थ गुरुस्थ और सूत्रस्थ अध्वाओं के मिलन विन्दुओं की व्याप्ति में शैवी चेतना की तैजसिक ऊर्जा का सूक्ष्मतम उल्लास रहता है । एक एक अध्वा को उस व्याप्ति में समाहित करते हुए साधक शुद्ध शैवी चेतना में व्याप्त हो सकता है । इसका ध्यान हमेशा रखना चाहिये ।।९२।।

एकत्र इस अधिकरण की विभागिता पर ध्यान देते हुए अध्वशुद्धि का निरूपण कर रहे हैं । इसके अनुसार छः प्रकार के १-वर्ण, २-मन्त्र, ३-पद, ४-कला, ५-तत्त्व और ६-भुवन नामक अध्वा के पृथक् पृथक् ऊपर कहे गये कुम्भ आदि छः अधिकरण हैं । इनमें साधारणतया अर्थ तो अभेद रूप से ही अवस्थित है । ये कहीं व्यक्त भी होते हैं । इस प्रकार व्यक्त वाचक अध्वा पर ध्यान देना चाहिये । जैसे भुवन अध्वा में शिष्य है । इसका आधार तत्त्व है । भुवन को तत्त्व में, तत्त्व को कला में, कला को पद में, पद को मन्त्र में, मन्त्र को वर्ण में अन्तर्भूत करने पर अन्त में वर्ण प्रधानता रह जाती है । इस स्थिति में अवशिष्ट वर्ण अध्वा का शोधन करना भी श्रेयस्कर है । इसके शोधन के लिये संकल्प कुण्डस्थ, अग्नि में हवन करने के बाद अध्वसन्धि के निमित होम किया जाना चाहिये ।।९३।।

---

१. ख.पु. मन्त्रसंधाविति पाठः ।

२. ख. अभेदस्थित० ।

कथमित्याह–

मूलमन्त्राष्टशतिकमध्वसन्धानहेतुतः ।।९४।।

प्रणवमूलमन्त्रोच्चारपूर्वमध्वसन्धिर्भवतु स्वाहा इति प्रयोगेनाध्वव्याप्तिज्ञो गुरुरष्टोत्तरं शतं जुहुयादिति यावत् ।।९४।।

अध्वावलोकनं पश्चाद्व्याप्यव्यापकभेदतः ।

अवलोकनं भावनं कुर्यादिति शेषः ।

व्याप्तिं स्फुटयति–

भुवनव्याप्तिता तत्त्वेष्वनन्तादिशिवान्तके ।।९५।।

अनन्तादिशिवान्तके यानि भुवनानि तद्व्यापकत्वं तत्त्वेषु ।।९५।।

तानि च तत्त्वानि–

व्यापकानि च षट्त्रिंशत्

ये त्वन्ये त्रयोऽध्वानः–

मन्त्रवर्णपदात्मकाः ।

वर्णाः पञ्चाशत् पदानि नवात्मसम्बन्धीन्येकाशीतिः ।

यह होम कैसे करें, इस विषय में कह रहे हैं । मूल मन्त्र से इस हवन में एक सौ आठ आहुतियाँ देनी चाहियें । अध्व सन्धान के निमित्त चर्चा भी इस मन्त्र में होती है । मन्त्र इस प्रकार बनेगा । ॐ अध्वसन्धि शोधनं भवतु स्वाहा । मूलमन्त्र की चर्चा यहाँ नहीं की गयी है । मेरी दृष्टि से मूलमन्त्र भैरव बीज मन्त्र ही है । अध्वाओं की व्याप्ति के विशेषज्ञ तो आचार्य होते हैं । वे ही इस प्रक्रिया को पूरा कर १०८ बार हवन सम्पन्न करते हैं । यह सारा वर्णन भावनात्मक प्रक्रिया है । भावना से ही अध्व शोधन और अध्वा के मार्ग रूप कुम्भ आदि अधिकरणों को एक दूसरे में अन्तर्भूत करते हैं ।।९४।।

व्याप्ति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं । शास्त्रकार के अनुसार भुवन की व्याप्ति समस्त तत्त्वों में है । यह कहा जा सकता है कि, अनन्त भट्टारक से लेकर शिव पर्यन्त भुवन व्याप्ति है । अनन्त से लेकर शिव पर्यन्त जितने तत्त्व हैं, इन सब में जितने भुवन हैं, इसका तात्पर्य है कि, जिन तत्त्वों में ये भुवन हैं, उन तत्त्वों की तात्त्विकता उनमें अच्छी तरह व्याप्त रहनी स्वाभाविक है ।।९५।।

तत्त्वों की संख्या छत्तीस है । इनमें भुवनों की संख्या भी निर्धारित है । इस प्रकार तत्त्वों में भुवन व्याप्त हैं, यह मानना चाहिये । इन तथ्यों के सन्दर्भ में एक विशेष बात भी ध्यान देने योग्य है कि, जो तीन अध्वा वर्ण, मन्त्र और पद नामक हैं, इनमें वर्णों की संख्या पचास मात्र है । मन्त्रों की संख्या करोड़ों में जाती है ।

ते च–

तत्त्वान्तर्भाविनः सर्वे

तत्त्वानि अन्तर्भावयन्तीति कृत्वा ।

कथम् ?

वाच्यवाचकयोगतः ।।९६।।

तत्त्वानि वाच्यानि मन्त्रादयो वाचकाः । यथा च अयं वाच्यवाचकभावस्तथाग्रे भविष्यति ।।९६।।

कलादीक्षायाः प्रस्तुतत्वात् तदन्तर्भावं तावत्पञ्चानामध्वनामाह–

कलान्तर्भाविनस्ते वै निवृत्त्याद्याश्च ताः स्मृताः ।

अस्य सर्वस्य अध्वग्रन्थस्यायं पिण्डार्थः–परमेश्वरश्चिदानन्दघनः स्वतन्त्रभट्टारकः एकादशपटलनिरूपयिष्यमाणस्थित्या उन्मनाख्यया स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या शून्यादिक्षित्यन्तमनन्तं वाच्यवाचकरूपं स्वभित्तौ स्वानधिकमप्यधिकमिव युगपदवभासयति । तत्र वाचकं ग्राहकभागावस्थितं परसूक्ष्मस्थूलभेदेन वर्णमन्त्रपदात्मकं त्रिधा, वाच्यमपि

पद एकासी माने जाते हैं । कहा जाता है कि, 'एकाशीति पदा देवी' अर्थात् देवी ८१ पदों वाली है । प्राणचार ३६ अंगुलों का और अपानचार भी ३६ अंगुलों का मिला कर ३६+३६=७२ अंगुलों का प्राणापानवाह माना जाता है । ३६ अंगुल में ४-४ नौ अर्ध मात्राओं से ९×९=८१ अर्धमात्रायें होती है । इसके अतिरिक्त नव नाभमण्डल की दृष्टि से भी ८१ पद होते हैं । इसी को आचार्य क्षेमराज ने पदानि नवात्म सम्बन्धीनि लिखा है । इसी को जयरथ ने तन्त्रालोक के आ०६ के श्लोक २३२-२३३ में नवमांशकाः वेदाः मात्रार्धम् में भी व्यक्त किया है ।

ये सभी तत्त्व में ही अन्तर्भूत होते हैं । इसका कारण वाच्य वाचक भाव है । तत्त्व वाच्य होते हैं और मन्त्र पद और वर्ण वाचक होते हैं ।।९६।।

इस समय कला दीक्षा का सन्दर्भ प्रस्तुत है । कलाध्वा में पाँच अध्वाओं का अन्तर्भाव वहाँ विचारणीय विषय है । शास्त्रकार कह रहे हैं कि,

कला के अन्तर्भावी ये सभी शेष पाँचों अध्वा माने जाते हैं । वास्तविकता तो यह है कि, सभी अध्वा सर्वाध्वार्थ को व्यक्त करने की शक्ति रखते हैं । यद्यपि इसमें उत्तरोत्तर विशेषता भी मानी जाती है । जैसे कला से उत्तम तत्त्वाध्वा और उससे उत्तम भुवनाध्वा है किन्तु जिस अध्वा की प्रधानता होती है, उसमें अन्य अध्वा अन्तर्भूत हो जाते हैं ।

ग्राह्यभागाभिनिविष्टं कलातत्त्वभुवनात्मकम्, तथैव वर्णा ह्यभेदविमर्शसाराः किञ्चित्स्थौल्येन भेदाभेदविमर्शनात्मकमन्त्ररूपतामाश्रित्य ततोऽपि स्थौल्येन भेदविमर्शावगमकपदरूपतया भान्ति । एवं वाच्यरूपा पारमेश्वरी कलाख्या शक्तिरुत्तरोत्तरवैशिष्ट्येन तत्त्वभुवनात्मतां गृह्णाति, वस्तुतश्चेयमक्रमैव पारमेश्वरी शक्तिः स्फुरति, तत्रापि च स्वस्वातन्त्र्याद् दर्पणनगरवत् क्रममप्यादर्शयति, क्रमेऽपि च पूर्वं पूर्वमुत्तरत्र व्यापकतया स्थितं मृदिव घटादौ उत्तरमुत्तरं तु पूर्वत्र शक्त्यात्मना स्थितं वृक्ष इव स्वबीज इति सर्वं सर्वात्मकमेव । अत एवं पञ्चतत्त्वदीक्षायामनाश्रिततत्त्वपर्यन्ता भूतव्याप्तिर्भविष्यति । एवं चैकैकोऽपि प्रमाता भावो वा वस्तुतः षडध्वस्फाररूपपारमेशशक्ति-

---

इस विषय पर आचार्य क्षेमराज ने गम्भीर विचार प्रस्तुत किया है । उसे इसी तरह हमें भी विचार में बिठलाने की आवश्यकता है कि, इसका निहितार्थ क्या है अथवा पिण्डगत अर्थ क्या है ? इस पर विचार करने के लिये भैरव दर्शन परम्परा की मूल भूत मान्यताओं पर विचार करने की आवश्यकता है ।

यह दर्शन मानता है कि, परमेश्वर चिदानन्द स्वतन्त्र या स्वच्छन्द भट्टारक परम तत्त्व हैं ।

उन्मना नामक अपनी स्वतन्त्र शक्ति के द्वारा शून्य से लेकर धरा तत्त्व पर्यन्त अनन्त वाच्य-वाचक रूपों को स्वात्म में ही स्वात्म से अनतिरिक्त रहते हुए भी अतिरिक्त की तरह एक साथ अवभासित करते हैं ।

वाचक क्या है ? इस जिज्ञासा का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि, वाचक ग्राहक श्रेणी में आते हैं । ये पर सूक्ष्म और स्थूल भेद से तीन अध्वाओं के रूप में जाने जाते हैं । पर वाचक रूपी वर्ण, सूक्ष्म वाचक रूपी मन्त्र और स्थूल वाचक रूप में पद नामक अध्वा परिगणित हैं । इसी तरह वाच्य भी जो ग्राह्य भाव में आते हैं, वे कला, तत्त्व तथा भुवन अध्वा के रूप में जाने जाते हैं ।

वाचक श्रेणी में सर्वप्रथम वर्ण आते हैं । ये केवल अभेद विमर्श की प्रधानता वाले तत्त्व भेद हैं । जब ये कुछ स्थूलता की ओर उच्छलित होते हैं, तब वे अभेद विमर्श को साथ ही भेद विमर्श की गुणवत्ता से प्रभावित हो जाते हैं । तब वे मन्त्र रूपता का आश्रय ग्रहण कर लेते हैं । इससे भी स्थूलता का आश्रय ग्रहण करने पर वे भेद विमर्श का अवगम कराने लगते हैं । उस समय ये पद कहलाते हैं ।

इसी तरह वाच्य रूपा पारमेश्वरी कला क्रमशः उत्तरोत्तर विशिष्टता को प्राप्त करती है और कला से तत्त्व बन जाती है । ये तत्त्व भी भुवन भाव में परिणत हो जाते हैं । यहाँ यह जिज्ञासा स्वभावतः स्फुरित होती है कि, क्या पारमेश्वर स्वातन्त्र्य शक्ति विना क्रम के ही स्फुरित होती है ? उसका उत्तर यह है कि, हाँ । वह अक्रम रूप से भी स्फुरित होती है । फिर भी उसमें शक्ति का चमत्कार उभरता रहता है ।

मयादिहान्तपरामर्शसाराहन्ताविश्रान्तिसतत्त्वः परभैरवरूप एव, तथात्वापरिज्ञानात् तु तन्मायाशक्तिकृतादपूर्णंमन्यः शब्दराशिकलाविलुप्तविभवत्वाद् वर्णादिभिः कलादिभिश्च तात्त्विकस्वरूपेणास्फुरद्भिः प्रत्ययोद्भवक्रमेण देहादौ ग्राहिताहंभावो विषयमात्रासु ग्राहितभोक्तृताभिमानश्च खेचर्यादिचक्रचतुष्टयस्य भोग्यतां प्राप्तौ[1] बद्धः पशुः सम्पन्नः, इत्यस्य पशुभावशमनाय पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्तिः शिवाभिन्नाचार्यहृदये पारमार्थिकेन

यह स्पष्ट है कि, स्वातन्त्र्य शक्ति से कुछ वैचित्र्य घटित होते ही रहते हैं। यहाँ भी इसी शक्ति के कारण दर्पण में दीख पड़ने वाले नगर की तरह क्रम उल्लसित हो जाता है। दर्पण का प्रतिबिम्ब अलग नहीं होता पर भिन्न की तरह भासित होता है। इस क्रम में भी पहले जो झलक मिलती है, उसके भी बाद में उसकी व्यापकता बढती रहती है।

जैसे मृदा की झलक के बाद घड़े आदि का उल्लास दीख पड़ता है। फिर भी बढ़ता हुआ विकास अपनी शक्ति में समाहित होने की प्रक्रिया में भी क्रमिकता बनती दीख पड़ती है। जैसे वृक्ष अपने बीज में ही समा जाता है।

इसको देखकर विचारक यह भी कहने लगते हैं कि, सब कुछ सर्वात्मक ही है। 'सर्वं सर्वात्मकम्' इसी मान्यता के अनुसार शब्दों के विषय में भी विचारक कहते हैं कि, सर्वे शब्दाः सर्वार्थवाचकाः। यह गम्भीर और ऐसी समस्या है, जिसे गहराई से विचार करना चाहिये। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर पञ्चतत्त्व दीक्षा में अनाश्रित तत्त्व पर्यन्त भूतव्याप्ति की मान्यता स्वीकार करनी पड़ती है।

इसी तरह यह भी स्वीकार्य है कि, इस विश्वप्रपञ्च का एक एक प्रमाता या भाव वस्तुतः वाच्य-वाचक उल्लास के प्रतीक वर्ण, मन्त्र, पद, कला, तत्त्व और भुवन रूप छः अध्वा के रूप में स्फुरित हैं। यह पारमेश्वर स्फार का ही चमत्कार है।

यह शक्ति की शाक्त स्फार रूप इदन्ता शाश्वत रूप से अहन्ता में ही विश्रान्त होने के लिये लालायित और उत्सुक भाव से तादात्म्य में समा रही है। इस विश्रान्तिका परमधाम परभैरवभाव ही है।

इन विचारों का इस रूप में न जानना भयावह है। परमेश्वर की माया शक्ति के प्रभाव से भावित ईश ही अपूर्णंमन्य जीव और अज्ञ अणु बन जाता है या बन गया है। शब्दराशि के दुश्चक्र से कला से कीलित होकर उसका विराट् विभव विलुप्त हो गया है। वह वर्णों आदि को पढ़ता है। कला, तत्त्व भुवन आदि को देखता है, पर वास्तविक स्वरूप का स्फुरण उसे नहीं होता। परिणामतः जिस प्रत्यय का

---

१. ख.पु. प्राप्तुमिति पाठः।

स्वरूपेण स्फुरन्ती शिष्यस्य सर्वमध्वानं संकोचकत्वप्रशमनेन असंकुचितस्वशक्तिसारतया स्फारयन्ती शोधयति दीक्षाज्ञानादियोगेन, अत एवमाचार्यस्फारसारा मन्त्रादयः शोधकाः पश्चात्माभिनिविष्टाः शोध्याः, इति शोध्यशोधकभावेऽपि न काचित् क्षतिः । यतश्चैकैकस्यापि अध्वनः सर्वमयत्वमस्ति, अत एव तत्तदध्वप्राधान्येन दीक्षायामन्याध्वपञ्चकमन्तर्भावशोधनमुक्तव्याप्तिसतत्त्वं कार्यम् । उक्तं च श्रीस्पन्दे–

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥' (३/१८)

उद्भव जीव में हो रहा है, वह बड़ा ओछा है । देह में अहंभाव की दृढ सांस्कारिक भावना क्या है ? विषय गत वस्तुओं का मैं भोक्ता हूँ यह अभिमान क्या है ? खेचरी भूचरी आदि चक्र के चक्कर से चमत्कृत बद्ध पशुभाव से जीव अपने को सम्पन्न मान रहा है । यह चित्र चिन्ता जनक है ।

इसी परिस्थिति की पीड़ा संसार भोग रहा है । इसी पीड़ा के निवारण के लिये शास्त्र ने जिस औषध का निर्देश किया है । उसका नाम है दीक्षा । जीव के पशुभाव का शमन कैसे हो । परमेश्वर की अनुग्राहिका शक्ति शिवरूप में साक्षात् प्रत्यक्ष उपस्थित आचार्य के हृदय में पारमार्थिक रूप से स्फुरित रहती है । वह शिष्य के पशुभाव का शमन करने के लिये और शिष्य के षडध्व सम्बन्धी संकोच को नष्ट करने के लिये दीक्षा देता है । इस प्रक्रिया से शक्ति तत्काल स्फुरित हो जाती है । आचार्य के हृदय में स्फुरित पारमेश्वरी शक्ति तो स्वयं में असंकुचित है ही । वह अपने बल से शिष्य की शक्ति को स्फुरित कर देती है । उसकी अशुद्धिका शोधन कर देती है । यह दीक्षा और ज्ञान योग का एक चमत्कार ही माना जा सकता है ।

इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि, ये वर्ण, मन्त्र और पद आदि आचार्य के हृदय में शिवात्म अनुग्राहिका शक्ति के स्फार मात्र हैं । ये सभी शोधक भी हैं । पशुभाव में पड़े संकुचित रूप में शोध्य भी हैं । शोध्य शोधक उभय भाव से भव्य हैं । इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं । इसी भाव को ध्यान में रखकर एक एक अध्वा की सर्वमयता मानते हुए जिस अध्वा की प्रधानता में दीक्षा दी जाती है, उस अध्वा में सभी शेष पाँचों अध्वाओं का अन्तर्भाव मान लेते हैं । इस तरह उसका शोधन भी वहाँ मान्य हो जाता है । इसी भाव की समर्थक उक्ति स्पन्द शास्त्र में भी इस रूप मिलती है–

'वही यह क्रियात्मिक (दीक्षा) शक्ति है । वह शिव की वशवर्त्तिनी शक्ति मानी जाती है । इसका ज्ञान न होने पर वह बन्ध प्रदान करती है किन्तु स्वमार्गस्था है, यह ज्ञात होने पर यह समस्त सिद्धियों का उपादान कारण बन जाती है ।' श्री स्पन्द ३/१८ । इसके अतिरिक्त भी कहा गया है कि,

इत्यलं, केवलम्–

'यावन्न वेत्ति वै व्याप्तिं कुण्डस्यैवात्मनोऽपि वा ।
साध्यस्यैव[१] पशोश्चैव पाशानां च षडध्वनः ।।
बालवत् क्रीडते तावत्कार्यं तस्य कथं भवेत् ।' (१६/५४)

इति मृत्युजित्युक्तत्वात् तत्र तत्र व्याप्तिप्रदर्शनायायमस्माकं भरः, इति न नो वाचालता कल्प्या सचेतोभिः ।

अथ प्रसङ्गात्कलावाचकान्मन्त्रानाह–

हृदाद्या वाचकास्तासां बीजमन्त्राः प्रकीर्तिताः ।।९७।।

बीजमन्त्रा इति निष्कलाः, हृदाद्या इति हृच्छिरःशिखाकवचनेत्रमन्त्राः क्रमेण निवृत्त्यादीनां वाचकाः ।।९७।।

एवं चास्मिन् कलादीक्षाविधौ–

एकैकस्याः कलायाश्च पृथग्व्याप्तिं विभावयेत् ।

सा चादूर एव व्यक्तीभविष्यति ।

"जब तक शैवव्याप्ति के इस रहस्य को जीव नहीं जान जाता तब तक बालकवत् जीव भाव में अबोधता की क्रीडा करता है । शैव व्याप्ति के इन बिन्दुओं का ज्ञान परमावश्क है । १–कुण्ड, २–स्वात्मभाव, ३–साध्य, ४–पशु-पाश, ५–षडध्व इन पाँचों का ज्ञानवान् ही ज्ञानी होता है । यह उक्ति मृत्युजित् शास्त्र की है ।"

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि, शास्त्रीयता के इन रहस्यों के उद्घाटन पर मैं इसीलिये इतना बल दे रहा हूँ या शास्त्र का यह आदेश है कि, शिष्य दर्पण नगरवत् स्वरूप को समझे और सत्यरूप में जाने । इसमें व्याख्याकार की वाचलता का भाव मन में नहीं लाना चाहिये । सुनना, गुनना और गुन कर सत्य को जानने पर ही मेरे लेखन की सफलता है ।।९६।।

प्रसङ्ग वश यहाँ कला वाचक मन्त्रों की चर्चा कर रहे हैं-हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्रमन्त्र, ये क्रमशः निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता और शान्त्यतीता कलाओं के वाचक हैं । ये इनके बीज मन्त्र हैं । बीज मन्त्र निष्कल मन्त्रों को कहते हैं ।।९७।।

कला दीक्षा विधि के सन्दर्भ में एक एक कला की पृथग् व्याप्ति का विभाजन करना चाहिये । ये सारी कलायें पृथिवी इत्यादि की शक्ति रूपा मानी जाती हैं ।

---

१. ख.पु. साध्यस्य वा इति पाठः ।

[१]ताश्च-

पृथिव्यादिकला ज्ञेया ब्रह्माद्याः कारणाश्च ते ।।९८।।

निवृत्त्याद्याः पृथिव्यादिशक्तिरूपा ज्ञेयाः पृथिव्यादीनामेवानाश्रितपर्यन्तं सूक्ष्मतयावस्थानात् । एतच्च पञ्चतत्त्वदीक्षाविधौ स्फुटीभविष्यति । एता एवमधिष्ठातृरूपतया ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाः, अतश्च अधिष्ठातृदेवताशुद्ध्याप्येताः शुद्धा भवन्तीत्यपि सूचितम् ।।९८।।

उपसंहरति-

एवं व्याप्तिं भावयित्वा

प्रतिकलं समनन्तरवक्ष्यमाणव्याप्तिमेवमिति निर्णीतपरसूक्ष्मस्थूलक्रमेणाध्वनो भावयित्वा-

अध्वोपस्थापनं भवेत् ।

उपस्थापनमेकतमस्य प्रधानतया शुद्ध्यर्थं सम्मुखीकरणम् । अत्र च धामादीत्यादिना (स्व. ४/१०१) मन्त्रं वक्ष्यति ।

एवमुपस्थितस्य सन्निधानाय-

त्रिराहुतिं ध्रुवेणैव

दद्यादिति शेषः ।

किञ्च-

अध्वशुद्धिरतो भवेत् ।।९९।।

इन पृथ्व्यादि तत्त्वों का अनाश्रित पर्यन्त अवस्थान है-यह सर्वमान्य तथ्य है । पञ्चतत्त्व दीक्षा प्रकरण में इस पर विशद चर्चा की गयी है । इन्हीं के अधिष्ठाता ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव और शिव माने जाते हैं । इसलिये ये निवृत्ति आदि अधिष्ठान भूत कलायें अधिष्ठाता शक्तिमन्त्रों के अधिष्ठित होने पर ही शुद्ध होती है । यह सत्य तथ्य है ।।९८।।

इस प्रकार की सब प्रकार की व्याप्ति का भावन कर अर्थात् सभी कलाओं में सूक्ष्म और स्थूल रूप में पारमेश्वरी शक्ति का स्फार किस प्रकार व्याप्त है, इसका भावन कर शिष्य का उपस्थापन अध्वा के समक्ष हो जाता है अर्थात् प्रधान अध्वा की दीक्षा के सन्दर्भ में सम्मुखीकरण हो जाता है । इस प्रकार सम्मुखीकरण के पश्चात् उसके सन्निधान के लिये ध्रुव मन्त्र से तीन आहुतियाँ दी जानी चाहिये । इस प्रकार अध्व शुद्धि हो जाती है । यह निश्चित है ।।९९।।

---

१. क.ग.पु. एता इति पाठः ।

कथमित्याह–

अग्नौ तु पूजिते देवे अध्वन्यासे कृते सति ।
तदेव पादादारभ्य पृथिव्यादिक्रमान्न्यसेत् ।।१००।।

तदेवेति निवृत्त्यादिरूपम्, पादादिति संहारक्रमेण, तत्र गुल्फान्तं निवृत्तिः, नाभ्यन्तं प्रतिष्ठा, ताल्वन्तं विद्या, मूर्धान्तं शान्तिः, ब्रह्मरन्ध्रान्तं शान्त्यतीता, इति भविष्यति । इत्थं च वर्तमानप्राणदेहप्रतिकृतिरूपे सूत्रकदेहानुसारिगुल्फनाभ्याद्यवधिमति अध्वन्यासतच्छुद्ध्यादिकं कृतं देहेऽपि सम्पन्नमेवेति न तत्र समयदीक्षायामिव पृथक् जात्युद्धारद्विजत्वापत्त्यादि क्रियते पृथगचोदनात् । भाविस्थित्या तु निष्कृतिहोमान्तर्भावेन भाविदेहाश्रयतयापि चैतन्यस्य तत्कृतं तत्स्थीकरणदियुक्त्या वर्तमानदेहाश्रयस्यापि सम्पद्यते । एवं समयदीक्षान्तर्भाविपुत्रकदीक्षापक्षे च वर्तमानदेहविषयो दीक्षासंस्कारः पुनरुपयुक्तः ।।१००।।

शिष्य अध्व शुद्धिरत कैसे होता है, इस जिज्ञासा का समाधान कर रहे हैं–

अग्नि में आराध्य देव की पूजा कर ली गयी है । अध्वा का न्यास आचार्य द्वारा सम्पन्न हो गया है । इस क्रिया का सम्पन्न होना बड़ा महत्त्व रखता है । संहार क्रम को अपना कर गुरुदेव ने यह समझा दिया है कि, वत्स ये निवृत्त्यादि कलायें तुम्हारे शरीर में इस क्रम से ही उल्लसित हैं । १–पैर से लेकर गुल्फ पर्यन्त निवृत्ति कला २–गुल्फ से नाभि पर्यन्त प्रतिष्ठा कला, ३–नाभि से तालु तक विद्या कला, ४–तालु से मूर्धा पर्यन्त शान्ता कला और ५–मूर्धा से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त शान्त्यतीता कला । यही पृथिवी आदि क्रम से कलाओं के न्यास का क्रम आचार्य ने यहाँ अपनाया और यही शास्त्रीय क्रम भी है ।

यही प्रक्रिया शिष्य के शिखाग्र से पैर पर्यन्त लटकने वाले सूत्र-शरीर में भी प्रकल्पित की जाती है । यही देह में भी सम्पन्न की गयी है । यहाँ शास्त्र में किसी प्रकार के निर्देश न होने के कारण किसी जात्युद्धार या द्विजत्वापत्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती । आगे के निष्कृति होम में अन्तर्भाव से भावि देहाश्रय प्रकरण में इसकी तस्थीकरणादि युक्ति से चर्चा होगी । इस प्रकार समय दीक्षा के अन्तर्गत पुत्रक दीक्षा पक्षमें वर्त्तमान देहविषयक दीक्षा संस्कार भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो जाता है ।।१००।।

पूर्वोक्ते उपस्थापने मन्त्रमाह–

धामादिः प्रणवादिश्च निवृत्त्यै च नमः पुनः ।
उपस्थापनमन्त्रोऽयं व्याप्तिं ध्यात्वाध्वसंस्थिताम् ।।१०१।।

प्रयोक्तव्य इति शेषः । अत्र च प्रणवधामभ्यामनन्तरं हृन्मन्त्रः पूर्वोक्तः पठनीयः,

'हृदाद्या वाचकास्तासां बीजमन्त्रा........ ।'

इत्युक्तत्वात् । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्[1] ।।१०१।।

यदुक्तम् एकैकस्याः कलायाः पृथग्व्याप्तिरिति, तत् स्पष्टयति–

निवृत्यभ्यन्तरे पृथ्वी शतकोटिप्रविस्तरा ।
तस्यां च भुवनानां च शतमष्टोत्तरावधि ।।१०२।।
अष्टाविंशतिः पदानि वर्ण एकोऽत्र संस्थितः ।
मन्त्रौ द्वावेव विज्ञेयौ

उपस्थापन मन्त्र की चर्चा कर रहे हैं–

आदि में धाम मन्त्र, इसके पहले प्रणव, इसके बाद कला की आदि निवृत्ति में चतुर्थी विभक्ति लगाकर निवृत्त्यै के योग में नमः लगाना चाहिये । इसके उद्धार के प्रसङ्ग में परम्परा से प्राप्त एक तथ्य के विषय में कह रहे हैं कि, प्रणव और धाम मन्त्र के तुरत बाद हृदय मन्त्र का भी प्रयोग करना चाहिये । एक उक्ति है 'हृदाद्याः वाचकास्तासां बीजमन्त्राः' अर्थात् हृत् आदि वाचक इन कलाओं के बीज मन्त्र माने जाते हैं । इसी आधार पर निवृत्ति कला में हृन्मन्त्र भी बीच में लगाकर पूरा मन्त्र बनना चाहिये । 'प्रणव+धाम+हृन्मन्त्र+निवृत्त्यै नमः' । यह इस मन्त्र का स्वरूप होता है । इसी तरह 'प्रणव+धाम+शिखा+प्रतिष्ठायै नमः' की पद्धति से सभी कलाओं के उपस्थापन मन्त्र बनते हैं ।।१०१।।

एक एक कलाओं की पृथक् व्याप्ति के निरूपण के लिये इस श्लोक का अवतरण कर रहे हैं–

निवृत्ति कला के अन्तर में पृथ्वी तत्त्व है । शतकोटि योजन इसका विस्तार है । इसी में १०८ भुवनों की स्थिति मानी जाती है । इसमें २८पद होते हैं । मात्र एक वर्ण ही इसमें हैं । जहाँ तक मन्त्रों का प्रश्न है, इनकी संख्या मात्र दो है । १०८ भुवनों में कालाग्नि, कूष्माण्ड और हाटक ये तीन भुवन ब्रह्माण्ड के भीतरी अधोभाग में अवस्थित हैं । मध्य में चौथा भूलोक है । इसके अधिपति शिव हैं । इसके ऊपर सत्यलोक पर्यन्त ६ लोकों के स्वामी ब्रह्मा हैं । इन सात लोकों के

---

१. ख.पु. योज्यमिति पाठः ।

शतकोटीति योजनशतकोटिविस्तारेत्यर्थः । शतमष्टोत्तरावधीति, तत्र कालाग्निः कूष्माण्डो हाटक इति ब्रह्माण्डान्तरधोभागगतास्त्रयः । मध्ये भूलोकाधिपतिः शिवः, तदुपरि सत्यलोकान्तमधिष्ठाता ब्रह्मा, तदुपरि विष्णुरुद्रौ स्वलोकयोरित्यन्तः सप्त, बहिरस्य दशसु दिक्षु स्थितं रुद्रशतं, तदुपरि सर्वेषां स्वामी वीरभद्रः, इत्येतदष्टोत्तरं शतम्, पदानि त्वष्टाविंशतिः, भाविनवनाभमण्डलारम्भिभागैकाशीतिनिविष्टवक्ष्यमाण-

---

विष्णु और रुद्र अधिकारी हैं । इनके बाहरी वृत्त में दशों दिशाओं में शतरुद्र लोक हैं । उनके स्वामी वीरभद्र हैं । इस तरह १ कालाग्नि+१–कूष्माण्ड+१–हाटक+१–भूलोक शिव+१–ब्रह्मा २–विष्णु और रुद्र तथा १००शतरुद्र और १वीरभद्र लोक कुल मिलाकर १०८लोक (भुवन) सिद्ध होते हैं । ये सभी निवृत्ति कला के अन्तर्गत आते हैं ।

जहाँ तक पदों का प्रश्न हैं, यद्यपि ये २८ ही होते हैं, किन्तु यह नवनाभ मण्डल के नौ मण्डलों ९-९ वर्णों का पद मानने पर कुल ९×९=८१पद होते हैं । जिनमें २८पद तो निवृत्ति कला में ही होते हैं । निवृत्ति कला में प्रकृति के ९पद, पुरुष के नौ पद नियति के नौ पद तथा काल के नौ पदों में से एक ईशान कोण स्थित ऊकार को मिलाकर २८पद होते हैं । ये सभी पद प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिव को विश्रान्ति प्रद होने के कारण ही पद कहलाते हैं । पञ्चम पटल के पद दीक्षा सन्दर्भ में इसका विशद वर्णन है ।

इसका क्रम इस प्रकार ध्यान देने योग्य है । प्रकृति के वर्ण ईशान कोण में ओङ्कार से ऊकार तक के वर्ण हैं । ईशान कोण ओं, कुबेर य, वरुण ल, निर्ऋति म, यम क्ष, अग्नि र, पूर्व ह और मध्य केन्द्र में ऊ ।

इन्हीं वर्णों के ओङ्कार होते कुबेर पद पर आ जाने पर पुरुष तत्त्व का प्रभाव व्याप्त हो जाता है । उसके बाद के अक्षर क्रमशः व, ल, म, क्ष, र, ट अपने पद पर बने रहते हैं । प्रकृति का 'य' मध्य केन्द्र में आ जाता है । नियति में ओंकार वायु तत्त्व केन्द्र में आ जाता है । व केन्द्र के मध्य में शेष अपने पद पर रहते हैं । केवल ऊ ईशान में और य कुबेर पर आ जाते हैं ।

इसी तरह काल तत्त्व मण्डल में ऊँकार, वरुण केन्द्र में विराजमान होता है और मध्य केन्द्र में 'ल' उपस्थित हो जाता है । ॐ के स्थान परिवर्तन पर मध्य केन्द्र का वर्ण ॐ कार के स्थान पर आ जाता है । नव नाभ मण्डल के इस चित्र से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है ।

इस तरह से निवृत्ति कला में नवनाभ मण्डल की प्रकल्पना के अनुसार २८पद सिद्ध हो जाते हैं ।

विभागनवात्मवर्णान्येकाशीतिस्तत्तद्विश्रान्तिप्रदत्वात्पदानि[१] तेभ्यः प्रकृतितत्त्वाधिष्ठिते-शदिग्गतभागनवकगतं प्रातिलोम्येनेशोतरादिक्रमेण मध्यपदं यावद् ओंकाराद्यूकारान्तं पदनवकम्, तथैव पुरुषतत्त्वाश्रितकुबेरदिग्गतमूकारादियकारान्तं नवकम्, एवं नियति-स्थानस्थवायुदिग्गत[२]मूकारान्तमिति सप्तविंशतिः पदानि; [३]कालतत्त्वास्पदवरुणादिग्गतै-शकोणस्थ ऊकारश्चेत्यष्टाविंशतिः पदानि । अत्रैव स्पष्टीकरणार्थमयं प्रस्तारः प्रदर्श्यते ।

पूर्व

ईशान — सदाशिवः — अग्नि

प्रकृतिः	ओं	ह	र	ऊ	ओं	र	ऊ	ह	ओं	ईश्वरः
	य	ऊ	क्ष	य	ह	क्ष	य	र	क्ष	
	व	ल	म	व	ल	म	व	ल	म	
कुबेर पुरुषः	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	शुद्धविद्या
	ओं	य	क्ष	य	ओं	क्ष	य	क्ष	ओं	
	व	ल	म	व	ल	म	व	ल	म	
नियतिः	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	माया
	य	व	क्ष	य	ल	क्ष	य	म	क्ष	
	ओं	ल	म	व	ओं	म	व	ल	ओं	

वायु — कालः

वरुण

जहाँ तक वर्ण का प्रश्न है, प्रातिलोम्य की दृष्टि से वह वर्ण 'क्ष'कार ही माना जाता है । क्षकार पूर्ववक्त्र की दृष्टि से शान्त्यतीता कला में ही परमार्थतः चरितार्थ होता है । यह ईश्वरवक्त्र का ही वाचक वर्ण है । यह अन्यत्र निरूपित है । यहाँ यह पृथ्वी वाचक रूप में ही प्रयुक्त है । इस स्थिति में भी 'अ' वर्ण से 'क्ष' पर्यन्त जो वर्ण राशि है, इसे समग्र विश्व शरीर के रूप में और अतएव पर भैरव के परामर्शक रूप में देखा जाता है । इसका एक एक अंश भी विश्वरूप ही माना जाता है और विश्व का अभिधायक अर्थात् वाचक माना जाता है । तन्त्रशास्त्र की एक उक्ति भी इस सन्दर्भ में ध्यातव्य है ।

१. ख.पु. तत्त्वप्रदेति पाठः ।
२. ख.पु. दिक्स्थयकारादि इति पाठः ।
३. क.पु. कलेति पाठः ।

वर्ण एक इति मातृकासम्बन्धी प्रातिलोम्येन क्षः । यद्यप्ययं पूर्वं वक्त्रभङ्ग्या शान्त्यतीतापरमार्थ ईशानवक्त्रवाचकत्वेन निरूपित । इह तु पृथिवीवाचकत्वेन, तथापि आदिक्षान्तस्य शब्दराशेरशेषविश्वशरीरपरभैरवपरामर्शात्मकत्वेन एकैकोऽप्यंशः–

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च ।'

इति स्थित्या विश्वरूपत्वाद्विश्वाभिधायकः, वाच्योऽपिचांशः–

'एकैकत्र च तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता ।'

इति नीत्या विश्वात्मकत्वात् सर्ववर्णवाच्यः । ततश्च भगवता शक्तिनियन्त्रणाय एवमत्यण्वपि वा तत्तदागमे सिद्धवाचकभावे विचित्रदीक्षादिक्रमोपयोगिनि निरूप्यमाणेऽपि न [1]काचिदनुपपत्तिः । मन्त्राविति [2]निष्कलसद्योजातौ ।

एवमस्यां निवृत्तिकलाय्म्–

अध्वषट्कं विभावयेत् ।।१०३।।

अथेमां निवृत्तिमन्तर्भावितापराध्वव्याप्तिं पूर्वोक्तक्रमेण[3]–

'ब्रह्म रूप सर्वव्यापक तत्त्व का प्रदेश मात्र की सार्वरूप्य को अतिक्रान्त नहीं करता । साथ ही यह अविकल्प्य भी है । इस उक्ति से परभैरव परामर्शात्मकता की अनुभूति को ही बल मिलता है ।

इसका जो वाच्य अंश है, उसके विषय में भी कहा जाता है कि,

'एक एक तत्त्व में भी षट्त्रिंशत् तत्त्व रूपता व्याप्त है ।' इस न्याय नियम के अनुसार वाच्य अंश भी सर्ववर्ण वाचक बन जाता है क्योंकि, वह अंश भी विश्व रूपात्मक ही माना जाता है । इसी आधार पर एक 'सर्वः सर्वार्थवाचकः' उक्ति भी तन्त्र में प्रचलित है । इसी दृष्टि से भगवान् भैरव ने शक्ति के नियन्त्रण हेतु अति अणुरूप वर्ण आदि को भी विभिन्न आगम ग्रन्थ प्रवर्त्तित सम्प्रदाय परम्परा में सिद्ध वाचक भाव में निरूपित किया है । इसमें किसी प्रकार की विप्रतिपत्तिका प्रश्न ही नहीं होता ।

निवृत्ति कला में दो मन्त्रों का उल्लेख श्लोक १०३ में किया गया है । ये दोनों मन्त्र हैं । इन दोनों मन्त्रों को १–निष्कल और २–सद्योजात मन्त्र कहते हैं ।

इस प्रकार से इस निवृत्ति कला में षडध्व का भी विभाजन करना चाहिये । यह निवृत्ति कला का एक संक्षिप्त शब्द चित्र है । इसमें क्रमशः १–शतंकोटि प्रविस्तरा पृथ्वी, २–१०८ भुवन, ३–२८ पद, ४–एक वर्ण और ५–दो निष्कल और सद्योजात मन्त्र हैं । इनसे विभूषित निवृत्ति कला होती है ।

---

१. ख.पु. कदाचिदिति पाठः । २. क.पु. १ नैष्कलहृदये पाठः ।
३. ख.पु. पूर्वोक्तसत्रेणेति पाठः ।

पुष्पगन्धादिना पूज्य

अस्याश्च प्राङ्मन्त्रेण–

सन्निधावाहुतित्रयम् ।

सन्निधानाय आहुतित्रयं दद्यादिति शेषः । कलाद्यध्वान्तर्मलत्रयं शोध्यमिति वक्तु-माह–

मायीया भुवनाकारा मलाः कर्म च संस्थिताः ।।१०४।।

पाशा इति शेषः ।।१०४।।

तत्र–

शरीरभुवनाकारा मायीयाः परिकीर्तिताः ।
भोगहेतुश्च कर्म स्यादभिलाषो मलोऽत्र तु ।।१०५।।

भुवनैर्भावभूतादि लक्ष्यते, तेन यत्किंचिद्वेद्य[1]तया भाति, स मायीयो मलः, भोगेन तदाक्षिप्तं जन्मापि लक्षितम् । उक्तं च प्रत्यभिज्ञायाम्–

एक विशिष्ट बात जो जानने योग्य शेष रह गयी थी, वह यह है कि, निवृत्ति कला में षडध्व का विभाजन भी करना चाहिये । इस अन्तर्भावित अध्व व्याप्ति के सम्बन्ध में क्रमशः यहाँ स्पष्टीकरण देने की भूमिका के रूप में शास्त्रकार कह रहे हैं कि, पहले गन्धपुष्प आदि से पूजा करनी चाहिये । इसके सन्निधान के उद्देश्य से तीन आहुतियाँ भी अर्पित करनी चाहिये । कला होने के कारण कला तत्त्व और भुवन अध्वा के रूप में यहाँ मायीय, कार्म और आणव मलों की कल्पना भी करने की बात शास्त्र करता है । वस्तुतः भुवन क्या है ? ये मायीय मल के ही मूल उल्लास हैं । इनके साथ कार्म मल का स्वाभाविक अवस्थान भी सभी स्वीकार करते हैं ।।१०३-१०४।।

मायीय मल का शरीर ही भुवन माला के रूप में उल्लसित है । इस भुवन माला में रहने वाले प्राणी भोगवाद के अनुसार जीवन प्राप्त करते हैं और आजीवन कर्म विपाक से परितप्त रहते हैं । भोग हेतु कर्म ही माना जाता है । इस तरह भुवन भोग और कर्मवाद का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है । इसी आधार पर कहते हैं कि, जो कुछ वेद्य रूप से भात होता है, यह मायीय मल के अन्तर्गत परिगणित करने योग्य है । प्राणिवर्ग का जन्म भोगवाद पर ही निर्भर है । यह सब माया का ही उल्लास है । प्रत्यभिज्ञा की ही कारिका है–

---

१. ख.पु. भेद्यतयेति पाठः ।

'भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं..........।'

इति । तथा–

....................जन्मभोगदम् ।'

'कर्तर्यबोधे कार्मं तु ।' (ई. प्र. ३-२-५)

इति । 'अभिलाष' इति अपूर्णमन्यतात्मा लोलिकारूपः, न तु किञ्चिन्मे स्यादितीदृक् रागतत्त्वस्यैवमात्मत्वात् । अत्र त्विति, एतस्मिन्नाणवे भित्तिभूते सति अन्यन्मलद्वय-मित्यर्थः ॥१०५॥

एवं पाशत्रयं भाव्यं दीक्षायामध्वसंस्थितम् ।

अथैतद्भावयित्वा–

तद्विशुद्ध्यै च दीक्षा च क्रियते सा यथाविधि ॥१०६॥

'भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्या[1] अर्थात् दोनों प्रकार के आणव मलों के चरितार्थ हो जाने पर भिन्नता का प्रथन प्रारम्भ हो जाता है । वेद्य प्रथा बोध के स्वातन्त्र्य के नष्ट हो जाने और स्वात्म स्वातन्त्र्य के अज्ञान के कारण ही होती है । इसी के फलस्वरूप आवागमन का संसृति चक्र चलता है, जन्म और भोग मिलते हैं । कर्तृत्व और कर्त्ता के अबोध से देहादि का भिन्न प्रथन होता है । फलतः धर्म और अधर्म रूप कर्म से कार्म मल का प्रसार हो जाता है ।

यह कार्म मल कर्तृत्व और कर्त्ता उभय की अबोधता का ही परिणाम है । इसी अवस्था के भोग का हेतु ही कर्म है । कर्म से कार्म मल होता है । यहाँ अभिलाष को मल के रूप में व्यक्त किया गया है । यह अभिलाष इच्छा शक्ति का संकुचित रूप है । यह व्यक्ति के अपूर्ण हो जाने पर उठने वाली लोलिका के रूप में उन्मिषित होता है । इसे अपूर्णमन्यता का प्रतीक मानते हैं । जैसा कि, रागतत्त्व में मुझे कुछ प्राप्त होने की वृत्ति होती है, ऐसा यह अभिलाष नहीं होता । आणव मल की ही यह एक पूर्व भूमिका मानी जाती है । आणव मल की इसी पृष्ठ भूमि पर कार्म और मायीय दोनों मल आधृत होते हैं ॥१०५॥

निवृत्ति कला अन्तिम कला है । सबसे उतकृष्ट कला शान्त्यतीता कला में भी सूक्ष्म भुवनों की अवस्थिति का प्रतिपादन इसी शास्त्र में है । भुवन की अवस्थिति का अर्थ यह है कि, उतने अंश में वहाँ मल की विद्यमानता है । ऐसी अवस्था में यह आवश्यक हो जाता है कि, अनपेक्षित रूप से संस्कारतः विद्यमान इनका शोधन किया जाये । इसी तथ्य का स्पष्टीकरण करते हुए इस विषय का उपसंहार कर रहे हैं–

---

१. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ३/२/५ कारिका ।

विविधं तेषां पाशानां विशेषेण संस्कारपर्यन्तताप्रशमनरूपेण शुध्यर्थं चकाराद्यो-जनिकाग्रन्थनिर्वर्त्यशिवत्वाभिव्यक्त्यर्थं च दानक्षपणात्मा दीक्षा क्रियते ॥१०६॥

अत एव शान्त्यतीतायामपि सूक्ष्मभुवनावस्थितेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् तावतां-शेन मलसंस्कारस्य सत्त्वात् शोध्यतां प्रतिपादयिष्यन्नुपसंहरति–

तद्विधिं प्रस्तौति–

आदौ शक्तिं न्यसेद्देवि कलातत्त्वसमन्विताम् ।

शक्तिमाधाररूपां पारमेशीं क्रियाख्यां कलादीक्षाप्रस्तावात् प्रथमं निवृत्तिकलात्मना तत्त्वेनान्तर्भावितापराध्वपञ्चकेन सम्बद्धाम् ।

तथा–

हृदा सङ्कल्प्य वागीशीं व्यापिकां सर्वयोनिषु ॥१०७॥

न्यसेत् । हृदेति काकाक्षिवत् पूर्वत्रापि योज्यम् । उक्तं च–

इस प्रकार पाशत्रय का भावन करना चाहिये । विशेष रूप से दीक्षा के सन्दर्भ में अध्वा में संस्थित इन पाशों के विषय में सजगता पूर्वक सोचना चाहिये । वस्तुतः इनके शोधन में ही दीक्षा प्रक्रिया चरितार्थ होती है । दीक्षा का यही उद्देश्य भी है । विशेष रूप उन पाशों का इस प्रकार अन्त होना चाहिये, जिससे उनका संस्कार भी समाप्त हो जाय और उनका अन्त हो जाय । शुद्धि और शोधन का यही तात्पर्य होता है । दान और क्षपण ये कार्य दीक्षा के हैं । इससे योजनिका प्रकरण में आये शिवत्वाभिव्यक्ति के सन्दर्भ भी भावित हो जाते हैं ॥१०६॥

भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि, देवि ! इसके लिये आदि में ही अर्थात् पहले ही शक्ति का न्यास करना चाहिये । कला तत्त्व समन्वित शक्ति न्यास का ही विधान है । शक्ति के रूप में पारमेश्वरी क्रिया शक्ति का ही ग्रहण करना चाहिये । निवृत्ति कला का सन्दर्भ होने के कारण कला तत्त्वत्मिका दीक्षा ही दीक्षा रूप में दी जाती है । इसमें अध्व पञ्चक का भी अन्तर्भावन यहाँ किया जाता है । कलाध्वा के अतिरिक्त शेष पाँचों अध्वा यहाँ अन्तर्भूत हृदय रहते हैं । मन्त्र से वागीशी का संकल्प कर सभी योनियों में व्यापिका शक्ति का न्यास भी किया जाना चाहिये । हृदय आदि मन्त्र इन शक्तियों के वाचक माने जाते हैं । काकाक्षिन्याय से आधार रूपा परमेश शक्ति का न्यास भी हृदय में ही करना चाहिये ।

इस पटल के श्लोक सत्तानबें में यह स्पष्ट उल्लेख है कि, हृदय, शिर, शिखा, कवच और नेत्रत्रय मन्त्र क्रमशः निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता और शान्त्यतीता कलाओं के वाचक माने जाते हैं ।

'हृदाद्या वाचकास्तासां..........।' इति । (४-९७)

'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे ।'

इति स्थित्या यथास्याश्चतुर्दशविधभूतसर्गजन्मभूमिव्यापकत्वं तथा निर्णीत-मेव ॥१०७॥

निवृत्त्यनुसारेण योनीर्निरूपयति–

शतरुद्राद्यनन्तान्तं योनयो विविधाः स्थिताः ।

विविधाश्चतुर्दशविधभूतसर्गजनिकाः ।

तासु च–

समकालमृतुत्वेन वागीशीं सन्निधापयेत् ।।१०८।।

आयातशक्तिपातं प्रति शुद्धसृष्ट्यौन्मुख्यसम्पाद्ययुगपदनेकदेहसर्गयोग्यतात्मकार्तवयुक्त्या सा तावत्संनिहिता, आचार्यस्तु तन्मूलबलावष्टम्भात्मना प्रयोजकव्यापारेण तां सन्निधिमुद्राबन्धनपूर्वकमग्निकुण्डेऽवस्थापयेत् ॥१०८॥

अथ तां

ध्रुवेण पूजयेत्पुष्पैर्गन्धधूपैरनुक्रमात् ।

अत्र च प्रणवं हृद्बीजं चोच्चार्य, 'पृथिवीतत्त्वस्थानन्तादिवीरभद्रान्तनानाभुवन-

---

यहाँ वागीशी को सर्वयोनिव्यापिका रूप में उद्घोषित करना परम्परा के अनुसार है । श्रुति कहती है कि, वाक् तत्त्व ही निखिल भुवनों की उद्भाविका शक्ति है । स्वाभाविक है कि, यह सब में व्याप्त हो । अतएव चतुर्दश भूत सर्ग में इसकी व्यापकता को सभी शास्त्र प्रामाणिक मानते हैं ॥१०७॥

निवृत्ति कला के अनुसार योनियों का निरूपण कर रहे हैं–

शतरुद्रों से अनन्त पर्यन्त अनेक प्रकार की योनियों का वर्णन शास्त्रों में किया गया है । इन्हीं योनियों से चौदह सर्गों की उत्पत्ति होती है । इन योनियों में ऋतु काल की दृष्टि आवश्यक है । आयात-शक्तिपात शिष्य शुद्ध सृष्टि के प्रति उन्मुख रहता है । उसमें एक साथ ही अनेक देहसर्ग की योग्यता वाली आर्त्तवयुक्ति से वागीशी सन्निहित होती है । आचार्य वागीशी के मूल मन्त्र से अवष्टम्भक प्रयोजक व्यापार के द्वारा सन्निधान-मुद्रा-बन्ध पूर्वक अग्नि कुण्ड में वगीशी को अवस्थापित करें ॥१०८॥

ध्रुव मन्त्र से धूप दीप गन्ध पुष्प आदि द्वारा पूजन करना चाहिये । प्रणव और हृद्बीज के उच्चारण पूर्वक पूजा की बात आचार्य क्षेमराज करते हैं । इससे यह निश्चय होता है कि, ध्रुव मन्त्र प्रणव पूर्वक हृद्बीज ही है । पृथ्वी तत्त्व में ही अनन्त देव अवस्थित रहते हैं । अनन्त से वीरभद्र (शतरुद्रलोकाधीश्वर) लोक

गतचतुर्दशविधभूतसर्गविचित्रशरीरहेतवे निवृत्तिव्यापिकायै वागीश्यै नमः' इति मन्त्रः सन्निधापनपूजनयोः ।

अथ–

ओंकारेणाहुतीस्तिस्रो वागीशीसन्निधापने ।।१०९।।

दद्यादिति शेषः ॥१०९॥

दत्त्वा च–

शिष्यं सम्प्रोक्ष्य चास्त्रेण ताडयेदस्त्रमुच्चरन् ।

प्रोक्षणं हृदयदेशानुसारे पाशसूत्रे शिवाम्भसा, ताडनं तु भस्मना तैरेव वा ।

रेचकेनात्मनो गत्वा छिन्द्यात्तस्यासिना हृदः ।।११०।।

'शशिमार्गेण शिष्याणां सूर्यस्थः प्रविशेद्धृदि ।'

पर्यन्त नाना भुवनों में चतुर्दश भूतसर्ग की सम्यक् रूप से सुन्दर शरीर उत्पन्न होने के उद्देश्य से 'निवृत्ति व्यापिका रूप वागीशी को नमस्कार है' इस प्रकार के मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये । पूरा ऊहमन्त्र इस प्रकार बनेगा–

'ॐ ह्रीं अनन्तात् वीरभद्र पर्यन्तं चतुर्दश-भूतसर्ग-सृष्टये निवृत्ति-व्यापिकायै वागीश्यै नमः ।' इसे 'ॐ ह्रीं वागीश्यै नमः' इस संक्षिप्त मन्त्र से ही पूजन होता है । संकल्प में उद्देश्य का प्रयोग करना चाहिये । यह भी मन्त्र का एक पक्ष है । इस प्रकार पूजा करने के बाद ओङ्कार से ही वागीशी सन्निधापन के उद्देश्य से तीन आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिये ॥१०९॥

आहुतियों को अर्पित करने के उपरान्त शिष्य का सम्प्रोक्षण करना चाहिये । सम्प्रोक्षण अस्त्रमन्त्र से और अस्त्रमन्त्र से ही ताडन प्रक्रिया भी पूरी करनी चाहिये । सम्प्रोक्षण में शिवाम्भस का प्रयोग करना चाहिये । यह भी ध्यान देने की बात है कि, हृदय देश पर पड़े पाश सूत्र में शिवाम्बु से और ताडन भस्म से करने की परम्परा है ।

इस अवसर पर शास्त्र की एक संकेतात्मक उक्ति को श्रीलक्ष्मीकौलार्णव शास्त्र के वचनों से प्रमाणित करते हुए कह रहे हैं कि, इसके बाद आचार्य को एक विशेष कार्य सम्पन्न करना चाहिये ।

शास्त्र ने इतना ही कहा है कि, 'रेचक से शिष्य के भीतर जाकर शिष्य के हृदय देश में अवस्थित आत्मा को असिमन्त्र से छेदन करें' । यह सूत्रात्मक उक्ति है । श्रीलक्ष्मीकौलार्णव की उक्ति है कि,

इति श्रीलक्ष्मीकौलार्णवोक्तनीत्या स्वदक्षिणेन निर्गत्य शिष्यस्य वामेन प्रविश्य पुर्यष्टकरूपं शिष्यात्मानमस्त्रमन्त्रेण भावनया सूत्रस्थं छिन्द्यात् ॥११०॥

छिन्नं च–

धाम्नाकृष्य तदात्मानं द्वादशान्ते निधापयेत् ।

आकर्षणयुक्तिः पूर्वमेवोक्ता । एतच्च–

'रश्मिमात्रावियोगेन कार्यम्............।' इत्युक्तम् ॥

अथ–

ध्रुवेण तत्स्थं सम्पुट्य चैतन्यं मुद्रयात्मनि ।।१११।।
पूरयेद्भैरवेणैव

सूर्यस्थ आचार्य शिष्यों के शशिमार्ग से उनके हृदय में प्रवेश करे । आचार्य का दक्षिणस्वर चलने पर वह सूर्यस्थ होता है । इसी प्रकार शिष्य का वाम स्वर चलता है तो वह चन्द्रस्थ होता है । इसी अवस्था में दक्षिण स्वर छोड़ते हुए शिष्य के वाम स्वर लेते समय ही शिष्य के हृदय में आचार्य प्रवेश कर जाय । वहाँ पहुँच कर वह उसके हृदय में पुर्यष्टक रूप से अवस्थित पाश सूत्रस्थ और आत्मा को भावना के माध्यम से काट डाले । यह पूरी प्रक्रिया आन्तर प्रयोग और भावना पर आधारित है ॥११०॥

धाममन्त्र से छिन्न सूत्रस्थ पुर्यष्टक रूप आत्मतत्त्व को बाहर कर द्वादशान्त में निधापित कर दे । आकर्षण रश्मिरज्जुओं से ही होता है । यहाँ यह स्पष्ट नहीं उल्लेख है कि, हृदय से खींच कर आत्मा को किस द्वादशान्त में ले जाय ? वस्तुतः श्वास के माध्यम से होने वाला यह आकर्षण बाह्य द्वादशान्त में ही सम्भव है । निवृत्तिव्यापिका क्षेत्र होने के कारण यहाँ ऊर्ध्व द्वादशान्त की बात नहीं मानी जा सकती । अतः मध्य (बाह्य) द्वादशान्त में उसे ले जाकर उस चैतन्य को संहार मुद्रा से सम्पुटित कर देना चाहिये और भैरवभाव से उसे पूरित कर देना चाहिये । आचार्य यह कार्य स्वयम् अपने स्तर पर करता है । वह इसे स्वात्म में ही सम्पादित करता है । अभी पहले द्वादशान्त की चर्चा आयी है । यह द्वादशान्त भी आचार्य का ही होता है । श्लोक में आये आत्मनि शब्द का अर्थ आचार्य क्षेमराज ने हृदय लगाया है । मेरी दृष्टि से यह द्वादशान्त का विशेषण है । अपने ही द्वादशान्त का समर्थन तत्स्थ चैतन्य शब्द से हो रहा है । वास्तव में बाह्य (नासिक्य) द्वादशान्त में शैव चैतन्य भरा रहता है । इसलिये इसे चितिकेन्द्र भी मानते हैं ।

तत्स्थं द्वादशान्तस्थम्, मुद्रयेति दीप्तशिवहस्तकृतया[१] संहाराख्यया, आत्मनीति स्वहृदये, भैरवेण निष्कलेन ॥१११॥

तेनैव च–

कुम्भयेद्रेचयेत्ततः ।

नासाक्रमेणैव ।

तत एव च–

द्वादशान्तात्तु संगृह्य योजयेद्भवमुद्रया ॥११२॥

योजनं वागीशीगर्भे, 'भवमुद्रा' लिङ्गमुद्रा ॥११२॥

योजने इतिकर्तव्यतामाह–

आत्मानमीश्वरं ध्यात्वा मायां वागीश्वरीमपि ।
संयोज्य तस्यां चैतन्यं शरीराण्यध्वनि सृजेत् ॥११३॥

जहाँ तक संहार मुद्रा की बात है, यह भी आचार्य के ही वश की बात है । वह 'शिवहस्त विधि' को जानता है । इसमें शैव महाभाव की दीप्ति भरी रहती है । 'शिवहस्त विधि' का विशेषज्ञ आचार्य होता है । संहार मुद्रा से सम्पुटित कर निष्कल भैरव से पूरित करने का सारा व्यापार स्वयम् आचार्य ही सम्पन्न करता है । इस प्रकार शिष्य में भैरवीय योग्यता का आधान दीक्षा के लिये अनिवार्यतः आवश्यक माना जाता है ॥१११॥

निष्कल भैरव मन्त्र से पूरित करने के व्यापार में कुम्भक का प्रयोग होता है । कुम्भक से शिष्य चैतन्य को पूरी तरह पुष्ट कर उसे उसी के साथ रेचित करना चाहिये । यह नासिक्य द्वादशान्त से ही सम्भव है । इसीलिये आचार्य क्षेमराज को 'नासाक्रमेण' कहना पड़ा । शास्त्र उसी का समर्थन करता है कि, द्वादशान्त से रेचक द्वारा शिष्य चैतन्य के बाहर आने पर उसको पकड़कर (भावना से ही) वागीशी गर्भ में उसे योजित करना चाहिये । वागीशी गर्भ में योजित करने में सामान्य चर्याक्रम के ही अनुसार लिङ्ग का प्रयोग स्वाभाविक रूप से होना ही चाहिये । अतः भवमुद्रा अर्थात् लिङ्गमुद्रा का प्रयोग करने से ही वागीशी गर्भ में योजित किया जा सकता है । यह प्रक्रिया आचार्य ही पूरा करता है ॥११२॥

योजन क्रम में क्या क्या करना चाहिये ? वहाँ के करणीय कर्त्तव्य क्या है ? इसी जानकारी को इतिकर्त्तव्यता कहते हैं । यहाँ उसी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं–

सर्वप्रथम आचार्य स्वात्म को परमेश्वर रूप में ही प्रतिष्ठित करता है । यह ध्यान के द्वारा सम्भव है । अपने ईश्वरभाव का निश्चय कर वह ईश्वर रूप हो जाता है । गुरु अब वागीशी की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करता है ।

---

१. ख.पु. कृतये इति पाठः ।

ईश्वरः क्रियाशक्तिप्राधान्यात् स्रष्टा, प्राङ्निर्णीता तु वागीश्वरी सम्प्रत्यशुद्धाध्व-प्रमातृत्वान्माया, शुद्धाध्वप्रसवे तु एषैव महामायात्मा भविष्यति, मायारूपायाश्चास्याः[१] शुद्धविद्यास्पर्शो नास्ति, अन्यथा क्रमिककर्मभोगानां युगपच्छुद्ध्यर्थमनन्तदेहसृष्टेरयोगात्, चैतन्यमिति दीक्ष्यस्येति अर्थात्, अध्वनीति प्रकृते निवृत्तिकलाप्रधाने ॥११३॥

किमर्थं सृजेदित्याह–

प्राक्कर्मवासनाशेषफलभोगत्वहेतवे ।

वागीशी को वह माया के रूप में भावित करता है । यहाँ यह ध्यातव्य है कि, माया ईश्वर की ही शक्ति है । उसी माया शक्ति में उस चैतन्य को गुरु नियोजित करता है । यह क्रिया आध्यात्मिक है । इसका आयुर्वैदिक प्रयोग भी किया जाता था । इसी क्रिया से सूर्य इन्द्र वायु आदि द्वारा पाण्डवों के जन्म की कथा महाभारत में आती है । भौतिक रूप से भी पुरुष वीर्य को किसी स्त्री के गर्भ में नियोजित कर उस भ्रूण को भी गर्भों में स्थानान्तरित कर सकते हैं । भ्रूण को अनेक रूपों में विभक्त कर एक ही गर्भ से हजार शिशु उत्पन्न किये जा सकते हैं ।

इस प्रासङ्गिक तथ्य के बाद पुनः प्रकृत तथ्य की बात करते हैं । ईश्वर क्रिया-शक्ति प्रधान स्रष्टा तत्त्व है । माया शक्ति है । यहाँ वागीशी अशुद्ध अध्वा की प्रमाता होने के कारण माया रूप में ही उल्लसित है । यही शुद्धअध्वा में महामाया के रूप में उल्लसित होती है । महामाया ही अशुद्ध अध्वा की माया है । इसका शुद्ध विद्या का स्पर्श भी नहीं होता । शुद्ध विद्या में क्रमिक कर्म भोगों के शमन के लिये अनन्त देह सृष्टि का उपक्रम असम्भव है । यह माया में ही हो सकता है ।

इसी माया में उस चैतन्य का संयोजन करते हैं । यह निवृत्तिकला प्रधान अशुद्ध अध्वा का नियोजन है । इस अशुद्ध अध्वा में शिष्य-चैतन्य को माया रूप वागीशी के गर्भ में ईश्वर रूप आचार्य स्थापित करता है और अनन्त शिष्य शरीरों की सृष्टि करता है । शास्त्र 'सृजेत्' क्रिया के माध्यम से एक विधि का निर्देश करता है और कहता है कि, आचार्य इसे करें ॥११३॥

इस सृजन का उद्देश्य क्या है ? इस स्वाभाविक जिज्ञासा का उत्तर दे रहे हैं । यह एक अलौकिक प्रक्रिया है, जिसका लोक कल्याण के लिये आचार्य अपने बल पर प्रवर्त्तन करता है । भगवान् कहते हैं कि, पूर्वजन्मों में क्रियमाण और संचित हुए ऐसे अनन्त अवशिष्ट कर्म हैं, जिनका भोग अभी बाकी है । बिना भोगे उनसे छुटकारा नहीं हो सकता । वे ही प्राग्वासना हेतुक अनन्त जन्म, आयु और भोगात्मक फल देते हैं । यही कर्मविपाक कहलाता है ।

---

१. ख.पु.अपि चास्य इति पाठः ।

पूर्वकर्मवासनाहेतुकानि यान्यशेषाणि जन्मायुर्भोगात्मकानि फलानि, तेषां भोग्यत्वं भोगसिद्धिर्यथा स्यात् ।

एतानि च शरीराणि–

युगपद्भिन्नभोगानि देशकालशरीरतः ।।११४।।
मन्त्राशक्त्या विपच्यन्ते

शरीरमत्र स्वभावः । भिन्नो भोगो येषु, देशादित्रयान्तानि शरीराणि मन्त्रशक्त्या युगपद्विपच्यन्ते फलदानोन्मुखानि सपद्यन्ते ।।११४।।

न केवलं शरीराणि युगपद्भिन्नभोगानि विपच्यन्ते यावत्–

पुद्गलाश्च तथाविधाः ।
भिन्नदेहा विसृज्यन्ते[1] गर्भे वागीशियोनिषु ।।११५।।

इस कर्मविपाक को इसी जन्म में इसी अवसर पर भोग कर समाप्त कर देने के उद्देश्य से इन अनन्त शरीरों का सृजन आचार्य को करना चाहिये । यह शास्त्र का आदेश, उपदेश और निर्देश है ।

ये शरीर एक साथ विभिन्न भोगों को भोगने के लिये ही उत्पन्न किये जाते हैं । ये विभिन्न भोग विभिन्न देश और काल से सम्बन्धित होते हैं किन्तु ये इस अवसर एक ही देशकाल में विभिन्न फलों को भोग लेते हैं । मन्त्र शक्ति से यह सम्भव हो जाता है । सभी फलों का विपाक सम्पन्न होने पर शिष्य का चैतन्य समुज्ज्वल हो जाता है और शिष्य दीक्षा के योग्य 'दीक्ष्य' हो जाता है । 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' यह उपनिषद्वाक्य चरितार्थ हो जाता है ।

यह ध्यान देने की बात है कि, यहाँ शरीर का रूप क्या रहता है ? आचार्य क्षेमराज कहते हैं–'शरीरमत्र स्वभावः' अर्थात् वे सृष्ट शरीर उसके अर्थात् दीक्ष्य के 'स्व' भाव होते हैं । इनके भिन्न भिन्न भोग होते हैं । मन्त्र शक्ति से वे फलदानोन्मुख होकर समाप्त हो जाते हैं ।।११४।।

वे शरीर फल भोग हेतु ही सृजित किये जाते हैं । शरीर में फल भोग की अनुभूति तो तभी हो सकती है, जब उनमें चैतन्य का समावेश हो । इस तथ्य को शास्त्र स्वीकार करता है । वह उन्हें पुद्गल कहता है और इनमें बहुवचन का प्रयोग कर यह सिद्ध करता है कि, दीक्ष्य के ही वे नाना शरीर हैं और वे पुद्गल हैं अर्थात् अणु पुरुष हैं ।

---

१. ख.पु.विपच्यन्ते इति पाठः ।

'पुद्गला' इत्यनेनैकस्यापि दीक्ष्यस्य नानाशरीरतया बहुत्वं वदन् भेदवादस्यावास्तवतां ध्वनति । यस्मादेकस्यापि दीक्ष्यात्मनो नानाभोगाश्रयविचित्रदेहशुद्धौ भोग्य-वैचित्र्येण नानात्वभावः । 'तथाविधा' इति भिन्नभोगाः, योनिष्विति चतुर्दशविधभूतसर्गा-पेक्षं बहुत्वम्, विसृष्टिः[1] नियतभोगार्थं संयोजनम् ॥११५॥

तदित्थं शिष्यचैतन्यम्–

धाम्ना च योजयित्वा च जुहुयादाहुतित्रयम् ।

निष्कलोच्चारपूर्वनिवृत्तिव्याप्तानन्तादिवीरभद्रान्तनानाभुवनगतचतुर्दशविधभूतसर्गसम्पत्त्यर्थं देवदत्तस्य वागीशीगर्भयोजनं करोमि नमः इति मन्त्रः । होमे तु स्वाहान्तः । एवमुत्तरत्राप्यूहमन्त्राः स्वयमभ्यूह्याः ।

एवं संयोजने सति–

युगपत्सर्वगर्भेषु देहा विविधरूपकाः ॥११६॥
भैरवेच्छासुसम्पन्नाः[2] शतरुद्राद्यनन्तगाः ।

भवन्तीति शेषः । भैरवशब्देनात्र भैरवसमावेशशाली आचार्य उक्तः ॥११६॥

एक तथ्य की ओर आचार्य यहाँ ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं । वस्तुतः यह नानात्वमय भेदवाद का समर्थन नहीं है । दीक्ष्य तो एक है' नाना भोगाश्रय ये अलौकिक पुद्गल भोग समाप्त कर वागीशी में ही विसृष्ट कर दिये जाते हैं । भूतसर्ग चतुर्दश प्रकार का होता है । अतः अनन्त योनियों की बात भी श्लोक में की गयी है । यह सारा उपक्रम दीक्ष्य के अवशिष्ट भोगों को समाप्त कर उस दीक्ष्य को दीक्षा योग्य सम्पन्न कर शुद्ध अवस्था में दीक्षा देने के उद्देश्य से ही किया जाता है ॥११५॥

इस प्रकार शिष्य शुद्ध चैतन्यात्मक भाव से पूर्णतया भावित हो जाता है । उसे धाममन्त्र से आचार्य योजित करता है । योजित करने के बाद इस मन्त्र से ॐ ह्रीं निवृत्ति व्याप्तानन्तादिवीरभद्रान्तनाना-भुवन-गत-चतुर्दशविध-भूतसर्ग-सम्पत्त्यर्थं शुद्ध चैतन्यसम्पादनार्थं दीक्ष्यस्य (नाम्ना) वागीशी गर्भ योजनं करोमि नमः स्वाहा ।'

इस मन्त्र से तीन आहुतियाँ देनी चाहिये । यह ऊहमन्त्र है । ऐसे अवसरों पर आचार्य स्वयम् ''ऊहन' कर नये मन्त्रों का प्रयोग कर सकते हैं । इस प्रकार संयोजन कर लेने के उपरान्त एक साथ ही सभी गर्भो में विविध प्रकार के देह भैरव की इच्छा से सम्पन्न होते हैं । वे शतरुद्र लोकों से अनन्त पर्यन्त लोकों में जाने के संस्कार से समन्वित होते हैं । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, श्लोक में भैरव शब्द से मुख्यतया आचार्य का ही ग्रहण अपेक्षित है ॥११६॥

---

१. ग.घ.पु.निसृष्टिरिति पाठः । २. ख.पु. सुनिष्पन्ना इति पाठः ।

अथ–

गर्भेषु गर्भनिष्पत्तिर्भैरवेणाहुतित्रयम् ।।११७।।
हुत्वा तु जननं कार्यं पुनस्तेनाहुतित्रयात्[1] ।

कर्मनामानुसारी अत्रोहमन्त्रः, गर्भाणां निष्पत्तिर्यत्र आहुतित्रये तद्गर्भेषु गर्भनिमित्तं हुत्वा, जननं गर्भनिःसरणम्, तेनेति निष्कलेनैव ।।११७।।

शिष्यदेहे । १. पाशसूत्रावलम्बनम्, २. षडधिकरणगताध्वसंधानम्, ३. तद्धोमः, ४. अध्वव्याप्त्यवलोकनम्, ५. अध्वोपस्थापनम्, ६. तत्पूजा, ७. होमः, ८. तदन्तः-पाशत्रयचिन्तनम्, ९. कला[2]शक्तिसमन्विताधारशक्तिन्यासः, १०. वागीश्याः संनिधापनम्, ११-१२. तत्पूजाहोमौ, १३-१४. शिष्य-सम्प्रोक्षणताडने, १५. तच्चैतन्या-कर्षणम्, १६. द्वादशान्ते स्थापनम्, १७. ततो ग्रहणम्, १८– स्वहृदि योजनम्, १९. स्वद्वादशान्तप्रापणम्, २०. वागीशीगर्भे योजनम्, २१. नानागर्भनिष्पत्तिहोमः, इत्येकविंशत्यवान्तरसंस्कारैरुपस्कृतम् होमेन जन्माख्यं संस्कारमभिधाय, अधिकाराख्यं संस्कारं वक्तुमाह–

गर्भों से गर्भ निष्पत्ति की प्रक्रिया सृजन का मूल मन्त्र है । इस निष्पत्ति के उपलक्ष्य में भैरव मन्त्र से तीन आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिये । हवन उपरान्त ही प्रजनन होना चाहिये । प्रजनन (प्रसव) के उपरान्त पुनः तीन आहुतियाँ दी जानी चाहिये । 'तेन' इस परपरामर्शक सर्वनाम के आधार पर यह निश्चय किया जाना चाहिये कि, जिस मन्त्र से प्रसव कराया जाता है, वह निष्कल मन्त्र ही है ।।११७।।

यहाँ तक एक विशिष्ट परम्परा का निर्वाह किया गया है । इसमें इक्कीस उप संस्कारों का प्रयोग शिष्य-शरीर में हुआ है । उनके नाम इस प्रकार हैं–

१–पाशसूत्र का अवलम्बन, २–छः अधिकरणगत अध्व सन्धान, ३–तद्विषयक होम, ४–अध्वव्याप्ति दर्शन, ५–अध्वोपस्थापन, ६–अध्वपूजन, ७–तद्विषयक होम, ८–उन अध्वाओं में तीन पाशों का चिन्तन, ९–कलाशक्ति समन्वित आधार शक्ति का न्यास, १०–वागीशी का संन्निधापन, ११–पूजन, १२–होम, १३–शिष्य सम्प्रोक्षण और १४–ताडन, १५–शिष्य चैतन्य का आकर्षण, १६–द्वादशान्त में स्थापन, १७–द्वादशान्त से ग्रहण, १८–अपने हृदय में योजन, १९–स्वद्वादशान्त प्रापण, २०–वागीशी गर्भ में योजन और २१–नानागर्भ निष्पत्ति होम । इन उप संस्कारों की गणना क्षेमराज ने की है ।

यह क्रम विचारणीय है । श्लोक १११ के अनुसार शिष्य के चैतन्य को आकृष्ट कर द्वादशान्त में संनिधापन की बात कही गयी है । तत्स्थ अर्थात् उस द्वादशान्त स्थित चैतन्य को संहार मुद्रा से स्वात्म में सम्पुटित करना है और निष्कल

---

१. क.पु. त्रयमिति पाठः । २. ख.पु. कलातत्त्वेति पाठः ।

सर्वयोनिषु देहास्ते युगपद्बृद्धिमागताः ।।११८।।

भाव्या इति शेषः ॥११८॥

प्रवृद्धदेहानामेव भोगेऽधिकाराद्भोगमाह–

भोगनिष्पत्तये कर्म व्यापारसहकारणम् ।

भाव्यमिति शेषः । पशोरतीतमनागतं च यत् क्रमिकानन्तभोगसम्पादकं सम्भाव्यते शुभादि[1] वासनात्मकं कर्म तत्सर्वं

भैरव मन्त्र से पूरित करना है । पुनः श्लोक ११२ में द्वादशान्तात्तु संगृह्य की बात कही गयी है । इस बीच में 'हृदय' में योजन की बात कहाँ से आ गयी ? आत्मनि का अर्थ हृदय नहीं किया जा सकता । वह अपना चिति केन्द्र रूप द्वादशान्त ही हो सकता है । इस आधार पर आचार्य क्षेमराज द्वारा गिनाये गये १७वें और अठारहवें संस्कार अमान्य हैं । इसलिये केवल १९ संस्कार, जो यहाँ तक सम्पन्न किये गये हैं, वही मान्य संस्कार हैं । २१ संस्कार मानना अनिवार्य हो, तो सत्रहवें स्थान पर संहार मुद्रा से चैतन्य का सम्पुटीकरण और अठारहवें स्थान पर भैरव रूप निष्कल मन्त्र से पूरक कुम्भक और रेचन रूप संस्कार मानकर २१ संस्कारों की संख्या पूरी की जा सकती है ।

इसके बाद अधिकार नामक संस्कार की चर्चा करने के लिये इस कारिका का प्रवर्त्तन कर रहे हैं । आचार्य शिष्य को उद्बोधित कर रहा है कि,

समस्त योनियों में तुम्हारा शरीर साथ ही साथ वृद्धि को प्राप्त कर रहा है । भावना के बल से शरीर का संवर्द्धन हो जाता है । शरीर संवर्द्धित होने पर भोग का अधिकार प्राप्त हो जाता है । यह देखना और विचार करना आचार्य का ही उत्तरदायित्व है ॥११८॥

भोग की निष्पत्ति के लिये कर्म की अपेक्षा होती है । ये चेष्टारूप व्यापारों के सहकार से समुत्पन्न होते हैं । शिष्यों द्वारा अतीत काल और भविष्यत् काल के क्रमिक रूप से अनन्त भोगों के सम्पादक कर्म हैं, वे सभी शुभ और अशुभ-वासनाओं से समन्वित होते हैं और क्रमशः उत्पन्न होते रहते हैं ।

श्री किरण शास्त्र में एतद्विषयक एक उक्ति का उद्धरण यहाँ दे रहे हैं । वहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि, 'अणु शिष्य जब सजग हो जाता है,तो वह भाविक कर्मों को जले हुए बीज की तरह निर्बीज बना डालता है । इस तरह उसका भविष्यत् अवरुद्ध हो जाता है । शेष कर्म भोग से ही समाप्त हो जाते हैं' ।

---

१. ख.पु. शुभकर्मवासनेति पाठः ।

'अनेक[१]भाविकं कर्म दग्धं बीजमिवाणुभिः ।
भविष्यदपि संरुद्धं येनेदं तद्धि भोगतः ॥'

इति श्रीकिरणोक्तनीत्या मन्त्रयुक्त्या युगपद्भोगनिष्पत्त्यर्थमनुसन्धेयम्, कीदृक् 'व्यापारैः' वाङ्मनःकायचेष्टाभिः 'सहकारणं' सहेतुकमित्यर्थः ।

अवश्यं चैतदन्यथा-

तदभावान्न भोगः स्यात्

कर्मैव हि मायीयभोगहेतुः ।

भोगार्थमेव तत्साधनाहरणाय सर्वे प्रवर्तन्ते[२] इत्याह-

तदर्थं मार्जनं स्मृतम् ।।११९।।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, कर्म हमेशा भोग की निष्पत्ति के लिये ही होते हैं । इसीलिये कारिका कहती है-

'भोगनिष्पत्तये कर्म ।'

ये सभी कर्म अणु पुरुषों की वाणी, मन और शरीर की चेष्टाओं के कारण होते हैं । वाणी, मन और शरीर द्वारा जितने व्यापार किये जाते हैं, वे विशेष आन्तरिक इच्छाओं से प्रेरित होकर ही सम्पन्न होते हैं । यह निश्चय है कि, वासना रहित स्थिति में जब साधक वाग्व्यवहार से बचता रहता है, मन से कुछ मनन न करते हुए अमन भाव में विभोर रहता है और देह व्यापार भी भगवान् के लिये करता है, तो सारे कर्म अवरुद्ध हो जाते हैं । कर्म के अवरुद्ध हो जाने पर अर्थात् कर्म के अभाव में भोग का भी अभाव होना स्वाभाविक है । इस आधार पर हम इस सिद्धान्त की घोषणा करते हैं कि,

'कर्म ही मायीय भोग का मुख्य कारण है । कर्म के अभाव से भोग का अभाव अवश्यम्भावी है ।'

यह भी सच्ची बात है कि, संसार के जीव भोग चाहते हैं । भोग के लिये उन साधनों का आहरण करते हैं । वाणी, मन और शरीर के व्यापारों का सम्पादन करते हैं । फलतः अनन्त वासनाओं के शिकार हो जाते और आवागमन के चक्र में चक्कर काटने को विवश हो जाते हैं ।

इस वैवश्य को पहचानना साधक का कर्त्तव्य है । इसको पहचान कर सर्व प्रथम जिस व्यापार में साधक प्रवृत्त होता है, उसे मार्जन कहते है । कर्म को शुद्ध करने के लिये मार्जन की प्रक्रिया अपनायी जानी चाहिये ॥११९॥

---

१. ख.पु. अनेकमिति पाठः । २. ख.पु. प्रयतन्त इति पाठः ।

यस्मात् शुभाद्यनुष्ठानाद् भोगसाधने–

अर्जिते सति भोक्तव्यो भोगो दुःखसुखात्मकः ।

एवं भोगं निर्णीय, निवृत्तेऽपि तस्मिन् तत्संस्कारान्तर्मायीयभावरूपमिव लयं वक्तुमाह–

लयः परमया प्रीत्या सुखदुःखादिकेऽप्यलम् ।।१२०।।

दीक्ष्यस्य गुरुणा भाव्य इति शेषः । तदुक्तं श्रीमृगेन्द्रे–

'कञ्चित्कालं लयः.............।' इति ।।१२०।।

एवमधिकारभोगलयाख्यं संस्कारत्रयं भावनया परिकल्प्य–

तिसृभिस्तिसृभिर्होमं धाम्नैव त्रिषु कारयेत् ।

ऊहमन्त्रान्तेनेत्यर्थात् तिसृभिरित्याहुतिभिः ।

जब तक वासनाओं से प्रेरित होकर हम कर्म करते हैं । वाणी, मन और शरीर गत चेष्टाओं से कर्म उत्पन्न करने में प्रवृत्त रहते हैं, तब तक भोग अर्जित करते रहते हैं । अर्जित भोगों को भोगना हमारी अपनी ही कमाई का उपयोग करने के समान है । यह सुखमय और दुःखों से भरे भी हो सकते हैं । इस दुःख सुखात्मक भोगवाद की पहचान सौभाग्य से ही हो पाती है ।

मान लीजिये, हमने भोगवाद को पहचान लिया । कर्म निष्काम करने का अभ्यास करने लगे । उस समय भी अपने अन्तर में हमेशा झाँकते रहना चाहिये । पुराने कर्मों की वासनायें बनी रहती हैं । उन वासनाओं का विलापन कैसे हो ? यह सावधानी पूर्वक सोचना चाहिये । वासनाओं का लय आवश्यक है । यह कैसे हो, यही कह रहे हैं–

लय का यह कार्य परमोपास्य के प्रति परम प्रीति से उत्पन्न होता है । सुख भी उसी का दुःख भी उसी का । गुरुदेव दीक्ष्य में यही भाव भर देते हैं और वासना के लयात्मक लक्ष्य की पूर्त्ति हो जाती है ।।१२०।।

इस प्रकार भावना पूर्वक तीन संस्कारों से दीक्ष्य और भी संस्कृत हो जाता है । प्रथम संस्कार अधिकार है । दूसरा भोग है और तीसरा संस्कार लय है । अधिकार, भोग एवं लय रूप इन संस्कारों का भावना से परिकल्पन करने के बाद तीनों को लक्ष्य कर तीनों के लिये तीन तीन आहुतियाँ देनी चाहिये । इसके लिये ऊह मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिये । जैसे-'ॐ ह्रीं अधिकार सम्पत्त्यर्थं दीक्ष्यस्य अधिकार- योजनं करोमि स्वाहा' । यह अधिकार संस्कार का ऊह मन्त्र है । ऐसे ही मन्त्रों का भी ऊहन करना चाहिये ।

इस तरह १–जन्म, २–अधिकार, ३–भोग और ४–लय नाम चार संस्कारों के कथन के बाद पाँचवें 'निष्कृति' नामक संस्कार का प्रतिपादन करने के लिये इस कारिका का प्रवर्त्तन कर रहे हैं । इसका आगे भी वर्णन अपेक्षित है,

एवं जन्माधिकारभोगलयान् प्रतिपाद्य, निष्कृत्याख्यं पञ्चमं संस्कारं प्रतिपादयितु-माह–

आहुतीनां शतं होम्यं धाम्ना निष्कृतये पुनः ।।१२१।।

निष्कृतेरदूर एव स्वरूपं निर्वक्ष्यति ॥१२१॥

यत्कर्मभोग्यरूपं तु जात्यायुर्भोगलक्षणम् ।
निष्कृत्यन्ते विशुद्ध्येत्तद्भूलोकसमवस्थितम् ।।१२२।।

कर्मणा शुभाशुभात्मना भोग्यं रूपं यस्य जात्यायुर्भोगात्मनः फलस्य तत् निष्कृतावेव शुद्ध्यति, अतो युक्तोऽस्यां शतहोमः, भुवो लोका वीरभद्रान्तानि भुवनानि, तत्र समवस्थितं भोग्यतां प्राप्तम्, एतच्चेह निवृत्तिशुद्धिप्रसादादेवमुक्तम्, तच्च प्रतिष्ठादिव्याप्ततत्त्वान्तर्गतभुवनभोगोपलक्षणपरम् । अत (न्य)स्तु भूर्लोके इति पठित्वा भूर्लोकैकदेशे कन्याद्वीपेऽर्जितमिति व्याकृतवान् ॥१२२॥

'भोगो दुःखसुखात्मकः' इत्युक्त्या भोग इदानीमेव निर्णीतः, आयुः सृष्टि-संहारपटले निर्णेष्यते, इत्यवशिष्टां जातिं जन्मप्रकारभेदैरादिशति–

संसारा दशचत्वारः

पाँचवें संस्कार का बड़ा महत्त्व है । अतः धाम मन्त्र से निष्कृति का सम्पादन करने के लिये अष्टोत्तर शत आहुतियाँ देनी चाहिये । अन्य संस्कारों के लिये तीन तीन आहुतियाँ ही पर्याप्त हैं । यहाँ शत होम का ही निर्देश है ॥१२१॥

जो कर्म भोग्य रूप है, वह जाति (जन्म) आयु और भोग तीन प्रकार का फल प्रदान करता है । निष्कृति के बाद उसका शोधन हो जाता है । यह कथन भूः लोक में चरितार्थ होता है । भूर्लोक ही भोगलोक माना जाता है ॥१२२॥

वस्तुतः सारे कर्म शुभ और अशुभ दो रूपों में अनुभव किये जाते हैं । शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है । इन्हीं कर्मों के अनुसार इस भोगलोक में जन्म मिलता है । उतनी ही आयु मिलती है और उन्हीं के अनुसार सुख या दुःख रूप भोग भी मिलते हैं । इसे कर्म की निष्कृति कहते हैं । निष्कृति हो जाने पर आत्मा शुद्ध बोध की अवस्था में अवस्थित हो जाता है, ऐसा आप्त लोग मानते हैं । यह भूलोक की बात है । इसी दृष्टि से अर्थात् इस निष्कृति के उद्देश्य ही १०८ आहुतियाँ अर्पित करने का आदेश शास्त्र देता है ।

जहाँ तक भुवर्लोक की बात है, इसकी अन्तिम सीमा वीरभद्र भुवन पर्यन्त है । उसमें भोग्यता पाकर समवस्थित वही हो सकता है, जिसका निवृत्ति कला की सीमा से प्रतिष्ठा कला में प्रवेश हो जाय । निवृत्ति की शुद्धि के उपरान्त ही यह सम्भव है । प्रतिष्ठा के अन्तर्गत भुवन-भोग की बात यहाँ नहीं की जा सकती ।

देवमानुषतिर्यग्भेदभिन्नश्चतुर्दशधा भूतसर्ग एव संसारा नानाजातय इत्यर्थः ।
भुवनदीक्षायाम्–

'अन्त्यजान् शूद्रविट्क्षत्रब्राह्मणांश्च विशोधयेत् ।' (स्व. १०=३८४)

इति सर्वजातिशोधनं वक्ष्यति । इह तु

'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥' (९-२१)

इति गीतोक्तनीत्या षट्कर्माधिकारित्वेन बन्धकर्मत्वान्मनुष्यजातिशुद्धौ ब्राह्मण्यजातिरेव निष्कृतिहोमेनैवावश्यं शोध्या संक्षिप्तत्वादस्य विधेरिति वक्तुमाह–

संस्कारा अष्टभिः सह ।
चत्वारिंशद् द्विजत्वाय वक्ष्यन्ते भुवनाध्वनि ।।१२३।।

इसी दृष्टि से शास्त्रकार ने श्लोक में केवल भूर्लोक की ही चर्चा की है । यह भी भूलोक के देश रूप में शास्त्र प्रतिपादित कन्याद्वीप की सीमा के अन्तर्गत जात्यायुर्भोग रूप कर्म फलों की भोग्यता से ही सम्बन्धित वर्णन है ॥१२२॥

'भोग सुख दुःखात्मक होता है' यह कथन एक प्रकार से निर्णायक कथन हो जाता है । आप्त लोगों का और शास्त्रकार (श्लोक १२०) का भी यह निर्णीत वाक्य है । इस तरह जाति, आयु और भोग इन तीनों में भोग की निर्णायक परिभाषा श्लोक १२० में कर दी गयी है ।

अब दो विपाकात्मक फल जाति और आयु बचते हैं । इन दोनों में भी आयु का निर्णय सृष्टि संहारनामक पटल में किया जायेगा । शेष बच रही जाति । सन्दर्भ वश यहाँ जाति को जन्मप्रकारक भेदों के साथ वर्णन का विषय बना रहे हैं । इस सम्बन्ध में यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि, संसार गत भूतसर्ग मात्र चौदह प्रकार का ही है । इसमें देव योनि, मनुष्य योनि, तिर्यग्योनियाँ ही यहाँ मुख्य हैं । तीन योनियों से समन्वित यह १४ प्रकार का संसार अर्थात् नाना योनियों का सर्गक्रम है ।

भुवन दीक्षा में इसी तन्त्र के १०/३८४ वें श्लोक में लिखा है कि, अन्त्यजों, शूद्रों,वैश्यों, क्षत्रियों और ब्राह्मणों का भी विशोधन होना चाहिये । इस उक्ति से सभी जातियों का शोधन इस शास्त्र को अभिप्रेत है ।

वहीं इस सम्बन्ध में श्रीमद्भगवद्गीता ९/२१ में श्री भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि, त्रयीधर्म में अनुप्रपन्न अर्थात् सकाम कर्म करने वाले लोग जिन्हें 'कामकाम' की संज्ञा दी जा सकती है, ये लोग गतागत अर्थात् आवागमन का बन्धन प्राप्त करते हैं । सांसारिक कार्य ही षट्कर्म कहलाते हैं । ये कर्म ही बन्धप्रद होते हैं । यह जाति का मुख्य कारण है । इस प्रकार के मानुष्य को प्राप्त करने वाला कोई भी हो यदि अपनी जाति का शोधन करता है, तो ब्राह्मण्य को प्राप्त कर सकता है । यह इसी निष्कृति के बल से ही सम्भव है ।

योनिर्बीजं तथा भाव आहारो देश एव च[१] ।
एतेषां शोधनं देवि

आधानादयोऽन्त्येष्ट्यन्ताश्चत्वारिंशत्, दयादयः स्पृहान्ताश्च अष्टाविति येऽष्ट-चत्वारिंशत् संस्कारा अग्रे स्फुटीभविष्यन्ति, ते तु भुवनदीक्षायां पृथक् आहाराद्याश्च कलादिदीक्षासु तु निष्कृतिहोमान्तर्भावयुक्त्या, इति भाविवाक्यसंगत्यात्र[२] पिण्डार्थः । इदं च द्विजजात्यापादनं कर्महेतुकभाविशरीरविषयम्, पूर्वं तु समयिनो वर्तमानदेह एव शुद्धविद्याजातियोग्यत्वरूपमन्यदेवेति निर्णीतम् । अत एव पूर्वं समयिनो रुद्रांशापादनमीश्वरतत्त्वप्राप्तियोग्यतात्मकमुक्तम्, इदं तु शक्तिगर्भानु-प्रवेशवशभविष्यद्रुद्रत्वापत्तियोग्यताभावनात्मकं न तु रुद्रत्वापत्त्यात्मकं निवृत्ति-पाशानामद्यापि अशुद्धत्वात् । उक्तं च श्रीमृगेन्द्रे–

इनका शोधन निष्कृति होम से सम्भव है । इसकी यह विधि अत्यन्त संक्षिप्त है । उसे यहीं स्पष्ट कर रहे हैं–

संसार सागर में अपने अस्तित्व द्वीप की सुरक्षा के लिये अष्टचत्त्वारिंशत् (अड़तालिस) संस्कार भुवनाध्वा में स्वीकृत हैं । इन संस्कारों में गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त ४० संस्कारों का ही उपयोग होता है । दया से स्पृहा पर्यन्त ८ संस्कार काम में तब आते हैं, जब व्यक्तित्व का उत्कर्ष द्विजत्वापादन की ओर अग्रसर करते हैं ।

कुल मिलाकर ये अड़तालिस संस्कार आगे वर्णन के विषय बनाये जाँयेंगे । भुवन दीक्षा में इनका पृथक् पृथक् शोधन किया जाता है । कला दीक्षा में आहार आदि का शोधन अपेक्षित होता है । यह निष्कृति युक्ति से भी सम्पन्न किया जाता है । इसमें होम का ही प्राधान्य है । यह श्लोक १२२ से सिद्ध है ।

जहाँ तक द्विजजातिके आपादन का प्रश्न है, वह कर्म हेतुक भाविशरीर से सम्बन्धित विषय है । पहले समयी का जो वर्त्तमान शरीर है, इसमें शुद्ध विद्या जाति योग्यतापादन का ही विशेष महत्त्व है । ये पृथक् पृथक् विचारणीय विषय हैं । इस सन्दर्भ में यह मानना ही उचित है कि, समयी के वर्त्तमान शरीर में रुद्रांशापादन होना चाहिये । इससे ईश्वर तत्त्व प्राप्ति की योग्यता का संवर्धन होता है । शक्ति गर्भानुप्रवेश के अनन्तर ही रुद्रत्वापत्ति की योग्यता से यह दृढ भावना उत्पन्न होती है कि, मैं ऐसा हो रहा हूँ । यह भावनात्मक स्तरीयता होती है ।

---

१. ख.पु. हीति पाठः । २. ख.पु. संगतोऽत्रेति पाठः ।

'रुद्राणी शक्तिरुच्यते ।

तद्गर्भयोग्यतापत्तिरुद्रांशत्वं न रुद्रता ॥' इति ॥१२३॥

तदेतदीदृशं रुद्रांशापादनं जात्यायुर्भोगशुद्ध्या सह निष्कृतिहोममध्य एव सम्पाद्यमित्याह–

रुद्रांशापादनं तथा ॥१२४॥

अत्रावलोकनं कृत्वा निष्कृत्यामेव शुद्ध्यति ।

न केवलं जन्मायुर्भोगानां निष्कृतौ शुद्धिराधातव्या यावद्रुद्रांशापत्तिरूपापि शुद्धिर्व्याकृत[1]स्वरूपा तत्रैवाधातव्येत्यर्थः । अत्रेति निष्कृतौ, अवलोकनमिति भावनाम् ॥१२४॥

रुद्रत्व की आपत्ति होने पर व्यक्ति साधना के उच्च स्तर पर विराजमान हो जाता है । इस स्तर पर यह आन्तर अवमर्श होना चाहिये कि, साधक अभी निवृत्ति क्षेत्रस्थ पाशों से मुक्त हुआ है या नहीं । यदि निवृत्ति पाश के संस्कार हैं, तो रुद्रत्वा-पादन नहीं हुआ है अपितु साधक में रुद्रत्वापादन की योग्यता की भावना का ही उदय हुआ है । वहाँ अभी आन्तरिक अशुद्धि विद्यमान है ।

श्रीमृगेन्द्र तन्त्र में एक उक्ति है कि,

रुद्राणी शक्ति के गर्भ में अनुप्रवेश की योग्यता का उदय होना रुद्रत्वापत्ति नहीं रुद्रांशत्व का ही श्रीगणेश है । इन विचारों से यह व्यक्त हो जाता है कि, योनि, बीज तथा भाव आदि के शोधन की बड़ी आवश्यकता है ॥१२३॥

जाति, आणु और भोग की बुद्धि के साथ ही निष्कृति होम के इस सन्दर्भ में ही रुद्रांशापादन सम्पन्न कर लेना चाहिये, यही शास्त्र का निर्देश है । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, निष्कृति में जो जाति, आयु और भोगों की शुद्धि होती है या की जाती है, यही पर्याप्त नहीं है, इसी क्रम में रुद्रांशापत्ति रूपा शुद्धि का आधार भी आवश्यक है । इसमें 'अवलोकन' एक महत्त्वपूर्ण विधि है । सजगता पूर्वक आत्मनिरीक्षण को ही 'अवलोकन' कहते हैं । यह भावनात्मक व्यापार इस क्रम में आगे बढ़ने वाले साधक में आवश्यक तत्त्व है ॥१२४॥

---

१. ख.पु. व्याख्यातरूपेति पाठः ।

निष्कृतिस्वरूपं व्याचष्टे–

विषया भुवनाकारा ये केचिद्भोग्यरूपिणः ।।१२५।।
भुक्तकर्मफलाशेषा निष्कृतिस्तेन सा स्मृता ।

भुवनं स्त्र्यादिभावोपलक्षणपरम्, तेष्विति श्लोकमध्येऽध्याहार्यम्, भुक्तं कर्म-फलमशेषं समग्रं यया हेतुना दीक्ष्येण सा तथा, पूर्वनिपातव्यत्यय ऐशः । निःशेषेण कृतिः समस्तकर्मफलभोगसमाप्तिर्यस्यामिति व्युत्पत्त्या निष्कृतिः, स्मृतेति दीक्षायामेव शोध्यत्वेनेति शेषः ॥१२५॥

अथ–

विश्लेषो निष्कृतेर्भोगात्

भोगाद्विश्लेषः पुनर्भोगैरसम्बन्धो भोक्तुर्भोक्तृत्वाभावात्, संस्कारोऽपि निष्कृतेः कार्यः ।

भोगाभावे स हि स्मृतः ।।१२६।।

नहि भोगसमाप्तिरूपां निष्कृतिं विना संस्कर्तुं शक्यः ॥१२६॥

निष्कृति के स्वरूप पर विचार करने के लिये इस कारिका का प्रवर्त्तन कर रहे हैं । इसके अनुसार विश्वात्मक भुवनाकार रूप सारे विषय होते हैं या सम्भोग्य रूप भी होते हैं । यह निश्चय है । भुवन और इनकी विषय रूपता एक विचारणीय बात है । विषय के रूप में ही सारा भुवन उल्लसित है । आकर्षण के केन्द्र सभी भोग्य विषय कहलाते हैं । भोग्य का भोग होता है । भोक्ता इसका भोग करते है । भोग से सकाम कर्मों के फल मिलते हैं । इन कर्म फलों को विषयी भोगता है ।

सारे कर्म फल जिसके द्वारा भोक्ता या दीक्ष्य द्वारा भोग लिये जाते हैं, वह हेतु भी विचारणीय है । भोगते भोगते भोगफलों की समाप्ति हो जाती है किन्तु कोई ऐसा हेतु उपस्थित हो जाय, जिससे सारे फल भोग लिये जाँय, उस हेतु को निष्कृति कह सकते हैं । यह निष्कृति दीक्षा के सन्दर्भ में ही हो जाती है । शोधन की प्रक्रिया के साथ यह सम्पन्न होती है ॥१२५॥

निष्कृति के द्वारा भोग से विश्लेष हो जाता है । अब भोक्ता में भोक्तृत्व का अभाव हो जाता है । परिणाम स्वरूप भोगों से सम्बन्ध विच्छेद स्वाभाविक रूप से घटित होता है । इससे उत्तम संस्कार उदित होते हैं । निष्कृति रूप कारण से संस्कार रूपी कार्यों का जन्म अनुभूति का विषय है । संस्कार भोग के अभाव की अवस्था में ही सम्भव हैं । भोग-समाप्तिरूपा निष्कृति के बिना किसी को संस्कार सम्पन्न नहीं बनाया जा सकता है ॥१२६॥

भोक्तृताभावरूपं विश्लेषं भोक्तृतानुवादपूर्वं वक्तुमाह–

भोक्तृत्वं विषयासक्तिर्मलकार्यं प्रकीर्तितम् ।
भोक्तृत्वाभावस्तत्रैव शरीरेण तु यत्कृतम् ।।१२७।।
विश्लेषः क्रियते तस्य पशोर्मन्त्रैः शिवाज्ञया ।

शरीरेण यत् कृतं शरीरैर्यदर्जितं किञ्चित् तत्रैव या विषयत्वेनासक्तिः किञ्चिन्मे स्यादित्यभिष्वङ्गस्तदेतन्मलकार्यम्, अपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलोत्थापितं भोक्तृत्वम्, तस्ये-

---

भोग का विश्लेष क्या है ? इस जिज्ञासा का समाधान है कि, यह भोक्तृत्व का अभाव मात्र है । भोक्तृता का अनुभव सबको होता है । भोक्तृता के अनुभव के सन्दर्भ में इसके विश्लेष को भी समझा जा सकता है ।

सभी इस सत्य को स्वीकार करते हैं कि, विषय में आसक्ति ही भोक्तृता है । यह मल का ही कार्य है । मल अज्ञान है । अज्ञान संसार का कारण है । संसार में विषयासक्ति की प्रधानता होती है । विषय की आसक्ति में भोक्तृता है । ये सारी बातें एक में एक गुथी हुई हैं । यह भोक्तृता का पूरा सन्दर्भ है ।

अब भोक्तृता के अभाव को समझना है । इसे एक एक क्रम से विचार करने पर पता चलता है कि, हमारा यह शरीर हमें प्राप्त है । शरीर से हम काम करते हैं । इन कामों के परित्याग होने से एक विचित्र स्थिति पैदा होती है । कार्य और कार्य फल का विश्लेष करना साधक का कर्त्तव्य है । यहाँ पशु शब्द प्रयुक्त है । पशु को पाशबद्धता का बोध हो जाने पर वह साधना में परायण होकर सर्वप्रथम शरीर से वासनात्मक रूप से किये गये फलासक्ति रूप कर्म का परित्याग करने का अभ्यास करता है । इसमें वह तब सफल होता है जब गुरुरूप शिव की आज्ञा से प्रवृत्त होता है ।

ये सारी स्थितियाँ विचारक के सामने आती हैं । शरीर से कोई पुरुष जो कुछ करता है, वह उससे 'कुछ' अर्जित करता है । उस अर्जन रूपी विषय में उसकी स्वभावतः आसक्ति हो जाती है । मुझे अपना अभिप्रेत प्राप्त हो जाय, इदम् अद्य मया लब्धं इमम् प्राप्स्ये मनोरथम् रूप गीता की भाषा में व्यवहार करने लगता है । विषय और फलों के पाने से उसका मन बढ़ जाता है किन्तु वस्तुतः ये ऐसे कार्य और यह अभिष्वङ्ग सभी अज्ञान से ओतप्रोत काम हैं । अज्ञान ही मल है । इस मल को आणव मल कहते हैं । आणव मल अपूर्णमन्यता रूप होता है । अपूर्ण मन्यता ही सङ्कोच है । सङ्कोच ग्रहण कर शिव जीव भाव में अणु हो जाता है । जो पूर्ण था, अपूर्ण हो जाता है । अपने को अपूर्ण मान कर कुछ कुछ चाहने लगता है । यह उसकी विवशता होती है ।

दृशस्य भोक्तृत्वस्य पशोः शिवाभिन्नगुर्वाज्ञया मन्त्रैर्विश्लेषः क्रियते, स च यथोक्तस्य भोक्तृत्वस्याभाव उच्यत इति संगतिः ॥१२७॥

अत्र च–

धाम्ना चाहुतयस्तिस्रो विश्लेषकरणाय च ।।१२८।।

अमुकाय निवृत्तिपाशविश्लेषं करोमि स्वाहेत्यत्र[1] मन्त्रः । एवमुत्तरत्रापि स्वयमूहः कर्मणामौचित्येन कार्यः ॥१२८॥

अथ–

आहुतित्रितयं धाम्ना पाशच्छेदेऽपि दापयेत् ।

आणव मल से उत्थापित भोक्तृता में वह रस लेने लगता है । इस आसक्ति प्रद भोक्तृत्व का त्याग जीव को पाशबद्ध पशु को या अणिमा से ग्रस्त अणु को करना पड़ता है । प्रश्न है कि, इसका त्याग वह करे कैसे ? कैसे वह इस दिशा में प्रवृत्त हो ? इन जिज्ञासा का ही समाधान है 'शिवाज्ञया' । शिव रूप गुरु की आज्ञा से वह आत्मिक उत्कर्ष की ओर अग्रसर हो ।

इसके बीच में कुछ कहना शेष रह जाता है । वस्तुतः अणु अपने मन में शरीर, कर्म, आसक्ति और फल इन बातों को देख कर वह कुछ सोचने को विवश होता है कि, यह सब क्या है । तर्क उठता है कि, मैं कौन हूँ ? इस स्थिति में उसमें एक इच्छा होती है कि, चलो गुरु के पास चलें । इस इच्छा को 'यियासा' कहते है । अब वह गुरु की शरण में पहुँचता है । गुरु शिव रूप ही होता है । उसके निर्देशन में वह साधना रत होता है । इसका पहला काम शरीर से जो किया है, उसका विश्लेष ही होता है । यहीं भोक्तृत्व का अभाव घटित हो जाता है ॥१२७॥

धाम मन्त्र से अर्थात् ओङ्कार से विश्लेष करने के लिये तीन आहुतियाँ देनी चाहिये । इसका मन्त्र बनेगा–'ओऽम् अमुकशिष्यास्य निवृत्तिपाशविश्लेषकरणाय आहुतिसमर्पणं करोमि स्वाहा ।' अथवा 'ॐदीक्ष्यस्य निवृत्तिपाशविश्लेषं करोमि स्वाहा' । इस आहुति अर्पण से पाश विश्लेष हो जाता है । आगे भी कर्म के औचित्य के अनुसार मन्त्रों का ऊहन करना चाहिये ॥१२८॥

पाशच्छेद हो जाने पर धाममन्त्र से ही तीन आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिये । जिन जिन पाशों के उच्छेद हेतु आहुतियाँ अर्पित की जाती है, वे पाश देह में मायीय पाशरूप में कला से लेकर धरातत्त्व पर्यन्त उल्लसित हैं । वस्तुतः देह के ये कारण हैं । देह और इन्द्रियों के भी ये कारण माने जाते हैं । यह स्वाभाविक है कि, शरीर और इन्द्रियों के जो कारण हैं, वे भुवनभाव के भी कारण हो सकते हैं ।

---

१. ख.पु. अस्येति पाठः ।

यत्पाशच्छेदनिमित्तमाहुतिस्तत्पाशानाह–

पाशा देहे तु मायीयाः कलाद्या भूतकावधि ।।१२९।।
शरीरकरणाकाराः पुरुषार्थप्रसिद्धये ।

देहे देहनिमित्तं कलाद्या महाभूतान्ता मायीयाः पाशाः, ते च शरीरेन्द्रियाणि तदुपलक्षितांश्च भुवनभावादीन् आकारयन्ति सम्पादयन्ति पुरुषार्थस्य भोगस्य प्रसिद्ध्यर्थम् । उक्तं च–

'कलादिक्षितिपर्यन्तमेतत्संसारमण्डलम् ।' (स्व. ११-२९१) इति ।

तुशब्दः–

'भोक्तृत्वं विषयासक्तिर्मलकार्यं.........।' (स्व. ४-१२७) इति ।

तथा तत्रैव–

'...........शरीरेण तु यत्कृतम् ।' (स्व. ४-१२७)

इति पूर्वोक्ताणवकार्मपाशवैलक्षण्यं द्योतयति ।।१२९।।

जहाँ तक पुरुषार्थों का प्रश्न है, ये क्या है ? क्या ये भोग नहीं हैं ? उत्तर में कहा जा सकता है कि, आसक्ति पूर्वक किये गये कोई कार्य भले ही वे पुरुषार्थ ही क्यों न हों, वे सभी भोग ही हैं । इनकी प्रसिद्धि के लिये भी किये गये सभी कार्य पाशरूप ही हैं ।

इसी तन्त्र के उद्धरण देकर आचार्य क्षेमराज यही सिद्ध कर रहे हैं–

१– प्रथम उद्धरण पटल ग्यारह से श्लोक संख्या २९१ का है । यह घोषित करता है कि, संसार मण्डल कला से क्षिति पर्यन्त है ।

२– दूसरे उद्धरण और तीसरे भी इसी पटल के श्लोक १२७ से लिये गये हैं । उनकी व्याख्या की जा चुकी है । यहाँ इनसे यह प्रमाणित किया गया है कि, भोक्तृत्व विषयासक्ति है और मल का कार्य ही माना जा सकता है । साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया है कि, शरीर से जो कुछ भी किया जाता है या किया गया है, वह मुझे कुछ मिले, इसी आसक्ति रूप इच्छा से सम्पन्न किया जाता है और ये सभी मल कार्य ही हैं । आसक्ति माया का स्वभाव है । अतः मायीय पाश का यह स्वरूप विश्व को अपने बन्धन में बाँध लेने में समर्थ हो जाता है । आणव और कार्म पाश से मायीय पाश का यह वैलक्षण्य है ।।१२९।।

एवं च निष्कृतिविश्लेषरूपात्-

भोगाभावाद्विपद्यन्ते शरीराणि सहस्रधा ।।१३०।।

शरीराणीति स्थूलसूक्ष्मादिरूपाणि, सहस्रधेति नानाविचित्रभेदभूतसर्गरूपाणि, 'विपद्यन्ते' अपुनर्भावेन नश्यन्तीत्यर्थः ।।१३०।।

यस्य च दीक्ष्यस्यैतानि विपद्यन्ते-

पाशच्छेदे विधिस्तस्य मन्त्रैश्च विधिचोदितैः ।

प्रदर्शिताणवादिपाशव्याप्तिकपाशसूत्रगतनिवृत्तिभागात्मनः पाशस्य च्छेदे विद्यात्मक-शास्त्रवाक्यचोदितैर्मन्त्रैर्विधिः कार्यः । स च विधिः-

'शिवशक्तिरमोघेयं कर्तरी परिकीर्तिता ।'

इति श्रीहंसपारमेशोक्तव्याप्त्या कर्तर्यास्त्रजप्तया शिवं सास्त्रं[१] हुंफडन्तं प्लुतयुक्त्यो-च्चारयन् पाशाञ्छिन्द्यादित्येवंरूपः । यथोक्तं श्रीमृगेन्द्रे-

'ततः शिवेन सास्त्रेण[२] हुंफडन्तेन सस्वरम् ।
छिन्द्यात्स तावतः पाशान्कर्तर्या चास्त्रजप्तया ।।' इति ।।

इस प्रकार श्लोक १२६ के अनुसार भोक्तृत्व से विश्लेष और निष्कृति होम के फलस्वरूप स्थूल सूक्ष्म रूप सभी शरीर हजारों हजार प्रकार से विशीर्ण हो जाते हैं । भूतसर्ग का नानात्व वैचित्र्य से परिपूर्ण है । यह सारा वैचित्र्य, भोक्तृत्व के अभाव के कारण निराश्रित, विपत्तिग्रस्त, अपुनर्भाव-भावित एवं विनष्ट हो जाता है ।।१३०।।

जिस शिष्य के जो दीक्षा प्राप्त करने में सन्नद्ध है, ये शरीर विशीर्ण हो जाते हैं, उनके पाशोच्छेद की अनन्त विधियाँ शास्त्र में प्रतिपादित हैं । इनके लिये निर्धारित मन्त्र हैं । जिनका पाशच्छेदार्थ प्रयोग किया जाता है । पाशों के विषय में पहले ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, आणव आदि पाशों से व्याप्त पाश सूत्रों में जो निवृत्ति कला की भागात्मकता है, वह सब पाशरूप ही होती है । इनके विनाश के लिये विद्याकला निर्देशक शास्त्र वाक्यों में आये मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिये । प्रस्तुत उद्धरण में यह कहा गया है कि,'शिवशक्तिमयी (उपासनामयी) एक अचूक रूप से काटने वाली कैंची है' । यह उक्ति 'हंस पारमेश्वर' शास्त्र की है । इसके अनुसार शिव मन्त्र को अस्त्रमन्त्र हुंफट् जाति के साथ जोड़कर प्लुत स्वर से उच्चारण करते हुए पाशों पर कैंची फेर देनी चाहिये ।

---

१. ख.पु. शिवशास्त्रमिति तथा प्लुतशक्त्येति पाठः ।
२. ख.पु. शस्त्रेणेति तथा सेश्वरमिति पाठः ।

उपसंहरति–

एवं पाशत्रयस्यापि विश्लेषो दीक्षयोच्यते ।।१३१।।

एवमिति–जन्माधिकारभोगलयनिष्कृत्याख्ययथाप्रतिपादितसंस्कारपञ्चकपूर्वमित्यर्थः । अत्र चोक्तेनैव हुंफडन्तेन मन्त्रेण पूर्णाहुत्या समं छिन्नस्य पाशस्य होमः कार्यः, इति संहितान्तरोक्तोऽर्थोऽनुमन्तव्यः[१] । यथोक्तं श्रीमृगेन्द्र एव–

'ततस्तां स्रुचमापूर्य जुहुयादाज्यसंयुताम् ।
तेनैव मन्त्रयोगेन..........................॥' इति ॥१३१॥

एवं विश्लेषान्ते संस्कारषट्के कृते–

शरीराशेषभङ्गेन एकचैतन्यभावना ।

गुरुणा शिष्यस्य कार्येत्यर्थः ।

अत्र चावसरे–

पूर्णाहुतिं शिवेनैव वौषड्जातियुतेन च ।।१३२।।

दद्यादित्यनुषङ्गः ॥१३२॥

मृगेन्द्र तन्त्र में भी आया हुआ है कि,'सास्त्र हुंफडन्त शिव मन्त्र का सस्वर जप करते हुए समस्त पाशों पर कैंची चला देनी चाहिये' । यह पाशच्छेद की विधि है । इससे तीनों पाशों का विश्लेष हो जाता है । दीक्षा का यही महत्त्व है । दीक्षा द्वारा ही जन्म, अधिकार, भोग, लय और निष्कृति रूप संस्कारों से पाशों का विश्लेष हो जाता है । यहाँ उक्त 'हुंफडन्त' मन्त्र से पूर्णाहुति के साथ पाश निष्कृति होम करना चाहिये । इस सन्दर्भ को श्री मृगेन्द्रतन्त्र की एक उक्ति द्वारा व्यक्त कर रहे हैं–

इसके बाद उस स्रुक् को पूरी तरह से घी से भर कर हवन करना चाहिये । इसमें 'हुंफडन्त' मन्त्र योग आवश्यक माना जाता है ॥१३१॥

इस तरह विश्लेष कार्य के साथ ही छः संस्कार पूरे हो जाते हैं । इस प्रक्रिया से शिष्य का पूरा शरीर भङ्ग हो जाता है । गुरुदेव के अनुग्रह का यह एक नया रूप दृष्टिगोचर होता है । गुरु शिष्य को एक चैतन्यभावन के उच्चस्तर पर ला बिठलाता है । इस अवसर पर वौषट् जाति को जोड़कर शिव मन्त्र से ही पूर्णाहुति प्रदान करनी चाहिये ॥१३२॥

---

१. ख. पु. अनुसर्तव्य इति पाठः ।

अथ पाशाभावात्-

शुद्धतत्त्वाग्रसंस्थं तच्चैतन्यं कनकप्रभम् ।

तदेकीकृतं चैतन्यं शुद्धस्य निवृत्त्याख्यस्य तत्त्वस्याग्रे उपरिसम्यगनावृततया स्थितं दीप्तं भावयित्वा-

उद्धारायाहुतीस्तिस्त्रः पुनर्धाम्ना तु तापयेत् ।।१३३।।

'निवृत्तिव्याप्तात् पृथिवीतत्त्वाद् देवदत्तमुद्धरामि' इति चात्र प्रयोगः ॥१३३॥

अथ-

तस्मात् तत्त्वाद् गृहीत्वा तु चैतन्यं मलसंयुतम् ।
मुद्रया प्राग्विधानेन आत्मस्थं पूरयेद्धृदि ।।१३४।।

निवृत्तिशुद्ध्या निर्मलमपि कलान्तराणामशोधितत्वाद् मलसंयुतम्, मुद्रयेति संहाराख्येति प्राग्विधानं प्रणव[1]सम्पुटहंसबीजत्वादिरूपम् ॥१३४॥

अब पाश शेष नहीं रह गये हैं । शिष्य एक चैतन्य की भावना में परिनिष्ठा पूर्वक अवस्थित है । वह चैतन्य कनक कमनीया प्रभा से भव्य है । निवृत्ति कला के शुद्ध हो जाने के कारण उसके अग्रस्थित चैतन्य, प्रतिष्ठा कला की ओर अनावृत भाव से उद्दीप्त हो रहा है, यह भावन करना चाहिये । इस भावन प्रक्रिया के अनन्तर 'निवृत्ति-व्याप्तात् पथ्वीतत्त्वाद् उद्धरामि' यह मन्त्र बोलकर आचार्य दीक्ष्य शिष्य का उद्धार करें ।

उद्धार के उपलक्ष्य में इसी उक्तमन्त्र में स्वाहा लगाकर तीन आहुतियों से हवन कर देना चाहिये । इसमें धाम ॐकार मन्त्र का भी आदि में प्रयोग करना चाहिये । इस प्रकार दीक्ष्य की दीक्षा की एक भूमिकामयी प्रक्रिया पूरी होती है ॥१३३॥

तस्मात् तत्त्वात् पृथ्वीतत्त्व से इस अर्थ में प्रयुक्त है । निवृत्तिकला की व्याप्ति इसी तत्त्व में रहती है । अतः पृथ्वी तत्त्व से मल संयुत चैतन्य को ग्रहणकर संहार मुद्रा से उसे आत्मस्थ कर हृदय में पूरित कर लेना चाहिये ।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, चैतन्य को मल से संयुत क्यों कहा गया है । इसका उत्तर यह है कि, अभी तो मात्र एक निर्वृत्ति कला की शुद्धि हुई है । अभी प्रतिष्ठादि कलाओं का प्रभाव संस्कारतः चैतन्य में ही विद्यमान है । अतः मल संयुत कहना युक्तिसंगत है । वह चैतन्य प्रणव से सम्पुटित हंस बीज रूप मन्त्र से गृहीत करने का विधान है । उसी से गुरु उस चैतन्य को आत्मस्थ कर उसके उद्धार में संलग्न रहे ॥१३४॥

---

१. ख.पु. पुटसबीजेति पाठः ।

ततः–

कुम्भित्वा रेच्य सङ्गृह्य द्वादशान्ताद् ध्रुवेण तु ।
शिष्यदेहे [1]निवेश्यैतन्नाडीरन्ध्रेण पूर्ववत् ।।१३५।।

अथास्मै–

तत्स्थीकरणहेत्वर्थं धाम्ना चैवाहुतित्रयम् ।

देयमिति शेषः । 'शोधितचैतन्यं देवदत्तस्य हृत्स्थं करोमि स्वाहा' इत्यन्तोऽत्रायं प्रयोगः ।

एवं पाशच्छेदस्तद्धोमः, पूर्णहोमः, चैतन्यस्यैक्यभावनम्, तदुद्धारहोमः, पूरकेण हृत्स्थीकरणम्, कुम्भनम्, द्वादशान्तरेचनम्, ततो ग्रहणम्, शिष्यदेहे निवेशनम्, तदर्थो होमः, इत्येकादशभिरवान्तरसंस्कारैरुपकृतम्[2] विश्लेषं निर्वर्त्य तदवशिष्टनिवृत्त्यर्थमाह–

हृदय में पूरित करने की प्रक्रिया कुम्भक से होती है । पुनः रेचन और पुनः संग्रहण और ध्रुव मन्त्र से द्वादशान्त से गृहीत कर शिष्य के शरीर में 'निवेशन की सारी प्रक्रिया आचार्य भावना द्वारा स्वयं पूरित करे । यह ध्यातव्य है कि, निवेश की यह प्रक्रिया पूर्ववत् नाडीरन्ध्र से ही पूरी करनी चाहिये ।

साथ ही इस बात की सावधानी बरतनी चाहिये कि, शिष्य के शरीर में स्थापित करने अर्थात् तत्स्थीकरण प्रक्रिया के उपलक्ष्य में धाम मन्त्र से तीन आहुतियाँ भी अर्पित करनी चाहिये । हृदयस्थ करने और पुनः शिष्य देह में निवेश दोनों के लिये मन्त्र का प्रयोग कर आहुतियाँ देनी चाहिये । मन्त्र का ऊहन इस प्रकार किया जा सकता है–'ॐशोधित चैतन्यं दीक्ष्यस्य हृत्स्थं करोमि स्वाहा ।' एवं ॐद्वादशान्ताद्-गृहीतस्य पुनः शिष्य देहे निवेशनं करोमि स्वाहा । इन दोनों मन्त्रों का प्रयोग कर आहुतियाँ देनी चाहिये ।

इस प्रकार १–पाशच्छेद, २–उसका होम, ३–पूर्णहोम, ४–चैतन्यैक्य भावन, ५–उसका उद्धारक होम , ६–पूरक से हृत्स्थीकरण, ७–होम कुम्भन, ८–द्वादशान्त से रेचन, ९–उसका ग्रहण, १०–शिष्य देह में निवेशन और ११–उसके लिये हवन ये ग्यारह संस्कार अवान्तर संस्कार माने जाते हैं । ये सभी अवश्य करणीय हैं ।।१३५।।

इन उक्त संस्कारों से उपस्कृत विश्लेष की चर्चा करने के उपरान्त कुछ अवशिष्ट कार्य सम्पन्न करने के उद्देश्य से इस कारिका का अवतरण कर रहे हैं–

---

१. क.पु. निवेश्येतेति पाठः । २. ख.पु. उपसंस्कृतमिति पाठः ।

कलाशुद्ध्यवसाने तु ब्रह्माणं कारणाधिपम् ।।१३६।।

स्वनामप्रणवाह्वानपूजं सन्तर्प्य चार्पयेत् ।

ओं ब्रह्मन्नागच्छेति स्वनामप्रणवपूर्वमाह्वानं 'तुभ्यं नमः' इति च पूजा यस्येति बहुव्रीहिः । तत्सन्तर्पणं वह्नौ 'स्वाहा' इति प्रयोगात्, ततोऽपि चार्पणं पुर्यष्टकार्पणाय ।।१३६।।

तदाह–

शब्दस्पर्शौ त्यजेत् तस्मिन्

कथम् ?

ध्रुवाद्यौ नामसंयुतौ ।।१३७।।

स्वाहाकारप्रयोगेन तौ ब्रह्मणि निवेदयेत् ।

तिसृभिस्तिसृभिर्होमात्

ओं ब्रह्मणे शब्दमर्पयामि स्वाहेति त्रिर्हुत्वा स्पर्शमर्पयामि स्वाहेति त्रिर्जुहुयात्, इति वीप्सातोऽवसेयम् ।।१३७।।

कला शुद्धि के अन्त में कारण के अधिपति ब्रह्मा को उनके नाम के पहले ॐकार को लगाकर आवाहित करना और उसके बाद पूजन तर्पण करना चाहिये । इसमें आवाहन और तर्पण करने के लिये ऊहन कर मन्त्र बनाना आवश्यक है । जैसे-ओं ब्रह्मन् आगच्छ तुभ्यं नमः आवाहयामि तर्पयामि पुर्यष्टकं चार्पयामि एतदर्थं आहुतिं च समर्पयामि स्वाहा । इस मन्त्र में ओङ्कार, ब्रह्मा का नाम आवाहन, तर्पण, पुर्यष्टकार्पण और उसके लिये हवन सबका ध्यान रखा गया है ।।१३६।।

इसके बाद ध्यान की मुद्रा में आचार्य मौन होकर अवस्थित हो जाय । किसी का स्पर्श न करे । इस प्रक्रिया की पूर्त्ति में यह आवश्यक है । तत्पश्चात् ॐकार पूर्वक नाम ग्रहण कर स्वाहाकार के साथ पुनः मन्त्र का प्रयोग कर ब्रह्मा के दक्षिणहस्त में शब्द आदि का निवेदन कर देना चाहिये । जैसे–

'ॐ ब्रह्मणे नमः शब्दम् अर्पयामि स्वाहा, स्पर्शमर्पयामि स्वाहा' सदा अर्पण में तीन आहुतियों का प्रयोग करना चाहिये । सारी क्रिया का निवेदन भी आवश्यक माना जाता है ।।१३७।।

एवं चेदमस्मै–

पुर्यष्टांशं निवेदयेत् ।।१३८।।

पुर्याः सूक्ष्मदेहस्यारम्भकमष्टकं तन्मात्रमनोऽहंकृद्बुद्धिरूपम्, तदंशार्पणविभागेऽभिप्रायं पर्यन्ते स्फुटयिष्यामः ।।१३८।।

किञ्च–

आमन्त्रणविभक्त्या तु श्रावणां तस्य कारयेत् ।

तस्येति ब्रह्मणः, श्रावणा शिवाज्ञा । यथोक्तं श्रीपूर्वे–

'भुवनेश त्वया नास्य साधकस्य शिवाज्ञया ।
प्रतिबन्धः प्रकर्तव्यो यातुः पदमनामयम् ।।' इति ।। (मा.वि. ९-६५)

कृतश्रावणं च–

ब्रह्माणं पूजयित्वा तु होमं कृत्वा विसर्जयेत् ।।१३९।।

किञ्च–

ध्रुवेणाभ्यर्च्य वागीशीं सन्तर्प्य च विसर्जयेत् ।

पुर्यष्टक निवेदन करना विशेष विधि में परिगणित है । पुर्यष्टक उस अष्टक को कहते हैं, जो सूक्ष्मशरीर निर्माण के मूल आध्यात्मिक उपकरण हैं । ये हैं ५तन्मात्रायें+१ मन+१–अहंकार और १–बुद्धि । इन चारों को मिलाने से ५+१+१+१=आठ तत्त्व बनते हैं । ये पुरि अर्थात् शरीर में शरीर के अनिवार्य तत्त्व हैं । अतः पुर्यष्टक कहलाते हैं । इनके अर्पण में सर्वस्व का अर्पण निहित है । यहाँ इसके अंश के अर्पण की बात कही गयी है । यह क्यों ? इसका उत्तर आगे के समुचित सन्दर्भों में प्रस्तुत करेंगे ।।१३८।।

छोटी छोटी प्रासङ्गिक बातों का ध्यान भी आचार्य को रखना चाहिये । जैसे आमन्त्रण की विभक्ति अर्थात् सम्बोधन कारक से सम्बोधित कर शिवाज्ञा की श्रावणा करनी चाहिये । वह इस श्लोक में यहाँ प्रस्तुत है ।

भुवनेश्वर भगवन् ! तुम्हारे द्वारा शिव की आज्ञा के अनुसार इस दीक्ष्य यज्ञ में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध उपस्थित न किया जाय वरन् प्रतिबन्धों पर ही प्रतिबन्ध लगा दिये जाँय । मन्त्र यात्रा की इस प्रक्रिया में किसी प्रकार का आमय नहीं होना चाहिये । अर्थात् मन्त्री का यह याग अनामय रहे । ऐसी कृपा करें । यह मालिनी विजयोत्तरतन्त्र के नवम अधिकार का पैंसठवां श्लोक है ।।१३९।।

श्रावण के बाद ब्रह्मा का पूजन कर हवन करने के बाद उनका विसर्जन कर देना चाहिये । इसी क्रिया में वागीशी की अभ्यर्थना भी की जानी चाहिये । ध्रुवमन्त्र से उसकी पूजा करनी चाहिये । सन्तर्पण के बाद उसका विसर्जन भी कर दिया जाता है ।

विसर्जनं निजपरावागैकात्म्यविमर्शनं[१], ध्रुवेण निष्कलेन । तदित्थमध्वसन्धानात्प्रभृति वागीश्या विसर्जनान्तं

हुत्वावलोकयेत्तत्र विशुद्धं पाशजालकम् ।।१४०।।

हुत्वेति–अध्वसंधानम्, अध्वोपस्थानम्, वागीशीगर्भयोजनम्, तद्गर्भनिष्पत्तिर्जननमधिकार:, भोग:, लय:, निष्कृति:, विश्लेष:, पाशच्छेदहोम:, पूर्णहोम:, उद्धारहोम:, तत्स्थीकरणम्, ब्रह्मतर्पणम्, पुर्यष्टकांशार्पणहोम:, पुनर्ब्रह्महोम:, वागीशीहोम:, इत्येकोन-विंशतिहोमानुक्तान् कृत्वा, तत्रेति विशुद्धायां निवृत्तिकलायाम्, एवमुत्तरत्रापि संस्कार-संकलना[२] होमकलना च स्मर्तव्या ।।१४०।।

अत्र[३] च पाशशुद्ध्यवलोकनावसरे–

प्राक्कर्मभाविकस्याथ अभावं भावयेत्तदा[४] ।

यहाँ विसर्जन का अर्थ विचारणीय है । शक्तियाँ सार्वत्रिक और सर्वव्याप्त होती हैं । उनके विसर्जन का तात्पर्य 'स्व' के परावाक् स्वरूप में ऐकात्म्य का विमर्शन ही है । ध्रुव का अर्थ निष्कल मन्त्र माना जाता है । यह पहले भी कहा जा चुका है ।

इस प्रकार इन क्रियाओं के बाद हवन कर दीक्ष्य को यह अनुभव सा होने लगता है कि, उसके सभी पाश अब विशुद्ध हो गये हैं । ये हवन जो श्लोक ९२ में वर्ण्य अध्वा के संधान से प्रारम्भ किये गये थे । अब तक मुख्य रूप से १९ प्रकार के होम सम्पन्न किये जा चुके हैं । वे क्रमशः इस प्रकार हैं–१–अध्वा संधान, २–अध्वोपस्थापन, ३–वागीशी गर्भ योजन, ४-५-६–तद्गर्भ निष्पत्ति और जनना-धिकार, ७–भोग, ८–लय, ९–निष्कृति, १०–विश्लेष, ११–पाशच्छेद होम, १२–पाश होम, १३–पूर्णहोम, १४–उद्धार होम, १५–तत्स्थीकरण, १६–ब्रह्म तर्पण, १७–पुर्यष्टकार्पण होम, १८–पुनर्ब्रह्महोम, १९–वागीशी होम ।

इन होमों के पहले सम्पन्न संस्कारों और होमों से दीक्ष्य की निवृत्ति कला का शोधन हो जाता है । इन संस्कारों की कलना और होमों की सारी कलना आचार्य क्षेमराज द्वारा यथा सन्दर्भ कर दी गयी है ।।१४०।।

पाशशुद्धि की अनुभूति ही पाशशुद्धि का अवलोकन है । इसी सन्दर्भ में साधक को इस तथ्य से भी परिचित और सावधान होना चाहिये कि, दीक्ष्य के रूप में हमारे प्राक् कर्म क्या थे ? कैसे थे ? और कैसे विशोधित हुए हैं ? इसी तरह भविष्यत् कर्म के अर्थात् भाविक कर्मों के अभाव का भी भावन करना चाहिये । मुमुक्षु की दृष्टि में इन कर्मों की निरपेक्षता ही मुख्य होती है ।

---

१. क.घ.पु. विसर्पणमिति पाठः ।
२. ख.पु. सङ्कल्पनाहोमसङ्कल्पनेति पाठः ।
३. ख.पु. अथ पाशेति पाठः ।
४. ख.पु. तथेति पाठः ।

मुमुक्षोर्निरपेक्षत्वात्

भाव्येव भाविकमर्थात् कर्म, प्राक्कर्म च भाविकं चेति समाहारः । निरपेक्षत्वात् साधकवत्फलौन्मुख्याभावात् । कैश्चित्तु प्राक्कर्मणा भवतीति प्राक्कर्मभवस्तत्र भवति यत्फलमिति योजनया प्राक्कर्मभाविकस्येति व्याख्यातं तदसत् क्लिष्टं चेत्युपेक्ष्यम् ।

फलदानोन्मुखस्य वर्तमानस्य का गतिरित्याह–

प्रारब्धेकं न शोधयेत् ।।१४१।।

तस्य भोगेनैवातिवाहनादित्यर्थः ॥१४१॥

मुमुक्षोः कर्मशुद्धिवृत्तान्तमुक्त्वा साधकस्य तमाह–

साधकस्य तु भूत्यर्थं

भूतिप्रयोजनं भाविमन्त्राराधनरूपं यत्तदपि न शोधयेदित्यर्थः । केवलम्–

प्राक्कर्मैकं तु शोधयेत् ।

बुभुक्षु जैसे फलोन्मुख होते हैं, वैसे ही मुमुक्षु फलोन्मुख नहीं होते वरन् कर्मफल से पराङ्मुख रहते हैं । अतः इन दोनों कर्मों के अभाव का भावन करना अनिवार्य है ।

प्राक् कर्म और भाविक कर्म को एक में मिलाकर व्याख्या भी कई टीकाकारों ने की है । उनके अनुसार प्राक् कर्मों से समुद्भूत प्राक् कर्मभव फल की योजना से अर्थ का अनर्थ होता है और यह क्लिष्ट प्रयोग है । अतः उपेक्ष्य है, यह आचार्य श्रीक्षेमराज का मत है । इस प्रसङ्ग से यह भी सिद्ध हो जाता है कि, आचार्य क्षेमराज के पहले भी कई टीकायें इस महाग्रन्थ की उपलब्ध थीं ।

वर्त्तमान कर्म का प्रश्न यहाँ विचारणीय है । वस्तुतः वर्त्तमान में फलदानोन्मुख कर्म के विषय में शास्त्र कहता है कि,

प्रारब्ध कर्म का शोधन नहीं करना चाहिये क्योंकि उसके भोग से ही उसका क्षय होता है । इसी को संस्कृत की 'भोगादेव क्षयः' इस उक्ति से समर्थित करते हैं ॥१४१॥

ऊपर मुमुक्षु के कर्मों की शुद्धि की विधियों का कथन करने के उपरान्त बुभुक्षु साधक के कर्म विषयक तथ्य का विश्लेषण कर रहे हैं–

साधक जो काम करता है, उसमें उसकी 'भूति' ही लक्ष्य होती है । भविष्य में मन्त्रों की आराधनाओं में भी उसकी कोई निहित भावना रहती है । भूति फलाकाङ्क्षा से ही सम्बन्धित होती है । इसमें भी शोधन की आवश्यकता नहीं होती ।

अतः सिद्धान्त यह स्थापित होता है कि, कर्म शोधन प्राक्कर्मों का ही होना चाहिये । साधक 'भूति' की उपलब्धि के उद्देश्य से जो कार्य सम्पादित करता है,

भूत्यर्थाद्यत्प्राग्देहारम्भि शुभाशुभं तत एकमशुभमेवास्य शोधयेत् । एवं हि निर्विघ्नं भोगसिद्धिर्भवति ।

यत्तु जन्मान्तरसञ्चितं शुभाशुभं यच्चास्मिञ्जन्मनि करिष्यति, तत्सर्वमुक्तनीत्या मन्त्राराधनवर्जमस्य पुत्रकवच्छोध्यमेवेत्याह–

प्राक्कर्मागामि चैकस्थं भावयित्वा च दीक्षयेत् ।।१४२।।

साधकमिति शेषः । एकस्थमिति एकप्रघट्टकतया भावितम् ।

इत्थं च–

शिवधर्मिण्यसौ दीक्षा

साधके इति शेषः ।

लोकधर्मिण्यतोऽन्यथा ।

कीदृगित्याह–

प्राक्तनागामिकस्यापि अधर्मक्षयकारिणी ।।१४३।।

वह शुभाशुभ कर्मों के अनुसार शुभाशुभ फल भी प्रस्तुत करता है । इसी के परिणाम स्वरूप जन्म और आयु का आश्रय देह मिलता है । शुभ तो शुभ ही होते हैं । हाँ शुभाशुभ में एक अर्थात् अशुभ का शोधन अनिवार्यतः आवश्यक होता है । इससे भोग की निर्विघ्न सिद्धि होती है । विघ्नों से रहित जीवन के भोगों को भोगता हुआ साधक सानन्द जीवन यापन कर पाता है ।

जन्मान्तर में सञ्चित शुभाशुभ को इस जन्म में करने की बाध्यता कर्म विपाक के सिद्धान्त का निष्कर्ष है । उक्त सिद्धान्त के अनुसार अशुभ का शोधन होना ही चाहिये । मन्त्रों की आराधना से उत्पन्न संस्कार सम्पन्न कर्मों को छोड़कर पुत्रक के समान इसका शोधन होना ही चाहिये । वही कह रहे हैं–

प्राक् कर्म का दूरगामी परिणाम स्वाभाविक है । वही देह का कारण बनता है । देह से आगामी कर्म सम्पादित होते हैं । यह ध्यान देने की बात है । प्राक् कर्म और आगामी दोनों का आश्रय वही दीक्ष्य होता है । एक प्रघट्टक में दोनों कर्म पड़े हुए है । इस रूप में भावित कर साधक को दीक्षा देने की व्यवस्था गुरुदेव को करनी चहिये ।।१४२।।

यह दीक्षा शिवधर्मी साधक में चमत्कार घटित कर देती है । जहाँ लोक धर्मी साधक की दीक्षा का प्रश्न है, वह कुछ दूसरे ही प्रकार की होती है । लोकधर्म को लोक मार्ग कह सकते हैं । लोक मार्ग में रह कर साधक तीर्थाटन अन्नदान करता रहता है । लोक की आवश्यकता का अनुभव करता हुआ कुँएँ, तालाब, मन्दिर, मठ, विद्यालय आदि की व्यवस्था करता रहता है । उसे मन्त्रों की आराधना का अवसर ही

लोकधर्मिण्यसौ ज्ञेया मन्त्राराधनवर्जिता ।

'..............इष्टापूर्तविधौ रतः ।
कर्मकृत्फलमाकाङ्क्षन्............॥' (स्व. ४-८५)

इति लोकधर्मी प्रागेव निर्णीतः । अधर्मक्षयकारिणीति सापेक्षः समासः । मन्त्राराधनेन पिण्डसिद्धिहेतुना मन्त्रत्वादिप्राप्तिहेतुना च सर्वेणैव[1] विवर्जिता विशेषाचोदनात् । श्रीमृगेन्द्रया च वर्तमानसिद्धिहेतोर्मन्त्राराधनस्य शिवधर्मिण्येव प्रतिपादितत्वात् । तथा च तत्रोक्तम्–

कहाँ होता है ? वह शुभकर्मों में प्रवृत्त रहता हुआ अशुभ का परित्याग कर देता है । वह प्राक्तन और आगामी कार्यों में अधर्म को स्थान नहीं देता । फल की आकाङ्क्षा करता है । शुभ कर्मों से फल की साधना के कारण वह साधक होता है । उसे जो दीक्षा दी जाती है, उसे लोक धर्मिणी दीक्षा कहते हैं । इसीलिये इस दीक्षा को मन्त्राराधन वर्जिता दीक्षा भी कहते हैं ।

यह अधर्म का क्षय करने वाली होती है । श्रीमृगेन्द्र शास्त्र में इसका स्पष्टीकरण किया गया है । मन्त्राराधन से पिण्डादि सिद्धि और मन्त्रत्वादि प्राप्ति भले हो, लोक धर्मिणी दीक्षा में मन्त्राराधन के लिए अवकाश नहीं होता । लोकधर्मी को वर्त्तमान को ही सिद्ध करना होता है । इसलिये लोकधर्मी दीक्षा में मन्त्राराधन को वर्जित मानते हैं ।

इस सम्बन्ध में थोड़ी और गहरायी से विचार करने की आवश्यकता है । शिवधर्म और लोकधर्म के अन्तर को समझना है । लोकधर्म लोक मार्ग में सम्पन्न होता है । शिवधर्म का मार्ग शिव मार्ग है । शिवत्व की उपलब्धि इसका उद्देश्य है । अणु जब शिवधर्म में प्रवृत्त होता है, तो वह शिवसाक्षात्कार की मोक्षलक्ष्मी को लक्ष्य बनाकर मन्त्र, मन्त्रेश्वर मन्त्रमहेश्वर के स्तरों को पारकर पारमेश्वर पद पर प्रतिष्ठित होना चाहता है । शिवधर्मिणी दीक्षा का यह मूल स्वरूप है । यह दीक्षा ही उसकी उपलब्धि में हेतु बनती है ।

एक दूसरे प्रकार की भी शिवधर्मिणी दीक्षा होती है । इसमें भोग भूमियों का विलय शिवधर्मिता में ही होता है । शिवधर्मी प्रलयकाल पर्यन्त इसी शरीर से जो चाहता है, वैसी ही सिद्ध गुटिका बना लेता है, जिसे हाथ में लेकर आकाश विचरण का आनन्द लेता है । सिद्ध पादुका द्वारा समुद्र संचरण, पातालादि प्रवेश प्राप्त करता है । सिद्धाञ्जन से अदृश्य का दर्शन करता है । ऐसी सिद्धियों की सम्पादिका दीक्षा भी शिवधर्मिणी दीक्षा ही कही जाती है । यद्यपि इसमें भी फलाकाङ्क्षा दीख पड़ती है ।

---

१. ख.पु. सर्वे एवेति पाठः ।

'शिवधर्मिण्यणोर्मूलं शिवधर्मफलश्रियः ।
हितेतरा विना भङ्गं तनोराविलयाद्भुवाम् ॥' इति ।

अस्यायमर्थः–शिवधर्मिणी या दीक्षा साणोः शिवधर्मफलश्रियो मूलं मन्त्रमन्त्रेशत्वादिप्राप्त्यात्मकपारमेशफलसम्पदो हेतुरेका, इतरा तु शिवधर्मिण्येव भुवां भोगभूमीनामाविलयात् प्रलयकालं यावत् तनोः शरीरस्य भङ्गं विना हिता यथाभीष्टखड्गपातालरोचनाञ्जनपादुकादिसिद्धिसम्पादिकेति । न चेतरेति लोकधर्मिणी व्याकर्तव्या–

'भोगभूमिषु सर्वासु दुष्कृतांशे हते सति ।
देहान्तराणिमाद्यर्थं शिष्टेष्टा लोकधर्मिणी ॥'

इति तत्रैव पृथक्त्वस्यानिर्णीतत्वात् । न च मन्त्राराधनं विना साधकत्वं न भवतीति भ्रमितव्यम्, इष्टापूर्तफलसाधनेनापि तस्य लाभादित्यलम् ॥१४३॥

[१]एवं लोकधर्मिदीक्षावशात्–

प्रारब्धदेहभेदे तु भुङ्क्ते स ह्यणिमादिकान् ॥१४४॥

भोगानिति ।

इस तरह दूसरी शिवधर्मिणी दीक्षा को लोकधर्मिणी दीक्षा की श्रेणी में रखा जाय या नहीं रखा जाय यह भी सोचने की बात है । एक आगमिक उक्ति है–

'समस्त भोग भूमियों में दुष्क्रातांश का परित्याग कर देने पर देहान्तर की स्थिति में अणिमादि सिद्धियों के उद्देश्य से भी यह शेष बची लोकधर्मिणी दीक्षा इष्ट होती है । शिष्टा शब्द यहाँ श्लिष्ट प्रयोग के रूप में भी लिया जा सकता है ।

इस उक्ति से शिवधर्मिणी और लोकधर्मिणी दोनों में पार्थक्य का कोई निर्णय नहीं हो सका । यह भी नहीं कहा जा सकता कि, मन्त्राराधन के विना साधकत्व नहीं हो सकता । इस भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये । इष्टापूर्त्त कर्म का जो फल है, उससे भी भोग भूमियों का विलय होता है । क्योंकि इष्टापूर्त्त आदि कर्म भी निष्काम ही किये जाते हैं । इनका लक्ष्य भी लोकोपकार ही होता है । मन्त्राराधन वर्जिता भी लोकधर्मिणी दीक्षा होती है और मन्त्राराधन से भी यह सम्पन्न हो सकती है ॥१४३॥

शास्त्र इस तथ्य को स्वीकार करता है कि, लोकधर्मिणी दीक्षा के फलस्वरूप प्रारब्धवश देह भेद हो जाने पर अर्थात् देहान्तर की स्थिति में भी अणिमादि सिद्धियों का भोग प्राप्त होता है । यह ध्यान देने की बात है कि, इस दीक्षा में भी दुष्कृतांश का परित्याग होता है । केवल शुभकर्म ही सम्पादित करने के समय का पालन लोकधर्मी करता है । अतः शुभ कर्मों के फलस्वरूप सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं ।

---

१. ख.पु. ईदृगिति पाठः ।

दीक्षावशादस्य शुभकर्माणिमादिपर्यवसायीत्यर्थः ॥१४४॥

अथ–

भोगान् भुक्त्वा व्रजेदूर्ध्वं गुरुणा यत्र योजितः ।
सकले निष्कले वापि

'यो यत्राभिलषेद्भोगान् ।'

इत्युक्तनीत्या सकले तत्र तत्र भुवनेश्वरे सायुज्याद्यर्थं शुभकर्मभोगान्ते मुमुक्षुर्वा निष्कले शिवे योजितस्तदेव पदं गच्छेत् । यथोक्तं श्रीमृगेन्द्रायाम्–

'लोकधर्मिणमारोप्य मते भुवनभर्तरि ।
तद्धर्मापादनं कुर्याच्छिवे वा मुक्तिकाङ्क्षिणाम् ॥ इति ।'

एतच्चोर्ध्वव्रजनं योजनं च यथाक्रमम्–

शिष्याचार्यवशाद्भवेत् ॥१४५॥

शिष्यस्य गुरोश्चाभिसन्धिवशाज्जायत इत्यर्थः । उक्तं च तत्रागेव–

'फलमाकाङ्क्षसे यादृक् तादृग्यजनमारभे ।' (स्व. ४-८१) इत्यादि ।

इसमें कोई प्रतिबन्ध नहीं है । यह भी निश्चय है कि, शुभकर्मों का पर्यवसान अणिमादि सिद्धि रूप भोग में ही हो सकता है और होता है ॥१४४॥

भोगों को भोग लेने के बाद दीक्षक गुरुद्वारा योजित शिष्य ऊर्ध्व की ओर अग्रसर होता है । भले ही वह सकल क्षेत्र का शिष्य हो या निष्कल क्षेत्र का शिष्य हो । इस उक्ति के अनुसार गुरु द्वारा योजित सकल साधक देहान्तर की स्थिति में जिन ऊर्ध्व लोकों में पहुँचते हैं, वे वहाँ के भुवनेश्वरों से सायुज्य प्राप्त कर पाते हैं ।

इसी प्रकार निष्कल भाव में मुमुक्षु शिष्य देहान्तर की दशा में निष्कल शिव में योजित होने के कारण इस महत्तम पदवी को प्राप्त कर लेते हैं । श्रीमृगेन्द्रा नामक शास्त्र की उक्ति है कि,

गुरु द्वारा भुवनेश्वरों के पक्ष में लोकधर्मी शिष्य को योजित कर उनके धर्म का आपादन करना चाहिये । यही भुवनेश्वर सायुज्य माना जाता है । इसी तरह मुमुक्षु शिष्य जो मोक्षलक्ष्मी का साक्षात्कार चाहते हैं, उनका योजन शिव में करना चाहिये ।

ये दोनों ऊर्ध्वव्रजन और योजनरूप कार्य शिष्य और आचार्य के द्वारा सम्पन्न होने वाले 'दीक्षा' नामक आत्मोत्कर्ष-प्रकर्षप्रद पावन शास्त्रोक्त कार्य रूप में सम्पन्न किये जाते हैं । इसीलिये 'वशात्' शब्द का प्रयोग किया गया है । अर्थात् दोनों की अभि-सन्धि में ये दोनों कार्य सम्पन्न होते हैं ॥१४५॥

एवं द्विधा भोगदीक्षां निर्णीय मोक्षदीक्षां सबीजां निर्बीजां सद्योनिर्वाणदां च क्रमेण निर्णेतुमाह–

निर्वाणेऽपि सबीजायां कर्माभावाद्विपद्यते ।

निर्वाणनिमित्तं या सबीजा पूर्वं निर्णीता दीक्षा तस्याः–

'विशेषसमयाचारा मन्त्राख्ये ये प्रकीर्तिताः ।
तेऽत्र पाल्याः प्रयत्नेन.......................॥' (स्व. ४-९०)

इति पूर्वोक्तं यत्कर्म तस्याभावादननुष्ठानाद्विपद्यते कश्चित्कालं शिवमय्याः स्वसत्तातो भ्रंशित्वा[१] क्रव्यादत्वमेतीत्यर्थः ॥१४६॥

यह पहले ही (स्व, ४/८१) में कहा जा चुका है । गुरु एक स्थान पर कहते हैं कि, प्रिय वत्स ! तुम जैसा फल चाहते हो, उसी प्रकार का यह यजन मैं आरम्भ करने जा रहा हूँ । इस तरह भोग दीक्षा शिवधर्मी और लोकमार्गस्थ भेद से दो प्रकार की उक्त है । इन दोनों का वर्णन ग्रन्थ में है । इसी पटल के श्लोक ८४-८५से प्रारम्भ कर यहाँ तक विस्तार पूर्वक वर्णित भोग दीक्षा के बाद मुमुक्षु दीक्षा का प्रकरण आ रहा है । मुमुक्षु मोक्षमात्रैकनिष्ठ होता है । सबीज दीक्षित होने के कारण वही पुत्रक माना जाता है । किन्तु इस विषय में यह जानना आवययक है कि, मुमुक्षु दो प्रकार के होते हैं । एक प्रकार का मुमुक्षु निर्बीज और दूसरे प्रकार का मुमुक्षु बीजवान् कहलाता है ।

निर्बीज मुमुक्षु निर्बीजा दीक्षा से युक्त होता है । सबीजा दीक्षा के कारण समय पालन में समर्थ पुरुष सबीज या बीजवान् कहलाता है । सबीज दीक्षित बीजवान् मुमुक्षु को पुत्रक कहने का कारण यह है कि, वह वागीशी के गर्भ से समुद्भूत होता है एवम् उसको संस्कार सम्पन्न बनाकर उसके संसार का प्रशमन कर दिया जाता है । पुत्रवत् अनुगृहीत कर दीक्षा देने के कारण सबीज दीक्षित मुमुक्षु ही पुत्रक कहलाता है ।

इस तथ्य को ध्यान रखकर ही मोक्ष दीक्षा के विषय की जानकारी प्राप्त की जा सकती है । यहाँ एक और भेद की चर्चा कर रहे हैं । वह है सद्यः निर्वाण दीक्षा । इस तरह मोक्ष दीक्षा तीन प्रकार की हो जाती है । १–सबीजा दीक्षा, २–निर्बीजा दीक्षा और ३–सद्यः निर्वाण दीक्षा । ये तीनों मोक्षप्रदा अर्थात् निर्वाण की निमित्त हैं । यह ध्यान देने की बात है कि, सद्यः निर्वाणप्रदा भी निर्बीजा दीक्षा की ही एक भेद है । सबीजा दीक्षा प्राप्त कर भी जो पुरुष कर्म सम्पन्न नहीं करता, वह विपत्ति में फँस जाता है । सबीजा दीक्षा भी निर्वाण में निमित्त है किन्तु मन्त्रपीठ में यह निर्देश (४-९०) दिया गया है कि, 'यहाँ निर्दिष्ट सभी समायाचार प्रयत्न पूर्वक पालन करने ही चाहिये ।

---

१. ख.पु. भ्रमित्वेति पाठः ।

यत एवमतः–

समयाचारपाशं हि दीक्षितः पालयेत्तु यः ।।१४६।।
तं पाशं नैव शुध्येत

दीक्षितः समयाचारपाशं पालयेत् यस्मात्तस्मात्तमस्य निर्बीजदीक्षितस्येव न शोधयेत् ।

दीक्षा चैषा–

सा सबीजा प्रकीर्तिता ।
समयाचारपाशं तु निर्बीजायां विशोधयेत् ।।१४७।।

तच्छुद्धिविधिरग्रे तु भविष्यति ।।१४७।।

अस्य च निर्बीजदीक्षादीक्षितस्य–

दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद्भक्तिमात्राद्गुरोः सदा ।

गुरुभक्तिमात्रमेवास्य समय इत्यर्थः ।।१४८।।

यदि इन कर्मों का अनुष्ठान कोई सबीज दीक्षित नहीं करता तो समयाचार पालन के अभाव का उसे दोष लगता है । कुछ काल तक शिवमयी स्वात्मसत्ता से वह भ्रष्ट हो जाता है । यहाँ तक कि, क्रव्याद भी बन जाने को वह विवश हो जाता है ।।१४६।।

एक मुख्य तथ्य की ओर सदा ध्यान देना चाहिये । जो समयाचार का पालन करता है, उसे जानना ही चाहिये कि, समयाचार भी एक प्रकार का पाश है । भले ही मोक्ष दीक्षा कहलाती है किन्तु सबीजा में सदा समयाचार पालन करना पड़ता है । इस तरह मोक्ष दीक्षा में भी समयाचार रूपी पाश का प्रभाव अवशेष रह जाता है । यह और भी विचित्र बात है कि, इस पाश के शोधन का निषेध भी शास्त्र करता है । यह आदेश देता है कि, दीक्षित समयाचार का पालन करे । यही कारण है कि, जैसे निर्बीज दीक्षा में पाशों का शोधन किया जाता है, इस दीक्षा में नहीं किया जाता । ऐसी दीक्षा को सबीजा दीक्षा कहते हैं ।।१४६।।

जहाँ तक निर्बीज दीक्षा का प्रश्न है, वह तो नाम से ही निर्बीज है । भुना हुआ बीज अङ्कुर उत्पादन में कारण नहीं बन सकता । इसलिये इसमें समयाचार रूपी पाश का शोधन परमावश्यक माना जाता है । इसके शोधन से तत्त्वों की शुद्धि होती है । तत्त्व शुद्धि के विषय में आगे विचार किया जाना निश्चित है ।।१४७।।

निर्बीज दीक्षा का अपना एक विशिष्ट स्थान है । इसमें दीक्षा मात्र से मुक्ति हो जाती है । यह ध्यान देने की बात है कि, इस दीक्षा का दीक्ष्य केवल गुरु पर ही निर्भर करता है । उसमें गुरुभक्ति क प्राधान्य होता है । उसे 'गुरु प्रत्ययी' कहते हैं ।

अस्या भेदान्तरमाह-

सद्योनिर्वाणदा दीक्षा निर्बीजा सा द्वितीयिका ।।१४८।।
अतीतानागतारब्धपाश[1]त्रयवियोजिका ।
दीक्षावसाने शुद्धिः स्याद्देहत्यागे परं पदम् ।।१४९।।

सद्य इति दीप्ततममन्त्रदीक्षावियोजितदेह[2]कलावस्थितिसमनन्तरमेव, अत एवारब्ध-कार्यस्यापि पाशत्रयस्य वियोजिका, देहत्यागे देहत्यागसमये दीक्षाया यदवसानं निष्पत्तिस्तत्रेत्यर्थः । एवं चारिष्टलक्षणादिभिर्निश्चितासन्नमरणस्यैवेयं कार्येति तात्पर्यम् । यदुक्तं

उसमें बुभुक्षा का अभाव होता है । अतः गुरु स्वतन्त्र भाव से उसे निर्बीज दीक्षा से अनुगृहीत करता है । इसका एकमात्र समय गुरु भक्ति ही होती है । निर्बीज दीक्षा के दूसरे भेद को सद्यः निर्वाणाप्रदा दीक्षा कहते है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि, सद्यः निर्वाणप्रदा दीक्षा एक दूसरी निर्बीज दीक्षा है ॥१४८॥

यह दीक्षा अतीत, अनागत और प्रारब्ध तीनों प्रकार के पाशों की विनाशिका मानी जाती है । अतीत का अर्थ पूर्वजन्म के किये कर्मों के अवशिष्ट फल हैं, जिनका भोग अभी बाकी है । अनागत पाश संचित कर्म फल होते हैं । वही नये जन्म में या इस जन्म में भी प्रारब्ध बन जाते हैं । वही भोग जीव भोगता है । दीक्षा से इनकी शुद्धि हो जाती है और देहान्त के बाद मोक्ष अर्थात् परमपद उपलब्ध हो जाता है । सद्यः अव्यय का अर्थ तत्काल, तत्क्षण या तुरत उसी समय होता है । यहाँ तत्काल मोक्ष का तात्पर्य गुरु द्वारा प्रयुक्त अत्यन्त दीप्त मन्त्र से दीक्षित करने के फलस्वरूप दीक्ष्य की देहावस्थिति में व्याप्त कलाओं के प्रभाव के विश्लेष के तुरत बाद है । यह प्रारब्ध कार्यों के भोगों में विद्यमान आणव, कार्म और मायीय पाशों के प्रभाव को भी नष्ट करने वाली निर्बीजा दीक्षा का ही प्रभाव है । यह स्थिति देह रहने की है । देह त्याग के क्षणों के तुरत बाद परपदत्व की उपलब्धि निर्विवाद रूप से होती ही है । वह अवस्था एक नयी निष्पत्ति की होती है ।

इस सम्बन्ध में एक सावधानी यह बरतनी ही चाहिये कि, गुरु शिष्य के अरिष्टों और मारकेश की दृष्टि आदि जीवनान्त के लक्षणों को देखकर इस बात के लिये आश्वस्त हो जाय कि, अब इस दीक्ष्य का अन्त निकट है, तभी उसे दीप्ततम मन्त्र से दीक्षित करें । इस सम्बन्ध में कुल गुह्वरशास्त्र कह गया है कि,

---

१. ख.पु. पाशसूत्रेति पाठः । २. ख.पु. देशकालेति पाठः ।

श्रीमद्गह्वरे–

'दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम् ।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्त्वे नियोजयेत् ॥ इति ॥१४९॥

प्रासङ्गिकं दीक्षाविवेकमुपसंहरति–

एवं भावानुसारेण[1] शिष्याणां गुरुणा सदा ।
फलं तु विविधाकारं निष्पाद्येत सुदीक्षया ।।१५०।।

यस्मात्–

अचिन्त्या मन्त्रशक्तिर्वै परमेशमुखोद्भवा ।

परमेशस्य मुखं पराशक्तिस्तदुद्भवत्वादेवाचिन्त्या । शक्तिशब्देन वीर्यसारतां मन्त्राणामाह ॥१५१॥

सा च–

क्रिया काले प्रयोक्तव्या गुरुणा भक्तिपूर्विका[2] ।।१५१।।

क्रिया दीक्षादिका, भक्तिर्मन्त्रस्वरूपामर्शनक्रमेण तद्वीर्यानुप्रवेशमयी सैव ।

'शिष्य को जरा से जर्जर, असाध्य व्याधि से बुरी तरह प्रभावित और पीडित देखकर गुरुदेव उसके उत्क्रमण की द्रुति की विषमता को समाप्त कर उसे परतत्त्व में नियोजित करें ।'

इस अवस्था में ही सद्यः निर्वाण घटित होता है और दीक्षा सफल हो जाती है ॥१४९॥

शास्त्रकार गुरुजनों के लिये एक विवेकपूर्ण उद्बोधन देते हुए यह कह रहे हैं कि, इसी तरह शिष्यों की भावना, उनकी वृत्ति, रुझान और संस्कारों का निरीक्षण परीक्षण कर सम्यक् दीक्षा से विविध रूपों के फलों का निष्पादन करते रहें ॥१५०॥

क्योंकि गुरुजनों की इस अलौकिक प्रक्रिया से यह सिद्ध हो जाता है कि, परमेश्वर के मुख से समुद्भूत ज्ञानचन्द्र मरीचिरूप मन्त्रों की शक्ति अचिन्त्य और अनिर्वचनीय होती है । परमेश्वर का मुख ही तो पराशक्ति मानी जाती है । पराशक्ति से निष्पन्न मन्त्र अनिर्वचनीय महत्त्व के होते हैं । ऐसे मन्त्रों के मन्त्रों में परवीर्य की दीप्ति व्याप्त रहती है । दीक्षा मन्त्रवीर्य के प्रयोग की माध्यम होती है । गुरुजन भक्ति पूर्विका दीक्षा का प्रयोग यथा समय करें । इससे मन्त्रस्वरूप का आमर्शन और उसकी वीर्यसारता का प्रभावीकरण होता है ॥१५१॥

---

१. ख.पु. नुरूप्येणेति पाठः । २. क.पु. भक्तिपूर्वकम् इति पाठः ।

अचिन्त्येत्यादिनेदमाह–

विषाणामिव पाशानां मन्त्रैः कवलनं ध्रुवम् ।
करोति मन्त्रतत्त्वज्ञः शिवावेशी गुरुः क्षणात्[1] ।।१५२।।

'पाशाश्च पौरुषाः शोध्या दीक्षायां न तु धीगताः ।
तेन तस्यां दोषवत्यामपि दीक्षा न निष्फला ॥
सुतीव्रशक्तिपाताश्च दोषबीजविनाकृताः ।
अपि भान्ति तुलादीक्षाघटशुद्धिवदीक्ष्यते ॥

मन्त्र शक्ति की विशेषता का प्रतिपादन करते हुए शास्त्रकार ने उसे 'अचिन्त्या' इस विशेषण से विभूषित किया है । उसी अचिन्त्यरूपता का स्पष्टीकरण कर रहे हैं–

मन्त्र का तत्त्वज्ञ मन्त्रों के प्रयोग से विषों का क्षणभर में ही निराकरण कर देता है । यह ध्रुव सत्य वचन है । उसी तरह मन्त्र के वीर्य और मन्त्र के रहस्यार्थ विज्ञान का विज्ञाता, शैव समावेश सिद्ध गुरु क्षण मात्र में ही पाशों का कवलन कर लेता है, यह ध्रुव सत्य है ॥१५२॥

इस श्लोक के सन्दर्भ में कुछ आगमिक उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं । इन उद्धरणों का पहला श्लोक श्रीतन्त्रालोक भाग१श्लोक २४ के पौरुष पाश के सन्दर्भ में पृ०६७ पर उद्घृत है । ये सभी श्लोक श्रीमद्गुह्वरशास्त्र के ही प्रतीत होते हैं ।

इन उद्धरणों में दीक्षा के विविध पक्ष वर्णित हैं । मूल श्लोक में मन्त्रों से पाशों के कवलन की बात कही गयी है । कवलन एक प्रकार का शोधन ही है । शोधन केवल पौरुष पाश का ही होना चाहिये । बौद्ध पाशों का शोधन यहाँ वर्जित किया गया है । वस्तुतः अज्ञान संसार के अङ्कुर का कारण माना जाता है । बुद्धि संसारोत्तर कालिक है । उसमें बैठा अज्ञान शोधित नहीं किया जा सकता । बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति में बौद्ध ज्ञान ही हेतु हो सकता है । बौद्ध ज्ञान मुक्ति में साक्षात्कारण नहीं होता । अतः पौरुष पाशों का शोधन ही शास्त्र विहित है ।

पौरुष पाश के शोधन करने पर अन्य निरपेक्ष रूप से मोक्ष का कारण बन जाता है । इसीलिये यह सिद्धान्त वाक्य प्रयुक्त है कि, 'पाशाश्च पौरुषाः शोध्याः' । इसी आधार पर धीगत अर्थात् बुद्धिस्थ पाशों का शोधन नहीं करना चाहिये । बुद्धि के अज्ञान की निवृत्ति के विना भी दीक्षा निष्फल नहीं होती ।

सुतीव्रशक्तिपात सम्पन्न साधक सदोषबीजों के निराकरण विना भी शक्तिपात के प्रभाव से प्रभाभास्वर रूप से ही दीप्तिमन्त दीख पड़ते हैं । तुला दीक्षा में 'घट शुद्धि प्रकरण में यह बात विशदता पूर्वक वर्णन की गयी है ।

---

१. ख.घ. क्षणमिति पाठः ।

पापस्य गुरुता नो चेद्धटशुद्धौ [1]ब्रवीषि किम् ।
तन्मन्त्रशक्त्या दीक्षाणां[2] चित्रत्वं नासमञ्जसम् ।
लिप्यक्षरे कृते यद्वत्ताडनादि नृणां भवेत् ।
मन्त्रशक्त्या तथा सूत्रे पाशानां छेदनं स्फुटम् ॥'

इत्यास्तां तावदेतदग्रे वितत्य निर्णेष्यामः ॥१५२॥

अथ प्रासङ्गिकं प्रमेयं निर्णीय प्रकृतमनुबन्धन्नाह–

कलासन्धानकं कुर्याच्छुद्धाशुद्धद्विरूपगम् ।

शुद्धनिवृत्तिकलासन्धानकं कुर्याच्छुद्धमशुद्धप्रतिष्ठाकलायोगाच्चाशुद्धमत एव द्विरूपगम् ॥१५३॥

पाप का पलड़ा भारी न होने पर 'घट शुद्धि' का महत्त्व ही क्या रह जाता है ? यह सभी स्वीकार करते हैं कि, तन्त्र और मन्त्र में अनन्त शक्तियों का उल्लास शाश्वत रूप से निहित रहता है । इसीलिये दीक्षायें भी चित्र विचित्र रूप से दी जा सकती हैं, और दी जाती हैं । इसमें कोई असामञ्जस्य नहीं दीख पड़ता ।

लिपि दूसरे की होने पर उस पर अपना अधिकार जताना अपराध माना जाता है । इस अकार्य के फल स्वरूप मनुष्यों को सजा मिलती है । उनका ताडन होता है अर्थात् वे दण्डित होते हैं । उसी तरह पाश सूत्र में पाशों का योजन करके उस सूत्र के माध्यम से मन्त्र शक्ति द्वारा पाशों का छेदन करने की स्फुटता अपनायी जाती है । परिणामतः पाश छेदन हो जाता है । इन उद्धरणों के द्वारा पौरुष पाश का छेदन मन्त्र तत्त्वज्ञ गुरु अपने मन्त्र प्रभाव से तुरत कर देता है ॥१५२॥

कला सन्धान सम्बन्धी प्रस्तुत तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहे हैं । इस सम्बन्ध में पहले यह धारणा करके ही विचार करना चाहिये कि, ये कलायें तत्पुरुष[3] वक्त्र की हैं । कला का शुद्ध और अशुद्ध द्विरूपग अर्थात् दो रूपों में कैसे अनुसन्धान किया जाय यह एक समस्या है । निवृत्ति कला का शोधन हो चुका है । प्रतिष्ठाकला में प्रवेश करना है । जहाँ निवृत्ति कला शुद्ध है, वहीं प्रतिष्ठा कला अशुद्ध है । शुद्धि और अशुद्धि के रहते असंस्कृत अशुद्धि के मिलान का प्रश्न साधक के सामने आता है । शास्त्र इसके सन्धान की आज्ञा दे रहा है । कुर्यात् क्रिया विधि क्रिया है । अर्थात् यह करना ही चाहिये । साधक इसे करें ।

---

१. ख.पु. करोति किमिति पाठः
२. ख.पु. दीक्ष्याणामिति पाठः ।
३. स्वतन्त्र १/५५ ।

अत्र च–

शुद्धमुच्चारयेद् ध्रस्वमशुद्धं दीर्घमेव च ।।१५३।।
एकत्वं भावयित्वा तु लीनं शुद्धं विभावयेत् ।

इह भगवान् निष्कलभट्टारको निःशेषपाशशोधकोऽङ्गब्रह्ममन्त्रैकादशिका तु शोध्या, तथापि च शुद्धाशुद्धकलावाचित्वान्निष्कलनाथः शुद्धतयाशुद्धतयापि च व्यवह्रियते । [१]तच्च शुद्धनिवृत्तिवाचित्वाच्छुद्धम्, ह्रस्वमिति प्रशान्ताशेषप्रसरं परबिन्दुव्याप्तिसतत्त्वमुच्चारयेत्, अशुद्धप्रतिष्ठावाचकत्वाच्चाशुद्धम्, दीर्घमिति प्रसरोन्मुखं नादव्याप्तिसतत्त्वम्, एकत्वं सामरस्यं भावयित्वोच्चारयेत् । अत्र च शुद्धं लीनमिति प्रतिष्ठां बोधयितुं तद्वाचिमूलमन्त्रेण सहैकीभूतं विभावयेत् ।।१५४।।

इसे करने के लिये उपाय है । शुद्ध के लिये ह्रस्व का उच्चारण पहले करें । ह्रस्व प्रणव को कहते हैं । इसके बाद अशुद्ध दीर्घ का उच्चारण करें । ह्रस्व निष्कल निवृत्तिवाची हन्मन्त्र का उच्चारण करने से निवृत्ति कला की निवृत्ति होती प्रतीत होती है । अशुद्ध दीर्घ के साथ प्रतिष्ठा कला का सन्धान हो जाता है ।

यहाँ ह्रस्व दीर्घ की लीनता की बात विचारणीय है । दीर्घ सवर्ण में होता है और लीनता भी वहीं सम्भव है । यहाँ एक शुद्ध और दूसरी कला प्रतिष्ठा, अशुद्ध है । एक दृष्टि में ही यह अन्तर सामने आ जाता है । इसके साथ ह्रस्व और दीर्घ की दृष्टि भी समक्ष आ खड़ी होती है ।

ह्रस्व की परिभाषा देते हुए आचार्य क्षेमराज कहते हैं–जब यह सम्पूर्ण विश्वात्मक प्रसर शान्त हो जाता है, उस परबिन्दु सत्ता में स्पन्दात्मैक्यापत्ति की एक छोटी सी लहर ही ह्रस्व है । इसका उच्चारणक्षण योगी के अनुभव का विषय है । इसी प्रकार दीर्घ वह स्थिति है, जहाँ प्रसर की उन्मुखता बढ़ने को आकुल दीख पड़ती है । ह्रस्व और दीर्घ की ये दृष्टियाँ इन के सामरस्य का आकलन करने को प्रेरित करती हैं । प्रसर की शान्ति और प्रसार की नादव्याप्तिक उन्मुखता इन दोनों की आपस में लीनता स्वाभाविक हो जाती है ।

यहाँ एक और विचारणीय विषय प्रस्तुत है । निष्कल भैरवनाथ को शुद्धाशुद्ध कलावाची कहा गया है । दूसरी ओर वे समस्त पाशराशि के शोधक भी कहे जाते हैं । वस्तुतः इन दोनों कथनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है । सब कुछ वही हैं । सत्त्व, रजस और तमस् उसी प्रसर के उल्लास हैं । यहाँ शुद्ध भी है अशुद्ध भी । यहाँ निवृत्ति भी है और प्रतिष्ठा भी । हमें इनके सामरस्य का मध्यमार्ग निकालना है और प्रकाश के पथ को प्रशस्त करना है । अतः शुद्ध की लीन विभावना का यही तात्पर्य

---

१. ख.पु. ततश्चेति पाठः ।

अथ प्रतिष्ठाकलाशुद्धिः

न चात्र ह्रस्वदीर्घमात्रमुच्चार्यमपि तु–

प्रणवादिनिवृत्तिस्तु प्रतिष्ठा तदनन्तरम् ।।१५४।।
नमस्कारस्तदन्ते तु कलासन्धानकं स्मृतम् ।

'प्रणवं' ह्रस्वं निष्कलं निवृत्तिवाचिनं हृन्मन्त्रं चोच्चार्य तदन्ते निवृत्तये इति पदम्, ततोऽपि प्रणवं दीर्घं निष्कलं प्रतिष्ठावाचिनं च शिरोमन्त्रमुच्चार्य 'प्रतिष्ठायै नमः' इत्यत्र प्रयोगः । होमे तु स्वाहान्तः ।।१५५।।

इत्थं च–

आवाह्य स्थाप्य सम्पूज्याहुतीस्तिस्रः प्रपातयेत् ।।१५५।।
कलासन्धानमेतद्धि

कलानां पृथ्व्यादिधारणाध्यानं कार्यमिति केचिद्वदन्ति ।

अथ–

व्याप्तिं तस्यावलोकयेत् ।

तस्याः प्रतिष्ठायाः ।

है कि, निवृत्ति अब हमारी आधार भूमि बन गयी है, जिस पर खड़े होकर हम प्रतिष्ठा की पराकाष्ठा का मापन कर सकते हैं । इस स्थिति में दोनों का सहभाव एक लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक बन जाता है ।।१५३-१५४।।

प्रतिष्ठा कला में जो अशुद्धि अवस्थित है, उसकी शुद्धि साधक के लिये आवश्यक है । वह कैसे हो, उसका शब्दचित्र प्रस्तुत कर रहे हैं कि, पूर्व में प्रणव का प्रयोग कर निवृत्तिवाची हृदयमन्त्र का प्रयोग करना चाहिये । अर्थात् मन्त्र रूप की निर्मिति के लिये ॐ यं निवृत्तये ॐ यीं प्रतिष्ठायै नमः का प्रयोग करना चाहिये । ह्रस्व य, निवृत्तिवाची हृन्मत्र और यीं यह प्रतिष्ठावाची शिरो मन्त्र है । हवन करते समय 'ॐयं निवृत्तये ॐ यीं प्रतिष्ठायै नमः स्वाहा' मन्त्र का प्रयोग शास्त्रों के विधि के अनुरूप है । इस विधि के अनुरूप ॐ यं निवृत्तये नमः निवृत्तिमावाहयामि पूजयामि च निवृत्यै नमः कहकर आवाहन और पूजन दोनों का संचालन कर अन्त में उक्त मन्त्र में स्वाहा लागाकर तीन आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिये ।।१५५।।

यह कला सन्धान का स्वरूप है । कुछ लोगों का यह मत है कि, कला के पाँचों भेदों के क्रम से उनके तत्त्वों की धारणायें करनी चाहिये और उनके ध्यान भी करना अपेक्षित होता है । जो हो, प्रतिष्ठा में प्रवेश के समय उसकी व्याप्ति का आन्तर ऊहापोह भी करना चाहिये ।

तत्र–

गुल्फादारभ्य नाभ्यन्तं शिष्यदेहेऽध्वकल्पनम् ।।१५६।।
प्रतिष्ठाया भवेद्व्याप्तिश्चतुर्विंशतितत्त्विका ।
षट्पञ्चाशद्भुवनिका त्रयोविंशतिवर्णिका ।।१५७।।
ज्ञेयैकविंशतिपदा त्रिमन्त्रा च विधीयते ।

अबादीनि गुणतत्त्वेन सह प्रधानान्तानि चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि यस्याम्, तथा गुह्यातिगुह्यपवित्रस्थाणुस्थूलदेवयोनियोगाख्यानि सप्ताष्टकरूपाणि भुवनाध्वनि वक्ष्यमाणानि षट्पञ्चाशद्भुवनेश्वराधिष्ठितानि, तावन्त्येवान्तर्भूतभुवनान्तराणि प्रधानानि भुवनानि यस्याम्, हकारात् टकारान्तानि त्रयोविंशतिवर्णानि यस्याम् । एकविंशतीति पूर्वं कलातत्त्वास्पदवारुणदिग्गतपदनवकादीशकोणस्थ ऊकारो यावदुपयुक्तः, इति प्रातिलोम्येन तदन्तरस्थाद्यकारादारभ्य लकारान्तमष्टकम्, तथा मायातत्त्वाश्रयनैर्ऋतदिक्स्थकोष्ठनवकगतमूकारादि मकारान्तं नवकम्, विद्यातत्त्वाधिष्ठितदक्षदिग्गतकोष्ठनवकमध्यादूकारादिलकारान्तं चतुष्टयं चेत्येकविंशतिपदानि यस्याम्, त्रयो वामदेवः शिरः शिखा च मन्त्रा यस्याम्, न तु हृदयं हृन्मन्त्रस्य निवृत्त्यन्तर्भावात् ॥१५८॥

प्रतिष्ठा में गुल्फ से आरम्भ कर नाभि तक शिष्य के शरीर में अध्वा कल्पन भी करना चाहिये । इसकी व्याप्ति में केवल त्रयोविंशति तत्त्व ही आते हैं किन्तु निवृत्ति के एक तत्त्व को मिला देने से यह चतुर्विंशति संख्या पूरी होती है । इसी आधार पर श्लोक १५७ में भी चतुर्विंशति तत्त्वात्मिका व्याप्ति का उल्लेख किया गया है । इस व्याप्ति के अन्तर्गत ५६ भुवन आते हैं । यहाँ स्पष्ट उल्लेख त्रयोविंशति वर्णिका का ही किया गया है । इसे एक विंशतिपदा और त्रिमन्त्रा भी लिखा गया है । इस विषय में कुछ मतभेद भी हैं ।

इस शास्त्र की अपनी मान्यता के अनुसार ही एकविंशतिपदा माना जा सकता है । श्रीमालिनी विजयोत्तर तन्त्र के अनुसार इन सारी कलाओं के मात्र दश पद ही माने जाते हैं । श्रीतन्त्रालोक भी श्रीमालिनी मत को ही मानता है । ह से ट तक के वर्ण भी सर्वमान्य हैं ।

एक विंशतिपदा की दृष्टि का विश्लेषण करते हुए आचार्य क्षेमराज लिखते हैं कि, कलातत्त्व वरुणगत की पश्चिम दिशा के नवनाभ मण्डल के जो नौ पद और वर्ण हैं, उनसे आरम्भ कर 'ऊ'कार पर्यन्त २१ पद मानना चाहिये । यह वारुण मण्डल के य कार से ल पर्यन्त ८ ; नैर्ऋत्य दिग्गत पद ऊकार से लकार पर्यन्त ९ शुद्धविद्या तत्त्वाधिष्ठित दक्षिण दिशा में अवस्थित नवनाभ कोष्ठ के ऊकार से लकार पर्यन्त ४ पद ऊ,य,व,ल, मिलाने से ८+९+४=२१ पद होते हैं । इसीलिये इसे एक विंशतिपदा लिखा गया है । यह सब नवनाभ मण्डल

इत्थं च षडध्वात्मानः–

मुख्या ह्येते स्मृताः पाशाः

मुख्यत्वमेषां सर्वाणुसाधारण्यात्, पदवर्णमन्त्रा अपि

' शब्दराशिसमुत्थस्य.................।' (स्व. ४-१५)

इति युक्त्या वाचकरूपतामश्नुवानाः पाशा एव, अत एव निरुपाधिचिदानन्दघन-स्वरूपामर्शपरमार्थमूलमन्त्रातिरिक्तं सर्वमत्र शोध्यमेव । यदुक्तमस्मद्गुरुभिः श्रीतन्त्रा-लोके–

'यत्किंचित्परमाद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात् ।
पराच्छिवादुक्तरूपादन्यत्तत्पाश उच्यते ॥ इति ॥ (तं. ८/२९२)

(पृ०५७) के ८१ पदों में से निवृत्ति के बाद प्रतिष्ठाकला के २१ पद हैं । वाम-देव, शिर और शिखा को लेकर तीन मण्डलों के इन अक्षर पदों के अनुसार एकविंशतिपदा कहना प्रामाणिक उक्ति है, इसके विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता है । जहाँ तक तीन मन्त्रों की बात है, इनमें मूलतः वामदेव बीज; शिखा और शिर के बीज मन्त्र सम्मिलित हैं । मालिनी विजयोत्तर तन्त्र में मन्त्रों और पदों की संख्या पाँच लिखी हुई है[1] ॥१५७-१५८॥

इस प्रकार उक्त मीमांसा से निवृत्ति और प्रतिष्ठा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । यह चित्र है–छः अध्वाओं में इनके पाशों के स्वरूप का । इन्हें शास्त्र मुख्य पाश मानता है । सभी अणु रूप जीवों में सर्वसाधारण रूपों में ये व्याप्त रहते हैं । यही इनकी मुख्यता का आधार है । पद, वर्ण और मन्त्र रूप ये अध्वा इसी पाश रूप में उल्लसित हैं, क्योंकि पदमन्त्र और वर्ण शब्दराशि से ही संमुत्पन्न है । ये सभी पाश रूप में व्यक्त हैं । प्रातीप्य के प्रारम्भ में इनका पाशरूपत्व ही दृष्टिगोचर होता है । पहले ये वाचक रूप में पाश का ही काम करते हैं । इसलिये निरुपाधि चिदानन्दघन स्वरूप के परामर्शक परमार्थ के मौलिक मूलमन्त्रों के अतिरिक्त इनकी पाशरूपता स्पष्ट हो जाती है । इसी अतिरिक्त स्वरूप का दीक्षा में शोधन आवयक माना जाता है । श्रीतन्त्रालोक में भगवान् अभिनव जो इनके दीक्षा गुरु थे, उन्होने भी कहा है ।

'पाश तो मुख्यतः आणव, कार्म और मायीय होते हैं, तथा इनके अति-रिक्त आठ भी माने जाते हैं किन्तु सच्ची बात तो यह है कि, इस विश्व प्रसार में परम अद्वैत संवित्स्वातन्त्र्य सुन्दर परम शिव के अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह सभी पाश ही है । अर्थात् द्वैत प्रथा के प्रथन में सहायक, सभी द्वैतसाधक तत्त्व पाश ही कहे जा सकते हैं ।'

---

१. श्री मा० वि० तं २/५०-५७ ।

अत्रैव च–

सूक्ष्मानन्तर्विभावयेत् ।।१५८।।

तान् स्फुटयति–

अन्यत्तन्त्रप्रसिद्धं तु तन्मात्रेन्द्रियशोधनम् ।

अत्रान्तर्भाव्यमित्यर्थः । अन्यत्तन्त्रं लाकुलादि । यद्यपि च त्रयोविंशतितत्त्विकेत्युक्त्वा तन्मात्रादीन्यन्तर्भावितानि तथापि तानि बाह्यभौवनसन्निवेशव्यापकान्यन्यान्येव, एतानि तु स्थूलसूक्ष्मशरीरसन्निविष्टान्यपराण्येव, इति न भ्रमितव्यम् ।

इस सन्दर्भ में यह अवश्य ध्यान देना चाहिये कि, सूक्ष्म पाशों का 'अन्तर्वि-भावन भी हो रहा है या नहीं ? अन्तर्विभावन से सूक्ष्म पाशों का प्रसङ्गतः शोधन भी होना चाहिये ॥१५८॥

ये सूक्ष्म पाश लाकुल आदि शास्त्रोक्त हैं । लाकुल आदि शास्त्र इस शास्त्र की दृष्टि से अन्य ही कहे जाते हैं । इस उक्ति के अनुसार तन्मात्राओं और इन्द्रियों आदि का शोधन होना चाहिये । तन्मात्राओं और इन्द्रियाँ मिलाकर १५ होती हैं । यद्यपि अन्तर्भावित करने योग्य त्रयोविंशति तत्त्विका गणना की गयी है फिर भी यहाँ मात्र १५ तत्त्व ही परिगणित किये गये हैं । इसका तात्पर्य यह है कि, ये तत्त्व इस जीवन के महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं । इनको शुद्ध कर अन्तर्भावित करना आवश्यक है ।

अन्यान्य तन्त्रोक्त तत्त्व बाह्य भुवनों के सन्निवेश में व्याप्त रहने वाले हैं, उनमें और इनमें महान् अन्तर है । ये परिगणित तत्त्व स्थूल और सूक्ष्म शरीर जो जीव- धारियों को विशेष रूप से मनुष्यों को प्राप्त हैं, इन्हीं में सन्निविष्ट रहने वाले विशिष्ट तत्त्व हैं । इन दोनों के अन्तर को समझना आवश्यक है । वस्तुतः आज ये लाकुल आदि शास्त्र अनुपलब्ध हैं । अतः उनका स्वाध्याय ही बाधित है । भ्रम की तो बात ही अलग है ।

यह शास्त्र इन तत्त्वों के अतिरिक्त भी अन्य तत्त्वों के अन्तर्भावन की बात करता है । षट्कोशों से सभी विज्ञ लोग परिचित हैं । ये वेदान्त की दृष्टि से पाँच हैं– १–अन्नमय कोश, २–प्राणमय कोश, ३–मनोमय, ४–विज्ञानमय और ५–आनन्दमय कोश । यहाँ ६ कोश इस प्रकार व्याख्यायित हैं–१–असृक् (रक्त), २–मांस, ३–लोम, ४–मज्जा, ५–अस्थि और ६–स्नायु । इन्हीं के आधार पर इस शरीर को षाट्कोशिक शरीर कहते हैं । ये सूक्ष्म शरीर के ऊपर स्थूल शरीर में कोश की तरह अवस्थित रहते हैं । १–इनके अतिरिक्त पाँच विषय जिन्हें इन्द्रियार्थ भी कहते हैं । श्रोत्र का विषय शब्द, २–त्वक् का विषय स्पर्श, ३–आँख का विषय 'रूप' ४–रसना का विषय रस, और ५–घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है । ये शब्द, रूप,

किञ्च–

षट्कोशान्विषयान् पञ्च तदन्तर्भावयेत्सदा ।।१५९।।

असृङ्मांसलोममज्जास्थिस्नाय्वाख्या: षट्कोशाः सूक्ष्मदेहोपरि कोशाकारतया स्थिताः । सदेति दीक्षाकाले । एवञ्च वर्तमानेऽपि देहशोधनं चोदितमेवेति तत्र कर्तव्यं यैरुक्तं ते भ्रान्ता एव ।।१५९।।

अत एवोक्ताध्वव्याप्तिविमर्शरूपम्–

विशेषस्थापनं कृत्वा पूज्या गन्धादिभिस्ततः ।

तथा

भैरवेणाहुतीस्तिस्रः

दद्यादिति शेषः । भैरवेणेति काकाक्षिवत्, तेन प्रणवनिष्कलप्रतिष्ठाबीजान्युच्चार्य 'प्रतिष्ठायै नमः' इति मन्त्रेण पूजा, स्वाहान्तेन होमः । एवमुत्तरत्रापि ।

अथ

तस्या वागीशिकल्पना ।।१६०।।

सा हि विप्रुषि सर्वमन्तःकर्तुं क्षमा । अत्र चादौ शक्तिं न्यसेदित्यादि पूर्वोक्तं स्मर्तव्यम् ।

रस और गन्ध पाँच विषय हैं । इन सभी का अन्तर्भावन दीक्षा के समय अनिवार्य रूप से होना चाहिये ।

एक प्रश्न और भी आचार्य श्री क्षेमराज ने यहाँ उठाया है । क्या वर्त्तमान समय में देह शोधन सम्भव है ? या नहीं । एक ओर तो सदा का अर्थ दीक्षा समय मानते हुए शोधन की बात करते हैं । दूसरी ओर वर्त्तमान देह शोधन की बात को भ्रान्ति मानते हैं । इसका निराकरण मेरी दृष्टि से यह है कि, पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत महाभूतों की दृष्टि से जो सूक्ष्म शरीर है, उसका शोधन वर्त्तमान देह में नहीं हो सकता किन्तु गुरु और आचार्य इसे भी कर सकते हैं । इस पर मेरा विश्वास है ।।१५९।।

इस स्तर पर गुरु और शिष्य दोनों अध्वव्याप्ति का विमर्श करें और इसकी विशेष रूप से विशिष्ट स्थिति को ध्यान करते हुए प्रतिष्ठा कला के इन तत्त्वों का स्थापन कर गन्ध पुष्प आदि से उनकी पूजा करें और प्रणव निष्कल एवं प्रतिष्ठा कला के बीजों का उच्चारण करते हुए प्रतिष्ठायै नमः स्वाहा से तीन आहुतियाँ प्रदान करें ।

हवन के इस अवसर वागीशी का प्रकल्पन अवश्य करना ही चाहिये । वागीशी की अपरिमेय ऐसी शक्ति है, जो आज्य की एक कणिका मात्र से भी सभी तत्त्वों का अन्तर्भावन सिद्ध कर सकती है । इस अवसर पर शक्तिन्यास विधि का विस्मरण नहीं होना चाहिये ।।१६०।।

किञ्च,

स्वनामावाहनाद्यस्य अर्घहोमादि पूर्ववत् ।
प्रोक्षणं ताडनं छेद आकर्षग्रहणे तथा ।।१६१।।
धाम्नापूर्य कुम्भयित्वा छित्त्वाथ ग्राहयेत्पुनः ।
योजनं गर्भधारित्वं जननं पूर्ववत्क्रमात् ।।१६२।।

पूर्वदित्यतिदेशेन निवृत्त्युक्तं सर्वं विधिक्रममनुस्मरेदिति शिक्षयति ।।१६२।।

अथ प्रसङ्गात्सर्वदीक्षासु वक्तव्यशेषं पूरयति–

ऐश्वरीं मूर्तिमास्थाय ताडनादीनि कारयेत् ।

ताडनप्रोक्षणादीनि क्रियाशक्त्यावेशे कार्याणि, इति क्रियाशक्तिप्रधानेश्वराहंभावेनैव युक्तानि ।

किञ्च–

अधिकारस्तथा भोगो लयो निष्कृतिरेव च ।।१६३।।

निवृत्ति कला के शोधन की तरह स्वात्मनाम के साथ आवाहन पूर्वक उसकी आधी संख्या में हवन करना चाहिये । इसके साथ ही साथ प्रोक्षण, ताडन, छेदन, आकर्षण और ग्रहण आदि सभी प्रक्रियायें अपनानी चाहिये । धाममन्त्र से पूरक, कुम्भक, रेचक और संग्रहण का व्यापार, योजन, गर्भाधान और जनन एवं नामकरण आदि पूर्ववत् सभी संस्कारों को सुसम्पन्न करना चाहिये ।।१६१-१६२।।

प्रतिष्ठा कला के शोधन के सन्दर्भ में कुछ शेष कार्यों का सम्पादन पूर्ववत् करने का निर्देश देने के बाद कुछ विशेष का निर्देश भी यहाँ कर रहे हैं–

ईश्वर क्रिया शक्ति के अधिष्ठाता तत्त्व हैं । इसलिये क्रिया शक्ति की सक्रियता के लिये ऐश्वरीमूर्ति की प्रतिष्ठा पहले और बाद में अन्य काम । यह गुरुदेव की आज्ञा है । अन्य कार्यों में ताडन आदि सभी कार्यों की गणना की जानी चाहिये । तदनन्तर अधिकार, भोग, लय, और निष्कृत्ति सभी कर्म सम्पादित किये जाते हैं । अधिकार का ज्ञान प्रभुत्व सम्पादन के उद्देश्य से आवश्यक माना जाता है । जहाँ तक प्रभुत्व का प्रश्न है, इस विश्व प्रसार प्रपञ्च में ईश्वर, सदाशिव के रहते हुए भी 'शिव' में ही प्रभुत्व निहित है । यह शास्त्र की मान्यता है । इसलिये स्वात्म में भी शिवाहं भाव के प्रकल्पन पर ध्यान देना चाहिये । शिव रूप से ही सभी कार्य सम्पन्न करना चाहिये । यह प्रतिष्ठा के होम का सन्दर्भ है । निवृत्ति का होम तो निष्कृति और विशेष के होम मूल मन्त्र से करने की विधि है ।।१६३।।

शिवरूपेण कर्तव्याः

अधिकारादिज्ञानं[1] प्रभुत्वसम्पाद्यम्, प्रभुश्च सदाशिवादौ विश्वत्र शिव एवेति शिवाहंभावेनैव तदुचितम्, निवृत्तौ निष्कृतिविश्लेषहोमौ मूलेनैवोक्तौ ।

इह तयोर्विशेषमाह–

निष्कृतिः शिरसा पुनः ।

विश्लेषश्च [2]हृदा होम्य

पुनःशब्दो विशेषाय सर्वत्रैव ।

पाशच्छेदस्तथासिना ।।१६४।।

तथाशब्दान्मूलेनापि । यथोक्तं प्राक्–

'आहुतित्रितयं धाम्ना पाशच्छेदेऽपि......।।' (स्व. ४-१२९)

इति पुर्यष्टकच्छेदनताडनादीन्यपि असिनैवेत्यपि तथाशब्दार्थः, आकर्षणग्रहणाद्यास्तु धाम्नैवेत्युक्तम् ।।१६४।।

किञ्च,

पूर्णाहुतिसमुद्धारं पूर्ववद्भैरवेण तु ।

निष्कलेनेत्यर्थः ।

ज्ञानशक्तिप्रधानः श्रीसदाशिव इति

सदाशिवतनौ स्थित्वा विश्लेषादीनि कारयेत् ।।१६५।।

निष्कृति होम शिरोमन्त्र से होता है और विश्लेष मन्त्र हृन्मन्त्र से सम्पन्न करना चाहिये । इसके बाद पुनः शब्द के निहितार्थ का ध्यान रखते हुए असिमन्त्र से पाशच्छेद करना चाहिये । यह कार्य मूलमन्त्र से भी हो सकता है । यह आगमिक उक्ति है । कहा गया है कि, पाश के छेदन की प्रक्रिया धाममन्त्र अर्थात् मूल मन्त्र से भी सम्पन्न की जा सकती है । इसी तरह पुर्यष्टक के पाशों के छेदन और ताडन आदि असिमन्त्र से किन्तु आकर्षण और ग्रहण आदि धाम मन्त्र से ही करना चाहिये ।।१६४।।

पुर्णाहुति और समुद्धार की क्रिया भैरव मन्त्र से अर्थात् निष्कल भैरव मन्त्र से ही सम्पन्न करनी चाहिये । श्लोक सं० १६३ में क्रियाशक्ति में ऐश्वरी मूर्त्ति की बात कही गयी है किन्तु ज्ञानशक्ति प्रधान सदाशिव को माना जाता है । अतः विश्लेष आदि क्रियाओं को सदाशिव-शरीर भाव में रह कर ही सम्पन्न करना चाहिये ।

---

१. क.पु. अधिकारादिप्रधानमिति पाठः ।

२. क.पु. सदा होम्य इति पाठः ।

विश्लेषादीनां भेदोपशान्तिपरत्वात्तत्प्रधाना सदाशिवस्य व्याप्तिर्ग्राह्या, आदिशब्दादेकचैतन्यभावितोद्धारादयः ॥१६५॥

एवं प्रसङ्गाद्विधिं पूरयित्वा प्रकृतमाह–

आत्मस्थं पूरकेणैव [1]तत्स्थं रेचकवृत्तितः ।

सर्वमेतत्पूर्वमेव निर्णीतम् ।

अथ प्रतिष्ठाधिपतिम्–

[2]स्वनाम्नोच्चारयेद्विष्णुं धात्वावाह्य तु स्थापयेत् ।।१६६।।

पूजयेत्पुष्पगन्धाद्यैः

अस्मै च–

तर्पणायाहुतित्रयम् ।

दद्यात् ।

किञ्च,

रसं पुर्यष्टकांशं तु अर्पयेद्विष्णवे सदा ।।१६७।।

दीक्षास्विति शेषः ॥१६७॥

इसमें आदि शब्द का भी प्रयोग किया गया है । इसका अर्थ है कि, एक चैतन्यात्मक भावना और समुद्धार आदि की प्रक्रियाओं के प्रति सावधान रहना चाहिये ॥१६५॥

यह शास्त्र उपसना के साथ विधिशास्त्र के रूप में विख्यात है । यहाँ तक विधि की चर्चा करने के बाद उपासना को व्यक्त करने का उपक्रम कर रहे हैं । साधक तत्पर है । शिष्य को पूरक के माध्यम से आत्मस्थ करना और पुनः उसे रेचक वृत्ति से उसके शरीर में अवस्थित करना चाहिये ।

जब शिष्य इस रूप में आसन पर विराजमान हो जाय, इस समय गुरु अपने को ही संयोजक रूप में मानकर विष्णु का आवाहन करें । उनका ध्यान करें । आवाहन कर उन्हें वहीं स्थापित करना चाहिये । भगवान् विष्णु की गन्ध और पुष्प आदि से उनका पूजन भी वहीं सम्पन्न करना चाहिये । उनकी प्रसन्नता के लिये तीन आहुतियाँ भी अर्पित की जाती हैं । होम के बाद तर्पण आवश्यक माना जाता है ।

विष्णु को सबसे मूल्यवान् वस्तु जो अर्पित की जाती है, वह शिष्य के पुर्यष्टकांश का रस है । पुर्यष्टक तन्मात्राओं तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार के अष्टक को कहते हैं । स्वाधिष्ठान उनका अपना आवास है । पुर्यष्टक रस से वे तृप्त हो जाते हैं । यह सारा का सारा काम दीक्षा में ही करणीय है ॥१६६-१६७॥

---

१. क.पु. हृत्स्थमिति पाठः । २. ख.ग.घ.पु. स्वनामोच्चारणाद्विष्णुमिति पाठः ।

पूर्ववत्कृतश्रावणम्–

विसर्जयेत्ततो विष्णुं वागीशीं च विसर्जयेत् ।

अथ–

[1]कलासन्धिर्यथापूर्वं ह्रस्वदीर्घप्रयोगतः ।।१६८।।
अभावं भावयेत्तस्मिन् पाशजाले त्वनन्तके ।

अथ–

कलाद्वयविनिर्मुक्तः पशुरूर्ध्वगमोत्सुकः ।।१६९।।
तस्येदानीं तृतीयस्यां विद्यायां योज्य शोधयेत् ।

चैतन्यमित्यर्थात् ।।१६९।।

तां च विद्याम्–

स्थापयित्वाथ सम्पूज्य जुहुयादाहुतित्रयम् ।।१७०।।

श्लोक १३९ श्रावण विधि की चर्चा की गयी है । उसी विधि का यहाँ पर भी प्रतिपालन करना चाहिये । इसके बाद विष्णु का और वागीशी का विसर्जन कर देना चाहिये । पहले ब्रह्मा की पूजा कर वागीशी का विसर्जन निवृत्तिकला के सन्दर्भ में हुआ था । यह प्रतिष्ठाकला में विष्णु के साथ वागीशी का विसर्जन किया गया । प्रतिष्ठा कला की शुद्धि का सन्दर्भ श्लोक १५४ से प्रारम्भ हुआ था । उसमें ह्रस्व दीर्घ के प्रयोग (श्लोक १५३) के अनुसार यहाँ प्रतिष्ठा और विद्याकला की सन्धि के सन्दर्भ में भी उसे उसी तरह उपस्थित प्रक्रिया पूरी की जानी चाहिये ।।१६८।।

पाशों के आनन्त्य का वर्णन श्लोक १५८ में आया है । क्रमशः शिष्य उत्कर्ष की ओर बढ़ रहा है । प्रतिष्ठा कला के शुद्ध हो जाने और उसमें व्याप्त पाशों के शुद्ध हो जाने पर प्रतिष्ठाकला में व्याप्त पाशों के अभाव का भावन करना आवश्यक है । इसीलिये शास्त्र यह उद्बोधित कर रहा है कि, इस समय शिष्य निवृत्ति और प्रतिष्ठा कलाओं के दुष्प्रभाव से विनिर्मुक्त हो चुका है । अब वह ऊर्ध्व गमन व्यापार के लिये परिकरबद्ध होकर उत्सुकता पूर्वक यह प्रतीक्षात्मक भावन कर रहा है कि, गुरुदेव उसे विद्या कला से योजित कर उसका उद्धार करेंगे ।।१६९।।

गुरु का उत्तरदायित्व भी उसी तरह उसी क्रम से शिष्य को उत्कर्ष की दिशा में अग्रसर करने के लिये बढ़ रहा है । शास्त्र गुरुदेव को उस विधि के लिये उत्प्रेरित करते हुए कह रहा है कि, आचार्य शिष्य को विद्या में योजित कर उसका शोधन करें । उसके शोधन का तात्पर्य ही यह होता है कि, इस क्रिया से उसके चैतन्य का शोधन होने जा रहा है । अब वह अपेक्षाकृत शुद्ध चैतन्य की व्याप्ति में प्रवेश कर नयी चेतना से चमत्कृत होने वाला है ।

---

१. क.पु. कलासंधि यथेति पाठः । हुत्वा दीर्घप्रयोगत इति च पाठः ।

एवं तु सम्मुखीकृत्य प्रागिवाध्वावलोकनम् ।

कार्यमित्यर्थः ॥१७०॥

तदेवाह–

पुंस्तत्त्वाद्यावन्मायान्तं विद्याया व्याप्तिरिष्यते ।।१७१।।

एवं च–

सप्त तत्त्वानि

पुरुषनियतिकालरागविद्याकलामायाख्यानि, पुरुषस्यैतत्तत्त्वषट्कमेतत्कञ्चुकरूपमन्तरङ्गं वेदनहेतुतता स्थितत्वाद्विद्याख्यया कलया व्याप्तम्, प्रतितिष्ठते भोगहेतुतत्त्वजालं यत्रेति निरुक्त्या प्रतिष्ठा, निवर्तते तत्त्वसृष्टिर्यत इति निवृत्तिः, अशेषभेदोपशमाच्छान्ता, तामप्यतीता तत्संस्कारेणापि शून्या शान्त्यतीतेत्यनुसन्धेयम् ।

उसी विद्या कला की प्रतिष्ठा सर्वप्रथम अब गुरुदेव वहाँ कर रहे हैं । शास्त्र का यही आदेश है । विद्या की प्रतिष्ठा पूरी हुई । आचार्य ने उसकी पूजा की और पूजा के उपलक्ष्य में तीन आहुतियाँ भी अर्पित की गयी हैं ॥१७०॥

इस प्रकार शिष्य का सामुख्य विद्या कला की ओर हो गया है । इस अवसर पर उसका यह कर्त्तव्य होता है कि, वह अध्वा की स्थिति का भी आकलन करें । इसी आकलन के सन्दर्भ में वह अनुभव करता है कि, अब मैं कला और प्रतिष्ठा से प्रभावित २४ तत्त्वों, ७२ भुवनों, २४ वर्णों, ६ पदों और ६ मन्त्रों को पार कर विद्या क्षेत्र से प्रभावित अध्वाओं की उच्च्व स्तरीयता की परिधि में पहुँच आया हूँ ।

विद्या कला में ७ तत्त्व, २८ भुवन, ७ वर्ण १पद और १ मन्त्र होते हैं । इसका आकलन रूप अवलोकन शिष्य करता है । यह आकलन मालिनीविजयोत्तर तन्त्र और श्रीतन्त्रालोक के अनुसार है । स्वच्छन्दतन्त्र में इसकी गणना नवनाभ मण्डल के अनुसार की जाती है । इस आकलन के अनुसार इनका अवलोकन शिष्य दूसरी तरह करता है । इसके अनुसार पुंतत्त्व से माया तत्त्व पर्यन्त विद्याकला की व्याप्ति का आकलन होता है ॥१७१॥

इसमें अर्थात् विद्याकला के अन्तर्गत, १ पुरुष, ५ कञ्चुक और १ माया मिलाकर ७ सात तत्त्व विद्या में आते हैं । कञ्चुक १–नियति, २–काल, ३–राग, ४–विद्या और ५–कला । कुल मिलाकर पाँच ही होते हैं । छठीं माया है । पुरुष के ये छः अन्तरङ्ग हैं । इनसे उनकी अपनी स्थिति का वेदन होता है । अतः विद्या कला के अन्दर आते हैं । कलाओं के नाम भी साभिप्राय रूप से सार्थक हैं । जैसे–

१– तत्त्व सृष्टि जहाँ से निवृत्त हो जाती है, उसे निवृत्ति कला कहते हैं ।

२– जिसमें भोग के हेतु भूत तत्त्व प्रतिष्ठित हैं, वह प्रतिष्ठा कला है ।

तथा–

भुवनसप्तविंशतिरेव च ।

यद्यपि पुमान्नियतिरित्यादिस्तत्त्वक्रमस्तथापि पुंसो लोलिकामयस्य सामान्याभिष्वङ्गात्मना रागेणाव्यभिचारः, किञ्चिद्वेदनात्मको विद्याया नियमनात्मना[1] नियत्या, कर्तृत्वोद्वलनात्मनश्च कलायाः कालेनेति तत्त्वपददीक्षयोः सम्पुटयोगस्य वक्ष्यमाणत्वात्तदनुसारेणैव भुवनेशस्थितिस्तत्र पुरुषरागतत्त्वयोर्विद्येशाष्टकं प्रधानमिति तदधिष्ठितान्यष्टौ भुवनानि, नियतिविद्ययोस्तु वामादिमनोन्मनान्तंभुवनेशनवकाधिष्ठितानि नव, कालकलयोर्महादेवादि-त्रयाधिष्ठितं त्रयम् । एवम् २० । एतत्तत्त्वकारणभूतायां मायायामधोभागे गोपतिरूर्ध्वे विश्वे मध्ये त्रिकालक्षेमेशब्रह्माधिपतिशिवाश्चत्वारः, एतदधिष्ठाता चानन्तः, इति सप्तेति भुवनसप्तविंशतिः ।

३– इसमें वेदन के कारण रूप तत्त्व होते हैं । अतः यह विद्या कला है ।

४– चौथी कला का नाम शन्ता कला है । इसमें समस्त भेदवाद रूपी भेद-प्रथा का उपशम हो जाता है । इसी आधार पर इसे शान्ता कला कहते हैं ।

५– इस शान्ता कला के स्तर को भी अतिक्रान्त करने वाली यह पाँचवी कला शान्त्यतीता संज्ञा से विभूषित की जाती है । इसमें भेदवाद के संस्कार भी शून्य हो जाते हैं । यह स्थिति इस कला की है । साधकों का अनुसन्धान इस विषय पर अपेक्षित है ।

इस विद्या कला में २७ सत्ताइस भुवनों का प्रकल्पन शास्त्र करते हैं । यहाँ एक तथ्य पर ध्यान देना चाहिये कि, पुमान् के बाद नियति तत्त्व का क्रम शास्त्रीय निर्देश के अनुसार निर्धारित है । यह सभी जानते हैं । यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि, पुरुष में लोलिका वृत्ति होती है । परिणामतः उसमें अभिष्वङ्ग रूप रागात्मिका वृत्ति का संस्कार भी होता है । अभिष्वङ्ग के प्रभाव से रागतत्त्व का ही इसमें प्राधान्य हो जाता है । इससे उसमें कोई विकृति नहीं आती ।

वहीं किञ्चिद् वेदनात्मिका विद्या का उस पर प्रभाव भी सर्वविदित है । नियति का काम ही पुरुष का नियमन करना है । कर्तृत्व का ही उद्वलन कला करती है । यही दशा काल की है । काल से तत्त्व और पद दीक्षाओं के योग होते हैं । इनके सम्बन्ध में आगे भी चर्चा होगी ।

उसी के अनुसार भुवन दीक्षा में भुवनेश्वरों की स्थिति का भी आकलन किया जाता है । पुरुष और राग तत्त्वों में विद्येश्वरों के प्राधान्य का निर्देश भी शास्त्र करता

---

१. ख.पु. नियतात्मनेति पाठः ।

तथा–

पदविंशतिराख्याता

दक्षदिग्गतपदनवकाल्लकारान्तं चतुष्टयं पूर्वत्रान्तर्भूतमित्यवशिष्टं प्राग्वन्मादिक्षान्तं पञ्चकम्, तथेशतत्त्वाधिष्ठिताग्नेयकोष्ठ[1]नवकादूकारादिरेफान्तं नवकम्, सदाशिवतत्त्वाधिष्ठितपूर्वदिग्गतान्नवकादूकारादिक्षकारान्तं षट्कमिति पदविंशतिः ।

किञ्च–

वर्णाः सप्त प्रकीर्तिताः ।।१७२।।

आद्याः घान्ताः ॥१७२॥

तथा–

मन्त्रौ द्वौ

अघोरः कवचम् ।

है । इनसे भी अधिष्ठित आठ भुवन मान्य हैं । विद्या और नियति इन दोनों से प्रभावित वामा से उन्मना तक के नव भुवन तथा काल एवं कला से प्रभावित तीन भुवन पृथक् परिचालित हैं । इस तरह इन भुवनों की संख्या बीस हो जाती है ।

इन भुवनों के अतिरिक्त यह ध्यान देने की बात है कि, इन तत्त्वों की कारण- रूप तत्त्व माया ही है । मायाण्ड के अधोभाग में गोपति और ऊर्ध्व भाग में तथा मध्य में त्रिकाल, क्षेमेश और ब्रह्मा तथा इनके अधिपति चार, शिव और इनके अधिष्ठाता अनन्त कुल मिलाकर ७+२०=२७ भुवनों की संख्या विद्या कला में मानी जाती है ।

इसके अन्तर्गत २० पदों की कलना भी शास्त्र करता है । नवनाभ मण्डल के चित्र के अनुसार दक्षिण के नौ पदों से लकार पर्यन्त, चतुष्टय रहित म से क्ष पर्यन्त ५ ईशतत्त्व से अधिष्ठित अग्निकोणस्थ मण्डल में ऊकार से र रेफ पर्यन्त ९ तथा सदाशिवतत्त्वाधिष्ठित पूर्व मण्डल स्थित ऊ से क्ष पर्यन्त पद मिलाकर ५+९+६=२० पद इस कला में माने जाते हैं । इनके साथ ही इसमें वर्णों की संख्या भी सात मानी जाती है । ये वर्ण ञ,झ,ज,छ,च,ऊ और थ हैं । इस तरह विद्याकला में ७ तत्त्व, २७ भुवन सात वर्ण २० पद और अघोर+कवच ये दो मन्त्र इस शास्त्र के अनुसार निर्धारित हैं । मालिनीविजयोत्तर तन्त्र की परिकल्पना से और इस शास्त्र की कल्पना में बड़ा अन्तर स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है[2] ॥१७२॥

इस तरह तत्त्व, कला, भुवन, वर्ण, पद और मन्त्र नामक छः अध्वाओं की पूरी जानकारी मिल जाने पर वागीशी शक्ति का परिकल्पन करना चाहिये ।

---

१. ख.पु. कोणनवकमिति पाठः । २. श्री० त० ११/५२ मा०वि० २/५४ ।

इत्थमत्र–

षड्विधाध्वानं ज्ञात्वा वागीशिकल्पनम् ।

अत्र पूर्वोक्तं स्मारयति–

प्रणवेन समावाह्य व्यापिनीं सर्वयोनिषु ।।१७३।।
समकालमृतुत्वेन ध्यात्वा सम्पूज्य तर्पयेत् ।

किञ्च,

ततः शिवाम्भसा शिष्यं प्रोक्ष्य चास्त्रेण ताडयेत् ।।१७४।।
तेनैव चास्त्रभूतेन हुंफट्कारयुतेन तु ।
आत्मनो रेचकेनैव

गत्वेति शेषः ।

शिष्यदेहे विशेद्धृदि ।।१७५।।

अथास्य पुर्यष्टकरूपम्–

अस्त्रमन्त्रेण संछेद्य विशेषा(श्लेष्या)स्त्रेण कर्षयेत् ।
द्वादशान्तात्तु संगृह्य आत्मस्थं पूर्ववत्कुरु ।।१७६।।
पूरकेणाथ संकुम्भ्य रेचयित्वा तु योजयेत् ।
पूर्ववद्व्यापकं तस्य[1] चैतन्यं सर्वयोनिषु ।।१७७।।
योगाद्यं लयपर्यन्तं धाम्ना चैवात्र पूर्ववत् ।

कुर्यादित्यर्थः ।।१७७।।

इसी तरह पूर्ववत् प्रणव से आवाहित कर समस्त योनियों में व्यापिनी का समकाल ऋतु काल दशा में ध्यान पूजन और तर्पण करना चाहिये । इसके बाद शिवोदक से शिष्य का प्रोक्षण कर अस्त्रमन्त्र से ताडन होना चाहिये । अस्त्रमन्त्र में हुंफट् जाति का प्रयोग होता है, यह विधि है । तत्पश्चात् आचार्य स्वकीय-रेचक की क्रिया करते हुए शिष्य के हृदय में प्रवेश करता है । ध्यान, पूजन, तर्पण, प्रोक्षण, ताडन क्रियायें बाह्य क्रियायें हैं । इन्हें सम्पन्न कर आचार्य शिष्य के हृदय में प्रवेश करता है ।।१७३-१७५।।

शिष्य के हृदय में प्रवेश कर उसके पुर्यष्टक का अस्त्रमन्त्र से छेदन करता है । इसके बाद उसका आकर्षण कर द्वादशान्त पर्यन्त ले जाता है । आत्मस्थ करता है । पूरक से संकुंभन करता है । पुनः रेचन कर शिष्य में समायोजित कर देता है । पुनः पहले की तरह व्यपिनी प्रक्रिया से सभी योनियों में व्याप्ति की प्रक्रिया अपनाता है । इस प्रकार की यह सारी प्रक्रिया योग से लय पर्यन्त पूरी होती है । इसमें धाममन्त्र का सर्वत्र प्रयोग आचार्य करता है ।।१७६-१७७।।

---

१. क.ग.पु. न्यस्येति पाठः ।

विशेषस्त्वत्रायम्–

शिखया शतहोमात्तु विद्याया निष्कृतिर्भवेत् ।।१७८।।

अथास्य विश्लेषपाशच्छेदाभ्यामनन्तरं परेणात्मस्थतत्स्थत्वे कुर्यात् ।।१७८।।

अथ पुर्यष्टकांशार्पणाय–

प्रणवादि ततो रुद्रमावाह्य स्थाप्य [1]पूजयेत् ।
ततोऽस्य विन्यसेद्देवि गन्धरूपे ध्रुवाहुती[2] ।।१७९।।

एवम्–

पुर्यष्टकांशं विन्यस्य विसर्ज्य रुद्रदेवताम् ।
वागीशीं च विसर्ज्यैवं कलासन्धिश्च पूर्ववत् ।।१८०।।

कार्यः ।

कथम् ?

ह्रस्वदीर्घविभागेन विद्यां शान्तौ नियोजयेत् ।
सन्धानार्थं तु मूलेन जुहुयादाहुतित्रयम् ।।१८१।।

अन्त में शिखा मन्त्र से सौ बार आहुति देने से विद्या कला से निष्कृति हो जाती है । निष्कृति क्रिया में विश्लेष और पाशच्छेद के बाद परनिष्कल मन्त्र से आत्मस्थ कर पुनः शिष्य में समायोजित करने की क्रिया आचार्य अपनाता है । इसके लिये शिष्य-शरीरस्थ पुर्यष्टकांश का अर्पण करना अनिवार्यतः आवश्यक है । इसके लिये प्रणवादि मन्त्र से रुद्र का आवाहन प्रतिष्ठापन, पूजन, गन्धार्पण, ध्रुवमन्त्र से तीन आहुतियाँ अर्पित की जाती है ।।१७८-१७९।।

इस प्रकार पुर्यष्टकांश के अर्पण और पूजन के बाद रुद्रदेव का विसर्जन करते हैं । इसके बाद वागीशी का भी विसर्जन कर देते हैं । अब कलाओं की सन्धि का वह क्षण आता है, जब विद्या कला का विसर्जन होता है और शान्ता कला का श्रीगणेश होता है । इसे ही कलासन्धि कहते हैं ।।१८०।।

ह्रस्व और दीर्घ विभाग कलासंधान के अवसर पर प्रयोग में लाया जाने वाला विज्ञान है । शुद्ध कला में ह्रस्व अर्थात् प्रसर की प्रशान्ति में बिन्दु रूप सूक्ष्म और अशुद्ध कला में प्रसरोन्मुखता रूप दीर्घता का बोध रहना चाहिये । यहाँ विद्या कला ह्रस्व हो गयी क्योंकि शुद्ध होने का कारण शान्ता रूप प्रसरोन्मुखता में लीनता होगी । इन दोनों कलाओं की सन्धि का सामरस्य कला संधान के इस अवसर का प्रयोग आचार्य करता है । निवृत्ति कला की शुद्धि और अशुद्ध प्रतिष्ठा की सन्धि की चर्चा के सन्दर्भ में (श्लोक १५३) यहाँ ह्रस्वदीर्घ विभाग का विचार किया गया है ।

---

१. पं.८ ख.ङ.पु. योजयेदिति पाठः । २. ख.पु. ध्रुवाहुतौ इति पाठः ।

[1]सन्धेरनन्तरमध्वोपस्थापनाय–

स्वनाम्नावाहनं शान्तेर्विधिपूर्वं निवेदनम्[2] **।।**

प्रमेयभावनां कृत्वा

तां च–

पूजयेत् कुसुमादिभिः ।।१८२।।

त्रिराहुतिं तु मूलेन

दद्यात् ।।१८२।।

अस्या अध्वान्तरव्याप्तिमाह–

विद्यातत्त्वात्सदाशिवम् ।

तत्त्वानां त्रितये व्याप्तिर्वर्णानां त्रय एव च ।।१८३।।

क-ख-ग इत्यत्र च ।।१८३।।

पदैकादशिका ज्ञेया

पूर्वदिग्गतान्नवकात् क्षान्तस्य षट्कस्य विद्यायामन्तर्भावाद्रेफप्रणवहकारात्मकं त्रयं मध्यमाच्च नवकादूकारादिहान्तमष्टकमिति पदैकादशिका ।

उसी तरह यहाँ भी विद्या की शुद्धि और शान्ता की अशुद्धि का सन्दर्भ है । कलासन्धि के इस सन्दर्भ में शास्त्र आज्ञा दे रहा है कि, आचार्य ह्रस्व-विद्या को दीर्घ शान्ता कला में नियोजित करें । इस सन्धान की सिद्धि के लिये मूलमन्त्र से तीन आहुतियाँ अर्पित करें ।।१८१।।

सन्धि के बाद अध्वा का उपस्थापन करना होता है । उसको उसके अपने नाम से आवाहित करना चाहिये । विधि पूर्वक परिस्थिति का निवेदन आचार्य करता है और उसकी प्रतिष्ठा कर उसमें प्रमेय भावन कर पुष्प गन्ध आदि से उसकी पूजा पूरी करता है । इसके उपलक्ष्य में तीन आहुतियाँ प्रदान करता है ।।१८२।।

यह शास्त्रीय रहस्य है कि, निवृत्ति में ब्रह्मा, प्रतिष्ठा के अधिष्ठाता विष्णु विद्या के अधिष्ठाता रुद्र हैं । अब शान्ता कला की सन्धि में विद्यातत्त्व के अधिष्ठाता रुद्र से शान्ता के अधिष्ठाता सदाशिव भाव में प्रवेश होता है । इस देव-तत्त्व के साथ शान्ता कला तीन तत्त्वों और तीन वर्णों में व्याप्त अनुभूत होती है । ये तीन वर्ण 'क','ख' और 'ग' माने जाते हैं ।।१८३।।

---

१. ख.पु. कलासंधेरिति पाठः ।   २. पं. १७ ख.पु. निवेशनमिति ।

पुराणि दश सप्त च ।

तत्र विद्यायां त्रिगुण्यादीनां विद्याराज्ञीनामेकमीश्वरतत्त्वे त्वैश्वरं भुवनमनन्तादि-शिखण्ड्यन्तविद्येश्वरभुवनान्यष्टौ, धर्मादीनां भुवनानि चत्वारि, वामादिशक्तित्रयभुवन-मेकम्, ज्ञानक्रियाभुवनमेकम्, तस्मिन्नेव च भुवने विद्याद्वयादेः प्रभवद्वादशकपर्यन्तस्यै-कोनषष्टेर्भुवनानामवान्तरो विभागः । वक्ष्यति च–

'एकोनषष्टिर्भुवनं ज्ञानशक्त्यादितः क्रमात् ।' (स्व. १०-११८२)

इत्येवमीश्वरतत्त्वे पञ्चदश भुवनानि । यद्वक्ष्यति–

'दश पञ्च च शोध्यानि भुवनान्यैश्वरे पदे ।' (स्व. १०-११६९)

इति । सदाशिवतत्त्वे सादाशिवमेकं भुवनं ब्रह्माङ्गसकलाद्यष्टकशिवरुद्रभेदावरणगतानन्त-भुवनव्यापकमिति सप्तदश भुवनानि ।

शान्ता कला ग्यारह पदों वाली होती है । इसे गुरु द्वारा जान लेना चाहिये । नवनाभ मण्डल के अनुसार पूर्व दिशा में अवस्थित सदाशिव मण्डल के ऊकार से क्षकार पर्यन्त ये (१ से ६ तक के) छः वर्ण विद्या में अन्तर्भूत हो गये हैं । शेष रेफ, ॐकार ह ये तीन वर्ण ही शान्ता में शेष हैं । इनके अतिरिक्त मध्य मण्डल के वर्णों में से आठ भी शान्ताकला में लिये जाते हैं । जैसे

॥ पूर्व मण्डल ॥

१ ऊ	ओं २	र १
य २	ह ३	क्ष ६
व ३	ल ४	म ५

मध्य मण्डल

१ ऊ	ह ८	र ७
य २	ओं	क्ष ६
व ३	ल ४	म ५

इस मध्य मण्डल के ऊ से लेकर ह पर्यन्त आठ वर्ण शान्ता में परिगणित होते हैं । इस तरह पूर्व के 'र', 'ओं' और 'ह' ये तीन तथा मध्य मण्डल के 'ऊ', 'ह' तक के आठ वर्ण मिलकर ११ वर्ण और ग्यारह पद इस शान्ता कला में आते हैं । वस्तुतः विश्रान्ति प्रद होने के कारण ये वर्ण ही पद माने जाते हैं ।

पदों और वर्णों की गणना के बाद पुरों अर्थात् भुवनों की चर्चा कर रहे हैं । इस शास्त्र के अनुसार इस कला क्षेत्र में १७ भुवन आते हैं । विद्या में त्रिगुणी आदि विद्या राज्ञी शक्तियों का १ भुवन, ईश्वर तत्त्व का ऐश्वर १ भुवन, अनन्त से शिखण्डी पर्यन्त विशेश्वरों के ८ भुवन, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य के ४ भुवन, वामा, ज्येष्ठा और रौद्री के १ भुवन, ज्ञान और क्रिया के १ भुवन , इसी में विद्याद्वय आदि दो प्रभव पर्यन्त अवान्तर ५९ भुवन इन भुवनों की चर्चा इसी शास्त्र के दशवें पटल के ११८२ वें श्लोक में है । वहाँ लिखा है कि, ५९ भुवन ज्ञानशक्ति से क्रमशः

तथात्र–

मन्त्रौ द्वौ

तत्पुरुषास्त्ररूपौ ।

तदत्र–

षट्विधोऽध्वैवं मुख्याः पाशा इमे स्मृताः ।।१८४।।

पूर्ववच्च–

सूक्ष्मपाशाननेकांश्च तदन्तर्भावयेत्सदा ।

अथ–

वागीशीं कल्पयेत्तत्र पूर्वेण विधिनाहुतिः ।।१८५।।
पूजनं मूलमन्त्रेण ततः प्रोक्षणताडनम् ।
छेदाकर्षग्रहं चैव योगधारित्वजन्म[1] च ।।१८६।।
अधिकारस्तथा भोगो लयो वै पूर्ववद्भवेत् ।
सर्वे ते मूलमन्त्रेण आहुतित्रितयेन तु ।।१८७।।

परिगणित हैं। ईश्वर तत्त्व के १५ भुवनों की चर्चा भी वही श्लोक ११६९ में है। सदाशिवतत्त्व में सादाशिव १ भुवन=इस तरह कुल मिलाकर १+१+८+४+१+१+सदाशिव१ मिलकर सत्रह भुवन इसमें परिगणित किये जाते हैं। ये सभी सादाशिव भुवन के समान ब्रह्मा के अङ्गभूत सकलाष्टक, शिव और रुद्र के आवरण गत अनन्त भुवन व्यापक भुवन माने जाते हैं।

इसमें मात्र दो मन्त्र ही परिकल्पित हैं। १–तत्पुरुष और २–अस्त्रमन्त्र। इस प्रकार छः प्रकार के अध्वा इस कला में हैं। ये मुख्य पाश हैं ॥१८४॥

इनके अन्तर्गत अनेकानेक सूक्ष्म पाशों का भी अन्तर्भावन होता है। इसके बाद इसमें भी वागीशी का प्रकल्प आता है। पहले कथनों के अनुसार यहाँ भी आहुतियाँ अर्पित की जाती हैं। मूल मन्त्र से ही शान्ता कला की पूजा होती है। इसके बाद प्रोक्षण और ताडन व्यापार सम्पन्न होते हैं। शिष्य के पुर्यष्टकांश का छेदन, आकर्षण और ग्रहण पूर्ववत् किये जाने चाहिये। समायोजन, जन्म, अधिकार, भोग, लय ये सभी प्रक्रियायें पूर्ववत् पूरी की जानी चाहिये। ये सभी कार्य मूलमन्त्र से और आहुतियाँ भी मूल मन्त्र से की जाती हैं। योग एक प्रकार का समायोजन ही है। इसमें गर्भ में चैतन्य का योग भी सम्मिलित है।

---

१. क.पु. कर्म चेति पाठः।

योगे गर्भेषु चैतन्यस्य, धारित्वं युगपद्गर्भवर्धनम् । यदुक्तम्–

'सर्वयोनिषु गर्भास्ते युगपद्वृद्धिमागताः ।' (स्व. ४-११८) इति ।

सर्वे इति गर्भाधानाद्याः संस्काराः ॥१८७॥

किञ्च,

निष्कृतौ[1] शतहोमं तु कवचेन तु कारयेत् ।

तुशब्दः [2]पूर्वस्माद्विशेषाय ।

विश्लेषं पाशच्छेदं तु कुर्यादस्त्रेण दैशिकः ॥१८८॥

उद्धार[3]करणात्मस्थतत्स्थीकारान्भवेन तु ।

अथ–

स्वनाम्ना प्रणवाद्येन ईशमावाह्य पूजयेत् ॥१८९॥

इसी ग्रन्थ के पटल ४ के ११८वें श्लोक में यह स्पष्ट किया गया है कि, "सभी योनियों में गर्भ और उनकी वृद्धि की प्रक्रिया होती है ।" इस प्रकरण से गर्भ से लेकर सभी जीवन प्रद संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं ॥१८५-१८७॥

जहाँ तक निष्कृति का सम्बन्ध है, इसमें कवच मन्त्र से अष्टोत्तर शत हवन करना चाहिये । इस पद्य में 'तु' अव्यय का प्रयोग किया गया है । इसके प्रयोग का तात्पर्य पूर्व के आदेशों की अपेक्षा इसमें विशेष (शत होम प्रयोग) आदेश के कारण दिया गया है ।

इस सन्दर्भ में विश्लेष और पाशच्छेद की क्रियायें अस्त्रमन्त्र से देशिक सम्पन्न करें । इस अस्त्रमन्त्र के अतिरिक्त भवमन्त्र (सकल भैरव मन्त्र) से उद्धार, करण, आत्मस्थता और पुनः शिष्य के शरीर में स्थापन की सारी प्रक्रिया यथावत् करनी चाहिये ॥१८८½॥

प्रणव पूर्वक अपना नाम ग्रहण करते हुए कहना चाहिये कि अमुक नामक गुरु पद पर विराजमान मैं, भगवन् ईश ! आपका आवाहन कर रहा हूँ । आवाहन करने का संस्कृत में मन्त्र बना लेना चाहिये । इसके बाद विधिवत् पूजन करना भी शास्त्र की आज्ञा के अनुसार विहित है ।

पूजन कर हवन करें । पुनः तर्पण करना चाहिये । इसके बाद बुद्धि और अहंकार जो पुर्यष्टक के दो अंश रूप हैं, इनका आवाहन और पूजन आदि करना चाहिये ॥१८९½॥

---

१. ख.पु. निष्कृतिमिति पाठः । २. ख.पु. तुशब्दो विशेषमाहेति पाठः ।
३. ख.पु. ग्रहणेति पाठः ।

सम्पूज्य हुत्वा सन्तर्प्य[1] बुद्ध्यहंकृतिद्व्यंशकम् ।

अत्र प्रयोगः–

स्वनाम्ना प्रणवाद्यं तु स्वाहान्ते बुद्धिमर्पयेत् ।।१९०।।
अहङ्कारं तथाप्येवं हुत्वेदं क्षमयेत्ततः ।
वागीशीं पूजयित्वा तु तर्पयित्वा विसर्जयेत् ।।१९१।।

यदत्रानुक्तं[2] तत्पूर्वतो योज्यम् ॥१९१॥

अथ–

कलासन्धानकं पूर्वं शान्त्यतीते तु योजयेत् ।
ह्रस्वदीर्घविभागेन

प्राग्वच्छान्ताशान्त्यतीते अनुसन्दधीतेत्यर्थः ।

तदर्थं च–

जुहुयादाहुतित्रयम् ।।१९२।।

एतद्विषयक प्रयोग का निर्देश कर रहे हैं–

'ॐ अनुकनामकोऽहमाचार्यः बुद्धिमावाहयामि, पूजयामि, तस्यै स्वाहा' कह कर बुद्धि के लिये आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिये । आहुतियों की संख्या का उल्लेख यहाँ नहीं है । कम से कम तीन आहुतियाँ तो दी ही जानी चाहिये यही विधि अहङ्कार के लिये भी अपनानी चाहिये । हवन बाद क्षमापन की प्रक्रिया अपनायी जाती है । तदनन्तर वागीशी की पूजा कर उसका तर्पण करना चाहिये । इस सन्दर्भ में जो कुछ नहीं कहा गया है, जैसे हवन की बात का उल्लेख नहीं है, उसे भी पूर्ववत् पूराकर देना चाहिये ॥१९०-१९१॥

यहाँ शान्ता कला की प्रक्रिया पूरी होती है । इसके बाद शान्त्यतीता कला का क्रम आता है । दोनों कलाओं की सन्धि स्वाभाविक है । उसको कला-सन्धानकप्रक्रिया कहते हैं । इसे सम्पन्न कर शिष्य को शान्त्यतीता से योजित करना चाहिये । पूर्ववत् ह्रस्व दीर्घ की क्रिया पूरी करना भी आवश्यक है । इन दोनों स्थितियों का आकलन गुरुदेव स्वयं करते हैं और दोनों की अनुसन्धित्सा को कार्य रूप में परिणत करते हैं । इसके लिये तीन आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिये ॥१९२॥

---

१. क. ग. पु. तस्यार्प्यमिति पाठः । २. घ. ङ. पु. अनुयुक्तमिति पाठः ।

अथ–

ध्रुवेण तत्त्वसन्धानं कर्तव्यं विधिवेदिना ।

पूर्ववत्प्रणवधामशान्त्यतीताबीजोच्चारपूर्वं 'शान्त्यतीतायै नमः' इति प्रयोगः स्मर्तव्यः । तत्त्वमत्र[1] प्रकृता शान्त्यतीता, विधिवेदिना व्याप्तिज्ञेन ।

किञ्च–

कलोपस्थापनं पश्चाद्ध्रुवेण जुहुयात्प्रिये ।।१९३।।
त्रिराहुतिप्रयोगेण स्वनामपदमुच्चरन् ।
शान्त्यतीतां समावाह्य स्थापयेत्पूजयेत्पुनः ।।१९४।।
व्याप्तिमालोक्य चाध्वस्थां

तामेव स्पष्टयति–

शिवतत्त्वगताश्च ये ।

पदार्थास्तेऽनुसन्धेया अत्रेत्यर्थः ।

विधिवेत्ता आचार्य द्वारा ध्रुव मन्त्र के सहपरिवेश में तत्त्वों का अनुसन्धान अध्वाओं की शुद्धता को उद्बुद्ध करता है । इसके लिये प्रणवमन्त्र+धाममन्त्र शान्त्यतीता बीज मन्त्र का उच्चारण कर शान्त्यतीतायै नमः इस प्रयोग को सम्पन्न करना चाहिये । आचार्य क्षेमराज तत्त्व सन्धान को मात्र शान्त्यतीता से ही क्यों जोड़ रहे हैं ? यह प्रश्न यहाँ उठता है । वस्तुतः तत्त्व सभी अध्वा भी माने जाने चाहिये । जो शान्त्यतीता कला के क्षेत्र में आते हैं । जैसे पद, मन्त्र, वर्ण, तत्त्व, भुवन आदि । विधि वेत्ता शब्द भी आचार्य के लिये ही प्रयुक्त है ।

भगवान् शङ्कर कह रहे हैं कि,

प्रिये ! कला का उपस्थापन यहाँ सर्व प्रथम मुख्य रूप से करना चाहिये । उपस्थापन परिचर्या की तैयारी को कहते हैं । इसमें आवाहन के पहले का स्मरण और स्थान की तैयारी कर ली जाती है । यहाँ उपस्थापन के साथ ही तीन आहुतियाँ भी देय हैं । इसके लिये ध्रुवमन्त्र का प्रयोग करना चाहिये ।।१९३।।

तीन आहुतियों का प्रयोग, पुनः अपने नाम और पद का उच्चारण करते हुए शान्त्यतीतामावाहयामि स्थापयामि पूजयामि नमः का प्रयोगात्मक उच्चारण करना चाहिये । इसी सन्दर्भ में तत्त्व-व्याप्ति की वास्तविकता का अनुसन्धान करना चाहिये ।।१९४।।

वे कौन पदार्थ हैं, उनका कथन कर रहे हैं । वे पदार्थ हैं–१–बिन्दु, २–नाद, ३–शक्ति । ये तीन पदार्थ शिवतत्त्व में ही व्यवस्थित हैं । यह ध्यान देने की

---

१. क.ग.पु. तत्त्वमन्त्रेति पाठः ।

तानाह–

बिन्दुर्नादस्तथा शक्तिः शिवतत्त्वे व्यवस्थिताः ।।१९५।।

शिवतत्त्वं समनाव्याप्त्यन्तमिहेति तच्छोध्यमेव । बिन्दुनादशक्तयोऽत्र गर्भीकृतवक्ष्य-माणषोडशभुवना मुख्यान्यावरणानि ।।१९५।।

किञ्च–

पदमेकं मन्त्र एको वर्णाः षोडश कीर्तिताः ।
भुवनानि तु सूक्ष्माणि शान्त्यतीते तु भावयेत् ।।१९६।।

पदं मध्यकोष्ठनवकमध्यगत ओंकारः, मन्त्र ईशानभट्टारको धामत्रयमय[१]नेत्र-मन्त्राभिन्नमूर्तिः, वर्णा विसर्गाद्या अकारान्ताः षोडश, भुवनानि भूमिकात्मकप्रमेयमात्र-रूपत्वात् सूक्ष्माणि, न तु सन्निवेशवन्ति, तानि च षोडश । तद्यथा–बिन्द्वावरणे निवृत्त्यादिकलाचतुष्कपरिवृतं शान्त्यतीताभुवनमेकम्, ततोऽर्धचन्द्रनिरोधिकाभुवने द्वे निजनिजकलापञ्चकपरिष्कृते, नादावरणे पुनरिन्धिकादिशक्तीनां स्वशक्तिमदधिष्ठितानां पञ्च भुवनानि, नादान्ते सुषुम्णेशपरब्रह्माधिष्ठितमेकं भुवनम्, शक्त्यावरणे तु सूक्ष्मादिशक्तिचतुष्कपरिष्कृतं पराशक्तिभुवनमेकम्, ततोऽपि व्यापिनीभूमौ व्याप्यव्योम-[२]रूपानाथानन्तानाश्रितानां पञ्च भुवनानि, ततोऽपि समनायां महामायारूपायां तच्छक्तिमारूढः पञ्चविधकृत्यकारी शिव इति ।

बात है कि, शिवतत्त्व समनाव्याप्ति पर्यन्त है । यह भी शोध्य है । बिन्दु, नाद और शक्ति ये तीनों षोडश भुवनों को अपने गर्भ (मध्यान्तराल) में धारण करते हैं । इसीलिये ये भुवनों के प्रमुख आवरण माने जाते हैं । गर्भ के चारों ओर झिल्लियों का आवरण होता है । यह सभी जानते हैं ।।१९५।।

इस शान्त्यतीता कला में १एक पद, मन्त्र१ वर्ण १६ और अनाम सूक्ष्म भुवन हैं, यह माना जाता है । नवनाभ मण्डल में तत्त्वों की अवस्थिति को ध्यान में रखते हुए इसका आकलन इस प्रकार करना चाहिये ।

पद– मध्यकोष्ठ में आये नौ वर्णों के मध्य अक्षर ॐकार आता है । यही एक पद शान्त्यतीता कला में गृहीत है ।

मन्त्र– ईशान भट्टारक तीन धाम मयनेत्र मन्त्र से अभिन्न माने जाते हैं । अतः इसमें पृथक् किसी मन्त्र का प्रकल्पन नहीं किया जाना चाहिये ।

वर्ण– विसर्ग से लेकर अकार पर्यन्त सोलह माने जाते हैं । ये स्वरात्मक सभी वर्ण इसमें हैं ।

---

१. क.पु. नेत्राभिन्नेति पाठः । २. क.पु. समावेशेति पाठः ।

नन्विह मन्त्राणां शोधकानामपि कथं शोध्यत्वमुक्तं तथात्वे वा कस्य तच्छोधकत्वं मूलमन्त्रस्यापि च मन्त्रत्वाच्छोध्यत्वप्रसङ्गः, निवृत्त्यादिवच्च शान्त्यतीतायामप्यङ्गमन्त्रः किं नोक्तः ? निवृत्तिशान्त्यतीतयोर्मूलेन निष्कृतिहोमः प्रतिष्ठाविद्याशान्तानां शिरःशिखाकवचैर्निवृत्तौ विश्लेषो मूलेनान्यत्र हृदयेनापरत्रास्त्रेणेति कोऽयं क्रमः ? अत्रोच्यते–इह मन्त्राः [1]शिवावेशशालिनो वीर्यविदो गुरोर्निजशक्तिसारतया स्फुरन्तः शोधकाः, पशूनां तु गूहितस्ववीर्याः स्वस्वरूपावरणतया तिष्ठन्तः शोध्या एव, ते चाङ्गवक्त्रभेदादेकादश, मूलमन्त्रस्तु–

भुवन– भुवन स्थूल प्रमेय के स्थूल रूप है । इस सर्वोर्ध्व कला में सूक्ष्मता की ही व्याप्ति होती है । सूक्ष्म प्रमेय भूमि में भुवन के परमाणु यहाँ भले हों किन्तु उनकी संख्या शून्य ही मानी जाती है । शून्य का तात्पर्य अत्यन्त सूक्ष्म प्रमेय की वह आदि अवस्था है, जहाँ आत्यन्तिक सूक्ष्मता होती है । कुल ११८ भुवन होते हैं । निवृत्ति में १६+प्रतिष्ठा ५६+विद्याा में २८+शान्ता१८ कुल मिलाकर ११८ पूरे हो जाते हैं । अतः इसमें भुवन नहीं होते ।

आचार्य क्षेमराज के समक्ष श्रीमालिनीविजयोत्तर तन्त्र तथा श्रीतन्त्रालोक के रचयिता महामाहेश्वर श्रीमदभिनवगुप्त, जो इनके गुरु भी थे, उन दोनों की मान्यतायें हैं । इधर ये जिस शास्त्र की व्याख्या कर रहे हैं, इसकी मान्यता भी है । श्रीमालिनीमत के अनुसार शान्त्यतीता में भुवनों की वह स्थिति है, जिन्हें इकाई के रूप से गिना जाय । अतः शून्य मानना ही उचित है ।

यहाँ सूक्ष्म मानते हुए भी उनकी संख्या के सम्बन्ध में निर्देश है । जैसे–

१– बिन्दु आवरण में निवृत्त्यादि कला चतुष्टय से परिवृत शान्त्यतीता में भुवन संख्या १एक है ।

२– अर्धचन्द्र और निरोधिका के दो २ भुवन हैं । इनमें अवस्थित पाँचों कलाओं से ये दोनों परिष्कृत होते हैं ।

३– नाद आवरण में इन्धिका आदि शक्तियों और इनके शक्ति मन्त्रों से अधिष्ठित ५भुवन माने जाते हैं ।

४– नादान्त में सुषुम्णाशक्ति के अधिष्ठाता सुषुम्णेश नामक परब्रह्मात्मक शक्तितत्त्व का एक भुवन माना जाता है ।

५– शक्ति के आवरण में सूक्ष्म आदि चार आन्तर तत्त्वों से परिस्कृत पराशक्ति रूप एक भुवन की प्रकल्पना की जाती है ।

---

१. क.पु. समावेशेति पाठः ।

'स्वयमुच्चरते देवः' (स्व. ७-५९)
इति वक्ष्यमाणस्थित्या नादामर्शपरमार्थतया सर्वस्य स्फुरतीति नास्य शोध्यत्वम्, केवलमकारादिसमनान्तप्रमेयैकादशकमत्र सूक्ष्मरूपतया गर्भीकृतमन्त्रैकादशिका-स्फारमित्यारुरुक्ष्वाशयेन विश्लेषणक्रमयुक्त्यांशांशिकाभिप्रायात् ।

६–इससे भी उच्च व्यापिनी भूमि पर १–व्याप्य २–व्योमरूप, ३–अनाथ ४–अनन्त और ५–अनाश्रितों के पाँच भुवन माने जाते हैं ।

७– इससे भी ऊर्ध्व समना भूमि जिसे हम महामाया भूमि के रूप में स्वीकार करते हैं, उस महामाया शक्ति पर आरूढ पञ्चविधकृत्यकारी शिव का शैव लोक उल्लसित है ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि, मन्त्र स्वयं शोधक होते है । इन्हें भी शोध्य की श्रेणी में रखना तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता । यदि ऐसा मान भी लिया जाय, वह कौन उपादान हो सकेगा, जिससे इन्हें शुद्ध किया जा सकेगा ? मूलमन्त्र को भी शोधक श्रेणी में इसलिये नहीं रखा जा सकता क्योंकि मन्त्रत्व तो उसमें भी है और मन्त्र को पहले ही शोध्य श्रेणी में डाल दिया गया है ?

एक दूसरी समस्या और भी सामने है । निवृत्ति आदि कलाओं की तरह शान्त्यतीता कला में भी अङ्गमन्त्र की कल्पना को मान्यता न देने का तर्क थोथा है । वस्तुतः यहाँ भी मन्त्र का अस्तित्व स्वीकार्य है ।

तीसरी समस्या तो और भी विषम है । निवृत्ति और शान्त्यतीता कलाओं की निष्कृति के लिये होम मूलमन्त्र से करने का विधान है । वहीं प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ता कलाओं का होम शिरः, शिखा और कवच मन्त्रों से किया जाने का विधान निर्दिष्ट है ।

चौथी बात निवृत्ति कला में विश्लेष मूल मन्त्र से और अन्य कलाओं में हृदय मन्त्र से करने को कहा गया है और कुछ में अस्त्रमन्त्र से कहा गया है ? इन चार प्रकार की व्यतिक्रम युक्त उक्तियों का क्या उद्देश्य और तात्पर्य है ?

इन सभी तत्त्वों का समाधान इस प्रकार से किया जा सकता है–

वस्तुतः शैवसमावेश ग्द्धि मन्त्रवीर्य के प्रज्ञावन्त विशेषज्ञ जितने गुरुवर्य होते हैं, उनकी स्वात्मशक्तिसार रहस्यमयी स्फुरत्ता से स्फुरित जितने मन्त्र होते हैं, वे मन्त्र ही शोधक मन्त्र कहे जा सकते हैं । इसके विपरीत सामान्य स्तर पर आणव समावेश सिद्ध और मन्त्रवीर्य बोध से अनभिज्ञ गुरुजनों के मन्त्रवीर्य और स्वयं गुरुजनों के ज्ञान भी गूहित होते हैं । इसका कारण यह होता है कि, इनके स्वात्म स्वरूप पर

'अक्षरेषु कुतो मोक्ष आकाशे कुसुमं कुतः ।' (स्व. ७-२३८)

इति मूलमन्त्रविषयमुक्तम् । तत्तद्वाच्यभागाभिप्रायेण च-

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।' (स्व. ४-४३२)

इत्युक्तम् । वस्तुतस्त्वशेषविश्वाभेदमयो नित्योदितानुच्चार्यमहाविमर्शरूप एवायं निष्कलनाथस्तदभिन्नमूर्तिः सकलोऽपि वेति नास्य कदाचिदपि शोध्यत्वं शङ्कितव्यम् । शान्त्यतीतायां च नामानुरूपत्वादेव न पृथगङ्गमन्त्रः सम्भवति । धामत्रयात्मनेत्र-मन्त्रस्तु ईशानमन्त्राभिन्नमूर्तिरवश्यमनुप्रविष्टोऽन्यथा मन्त्रैकादशिका न शोधिता[1] स्यात्

आवरणों का काष्र्य अपनी कलुषता का कलङ्क उपलिप्त करता रहता है । ऐसे लोगों के मन्त्र भी आणव भाव की अणुता के आवरण से ग्रस्त रहते हैं । फलतः शोध्य हो जाते हैं । ये अङ्गवक्त्र भेद से ग्यारह माने जाते हैं ।

जहाँ तक मूलमन्त्र का प्रश्न है, इसके विषय में इसी तन्त्र के ७/५९ में कहा गया है कि,

'देव स्वयम् उच्चरित होता है' अर्थात् नाद विमर्शमय स्पन्दात्मक स्फुरण रूप परमार्थ का जो निहितार्थ है, वही संवित् शक्ति का गुण है । यह परमशिव का स्वभाव है । वह स्वयम् उच्चरित क्रिया का क्रियावान् है । और वही उच्चार, वही आदि देव का विमर्श रूप स्फुरण मूल मन्त्र कहलाता है । यह शोधक होता है । इसमें शोध्यत्व नहीं होता । केवल अकार से समना केन्द्र पर्यन्त एकादश प्रमेय सूक्ष्म रूप से इसमें आकाशीय स्पन्द रूप से उल्लसित रहते हैं । ये ग्यारह क्रमशः १-अ, २-उ, ३-म, ४-बिन्दु, ५-अनुनासिक (अर्धचन्द्र) ६-निरोधिनी, ७-नाद, ८-नादान्त, ९-शक्ति, १०-व्यापिनी, और ११-समना रूप प्रमेय हैं । इनमें क्रमशः एकादश मन्त्र भी स्फुरित रहते हैं । साधकों की उच्च श्रेणी को आरुरुक्षु कहते हैं । क्रमशः आरोह क्रम से उत्कर्ष के पथ पर अग्रसर साधक ही आरुरुक्षु कहलाता है । इस उत्कर्ष क्रम में गतिशीलता के कारण एक एक पड़ाव छूटते चले जाते हैं । आगे आगे के केन्द्रों का सम्पर्क होता रहता है । पड़ाव का छूटना ही विश्लेष है । यह अंशांशिका क्रम से ही सम्पन्न होने वाली प्रक्रिया है ।

इसी शास्त्र के पटल ७/२३८ की उक्ति इस प्रक्रिया का समर्थन करती है । इसके अनुसार अक्षर मात्र के उच्चार से ही मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती । उसे प्राप्त करने के लिये मन्त्र के मर्म में स्फुरित चेतना के आधार बिन्दुओं से समुत्थित प्रकाश-पथ पर चलना भी आवश्यक है । इस तरह मूलमन्त्रात्मक देवोच्चार के ऊर्ध्व का सहज स्पर्श हो जाता है । अन्यथा कल्पना आकाश कुसुम हो जाती है ।

---

१. ख.पु. शोध्येति पाठः ।

'मन्त्रा एकादश ज्ञेयाः ।' (स्व. ४-२०१)

इति च भाविवाक्यमसंगतं स्यादत एवास्त्रमन्त्रस्ताडनादावेवोपयुङ्क्ते[1] । नेत्रमन्त्रस्तु मूलमन्त्रादभिन्न इति न तौ कलान्तःशोध्यौ, इत्येकीयमतमसत्[2] । यस्तु निष्कृत्यादि-होमेषु मन्त्रनियम उक्तस्तत्रेश्वराज्ञैव नियन्त्रिकेति सर्वमनवद्यम् ॥१९६॥

यह ध्यान में रखने की बात है कि, मूल मन्त्रों का यही महत्त्व है । उन उन मन्त्रों के वाच्य-भाग से सम्बन्धित तथ्यों को इसी शास्त्र के श्लोक ४/४३२ में यह स्पष्ट लिखा गया है कि,

'समना पर्यन्त अनन्त पाशों का जाल विछा हुआ है ।'

यहाँ पाशजाल शब्द का प्रयोग मात्र वाच्य भाग के अभिप्राय से ही प्रयुक्त है । यह ध्रुव सत्य तथ्य है कि, जो वाच्य है, वह शोध्य भी होता है ।

जहाँ तक अशेष विश्व की अभेद अद्वय भावमयता से ओतप्रोत नित्योदित अनुच्चार्य विमर्शरूप निष्कल नाथ और उनसे नित्य अभिन्नमूर्त्ति सकल भैरव देव का प्रश्न है, इस स्वरूप में शोध्यत्व की प्रकल्पना भी नहीं की जा सकती । शान्त्यातीता कला में शान्ता को अतिक्रान्त कर जाने के कारण ही पृथक् मन्त्र की सम्भावना नहीं होती है । हाँ, नेत्र मन्त्र तीनों धामों को आत्मसात् करता है और ईशान मन्त्र से अभिन्न मूर्त्ति रूप भी माना जाता है । परिणाम स्वरूप शान्त्यतीता भूमि में इसका अनुप्रवेश उसके अनुरूप होने के कारण स्वीकार्य है । इसी के फलस्वरूप तन्त्र का मन्त्रैकादशिका सिद्धान्त भी चरितार्थ, अशोध्य और सार्थक होता है ।

इस पटल के श्लोक २०० में यह स्पष्ट उल्लेख है कि,

'मन्त्र ग्यारह हैं, यह जानना चाहिये ।' इस आदेश वाक्य से स्पष्ट हो जाता है कि, शान्त्यतीता कला में भी एक मन्त्र होता है । यदि यह बात नहीं मानेगें, तो उक्त श्लोक २०० की बात भी असत् होने लगेगी । इस तरह अस्त्रमन्त्र को ताडन आदि की क्रिया में ही प्रयोक्तव्य मन्त्र मानना चाहिये ।

नेत्र मन्त्र मूलमन्त्र से अभिन्न होता है । अतः कला प्रकरण में उसका भी शोधन नहीं करना चाहिये । इस आधार पर यह एक पक्षीय मत अमान्य हो जाता है । निष्कृति होम के प्रकरण में मन्त्र के नियम कुछ अलग ही हैं । वे ईश्वराज्ञा से नियन्त्रित हैं । यह मान लेना ही उचित है । इस मान्यता को मान लेने से सारे व्यवहार और सारी विप्रतिपत्तियाँ शान्त हो जाती हैं ॥१९६॥

---

१. ख.ग.पु. उपयुक्त इति पाठः । २. ख.ग.पु. मतमसमञ्जसमिति पाठः ।

त एते सर्व एव पाशाः–

शोधनीया वरारोहे

वर उत्कृष्ट ऊर्ध्वद्वादशान्तविश्रान्तिरूप आरोह उल्लासो यस्याः शक्तेः ।

तावच्चैते शोध्याः–

यावत्ते शिवरश्मयः ।

निरवशेषभेदोपशान्त्या शिवस्य रश्मिरूपा अभिन्नप्रभामात्रात्मानः संपद्यन्ते इत्यर्थः ।

अत एव–

शिवस्योर्ध्वे शिवो ज्ञेयो यत्र युक्तो न जायते ।।१९७।।

उत्तीर्णशिवतत्त्वो[१]परि विश्वोत्तीर्णविश्वमयचिदानन्दघनस्वच्छन्दभट्टारको यत्र वक्ष्यमाणयोजनिकाक्रमेण युक्तो न जायते मुच्यत इत्यर्थः ।।१९७।।

इस तरह अन्य कई विप्रतिपत्तियों को शान्त करने के बाद यह अन्तिम निर्णय सामने आता है कि, समनान्त पाशजाल का शोधन होना चाहिये । ऊर्ध्व द्वादशान्त पर्यन्त उल्लसित और उसी में विश्रान्त आरोह रूपी उल्लास उसी विमर्श शक्ति का रहता है । उसे ही वरारोहे रूप से सम्बोधित करते हुए भगवान् कहते हैं कि, देवि ये सभी पाशजाल अवश्य शोधनीय हैं ।

यह भी ध्यान देने की बात है कि, इनका शोधन तब तक होना चाहिये, जब तक ये शिवरश्मि रूप में परिणत न हो जाँय । निरवशेष रूप में जब तक भेद की शान्ति न हो जाय । वे मन्त्र तब तक शोध्य हैं, जब तक वे मन्त्र शिवरश्मि रूप न हो जाँय । उस समय प्रमातृता से अद्वयभावमयी तादात्म्य की चमक से मन्त्र दीप्त हो उठते हैं ।

इसलिये यह कहा जा सकता है कि, शिव तत्त्व के ऊर्ध्व भाग में शिव ही सम्यक् रूप से उल्लसित हैं । उस स्थिति से युक्त होने वाले साधक का पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् उसकी मुक्ति हो जाती है । यहाँ शिव के ऊर्ध्व में भी शिव की स्थिति की बात कही गयी है । साधक शिवता की स्थिति में यह अनुभव करता है । विश्वो-त्तीर्ण शिव का यह उत्कृष्ट रूप है । विश्वमय शिव का भी एक अलग स्तर है । चिदानन्दघन शिवरूप स्वच्छन्द उसी ऊर्ध्व स्तर के तत्त्व हैं । साधक योजनिका द्वारा इसमें युक्त हो जाता है ।।१९७।।

---

१. ख.पु. तत्त्वस्येति पाठः ।

अत एवास्य यावान् कलापञ्चकान्तः प्रपञ्चितः, स सर्व एव–

षडध्वा चैकतो ज्ञेयः

एकस्मिन् परमशिवात्मन्यभेदेनावस्थितस्तत्सामरस्यमापन्नो ज्ञातव्यो गुरुणा साकल्येन संकल्पितः ।

कियानसावध्वा यो दीक्ष्यस्य शिवैकात्म्यं[1] प्राप्त इति दर्शयितुमाह–

तस्य संख्यां पुनः शृणु ।
कलाश्च पञ्च विज्ञेयास्तत्त्वषट्त्रिंशदेव तु ।।१९८।।
सचतुर्विंशति ज्ञेयं भुवनानां शतद्वयम् ।
एकाशीतिपदान्यत्र वर्णार्धशतिका स्मृता ।।१९९।।
मन्त्रा एकादश ज्ञेया इत्येतच्चाध्वमण्डलम् ।
एतस्मिञ्शुद्धिमापन्ने मुक्तिमाप्नोति दीक्षितः ।।२००।।

शुद्धिरस्य परमशिवाभिव्यक्तिरित्युक्तम् ॥२००॥

इसलिये सिद्धान्त रूप से यह मान्य है कि, भगवान् शिव का यह जितना कला पञ्चक पर्यन्त प्रपञ्च है, वह सारा का सारा षडध्व दृष्टि से भी परशिव में ही अभेद-अद्वय भाव से अवस्थित है । एक ओर यह सारा प्रपञ्च और दूसरी ओर षडध्व क्रम, ये दोनों शिवात्मक ही हैं । शिव सामरस्य से समापन्न यह सब कुछ गुरुदेव के संकल्प से सिद्ध ज्ञात तथ्य है ।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, कौन वह अध्वा है, जो दीक्ष्य से शिवैकात्म्य रूप से एकत्व प्राप्त कर समुल्लसित होता है ? इसी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं–

अध्वा विषयक संख्याओं के सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि, कलायें पाँच हैं, यह प्रसिद्ध है । सारे तत्त्व ३६ हैं, यह तथ्य भी सभी आगमों में वर्णित है । भुवनों की कुल संख्या दो सौ चौबिस है । देवी शक्ति एकासी पदों वाली मानी जाती है । वर्णमाला (मातृका) पचास मानी जाती है । कुल मन्त्र ग्यारह ही माने जाते हैं । यह अध्व मण्डल का मान है । इन सबकी अर्थात् कलाओं, तत्त्वों, भुवनों, वर्णों, और मन्त्रों की शुद्धि से समन्वित दीक्षित शिष्य अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है । वस्तुतः परशिव की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति को ही शुद्धि कहते हैं । शुद्धि के होने की अवस्था ही मुक्ति की अवस्था है । सारा बोधात्मक प्रकाश इस समय मोक्ष रूप में खिल उठता है अर्थात् मुक्ति प्रकाशमान हो उठती है ॥१९८-२००॥

---

१. ख.पु. शिवात्मैक्यमिति पाठः ।

एवं प्रासङ्गिकमध्वशुद्धिग्रन्थमभिधाय प्रकृतमाह-

ध्रुवेणावाह्य वागीशीं विन्यसेत् पूर्ववद्भुतिः ।

तदर्थम्-

सम्पूज्य कुसुमाद्यैस्तु तद्योनौ पूर्ववत्पशुम् ।।२०१।।

योजयेदिति शेषः ॥२०१॥

किञ्च,

ध्रुवेण सर्वं कर्तव्यं जननादिलयान्त[1]कम् ।
निष्कृतौ शतहोमं तु मूलमन्त्रेण कल्पयेत् ।।२०२।।
विश्लेषपाशच्छेदाभ्यां प्राग्वत्कुर्याद्ध्रुवेण तु ।

छेदाभ्यामिति तादर्थ्ये । तेन विश्लेषाद्यर्थं प्राग्वत् कुर्यात्, हुत्यादिकर्मे-त्यर्थः ॥२०२॥

किञ्च,

ग्रहेणा[2]त्मस्थतत्स्थत्वं प्रणवेन पशोः स्मृतम् ।।२०३।।

प्रणवो निष्कलनाथः ॥२०३॥

अध्व शुद्धि की प्रसङ्ग प्राप्त चर्चा के उपरान्त पशु अर्थात् शिष्य की दीक्षा से सम्बन्धित मुख्य विषय का निर्देश करते हुए भगवान् भैरव भट्टारक कह रहे हैं कि, कुण्ड में वागीशी का आवाहन योनि भाग में करना चाहिये । आवाहन कर उसका वहीं विन्यास करना इस प्रक्रिया का मुख्य अंग है । इसके लिये पहले की तरह तीन आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिये । तत्पश्चात् पुष्प, गन्ध, दीप और नैवेद्य आदि से उसकी पूजा कर शिष्य को संस्कार सम्पन्न बनाने के लिये योनि से योजित करने का आदेश शास्त्र देता है ॥२०१॥

तत्पश्चात् गुरु क्रमशः जनन संस्कार से लेकर अन्त्य संस्कार पर्यन्त सभी संस्कारों को सम्पन्न करावें । अन्त में निष्कृति के अष्टोत्तरशत हवन की प्रक्रिया पूरी करें । ये उक्त संस्कार ध्रुव मन्त्र से और निष्कृति होम मूल मन्त्र से करें ॥२०२॥

निष्कृति, विश्लेष और पाशच्छेद गुरुद्वारा प्रयुक्त ऐसी क्रियायें हैं, जिनसे शिष्य का स्वभाव शैव महाभाव में योजित करने योग्य हो जाता है, अर्थात् शिष्य के अस्तित्व का परिष्कार कर योजित करने योग्य हो जाता है । इस दशा में विश्लेष और पाशच्छेद के लिये पहले की तरह ही ध्रुव मन्त्र से आहुतियाँ दी जानी चाहिये । इस सन्दर्भ में 'स्व' में स्थित शिष्य को तत्स्थ अर्थात् शैव महाभाव से भावित स्थिति में योजित करने की गुरुद्वारा निर्धारित प्रक्रिया को प्रणवमन्त्र से ही सम्पन्न करना चाहिये ॥२०३॥

---

१. ख.पु. न्तगमिति पाठः । २. ख.पु. ग्रहणात्मेति पाठः ।

सदाशिवमथावाह्य मूलमन्त्रं समुच्चरन् ।
नमस्कारेण संस्थाप्य पुष्पैः संपूज्य तर्पयेत् ।।२०४।।
मनः पुर्यष्टकांशं तु विन्यसेत्कारणेश्वरे ।

कथमित्याह–

प्रणवादि समुच्चार्य मनःसंज्ञां नम[1]स्तथा ।।२०५।।
विन्यस्य पूजयेत्पश्चात्संज्ञास्वाहान्तमेव च ।

प्रणवधामभ्यामनन्तरं 'मनो देवदत्तस्यार्पयामि नमः' इति मन्त्रप्रयोगः, होमे तु स्वाहेत्यन्तः । संज्ञास्वाहान्तमिति क्रियाविशेषणम् ॥२०५॥

अत्र च–

आहुतित्रितयं हुत्वा पुर्यष्टांशाद्विशुद्ध्यति ।।२०६।।
ततो विसर्जयेद्देवं कारणं च सदाशिवम् ।
पुष्पादिभिः समभ्यर्च्य वागीशीं तदनन्तरम् ।।२०७।।

इसके बाद अथ का प्रयोग इस सन्दर्भ को महत्त्व प्रदान करता है । आत्मस्थ शिष्य का इदम्भाव है और ततस्थ शिष्य का शुद्ध अहम् भाव है । यह साधना का ईश्वर स्तर है । इस भाव से ऊपर उठकर अहम् इदम् भाव में प्रवेश का संकेत अथ अव्यय दे रहा है । इदं भाव के तनुता को प्राप्त हो जाने पर अहन्ता की मुख्यता में सदाशिव का आवाहन गुरु कर रहा है । इसमें मूल मन्त्र का ही उच्चारण किया जाना चाहिये । नमस्कार रूप तादात्म्य भावन की स्थिति में प्रतिष्ठित कर सदाशिव की पुष्प आदि से पूजा करनी चाहिये । सदाशिव भाव कारणेश्वर भाव है । इसमें मन और पुर्यष्टक का विन्यास हो जाता है । ॥२०४॥

विन्यास के प्रकार की चर्चा करते हुए कह रहे हैं कि, प्रणव का आदि उच्चारण करने के बाद मन की संज्ञा के साथ नमः का प्रयोग करना चाहिये । नमः के पहले विन्यसामि या अर्पयामि का प्रयोग आवश्यक है । मन के साथ पुर्यष्टक का भी उच्चारण होना चाहिये । 'ओम् (धाममन्त्र) शिष्यस्य मनः पुर्यष्टकमर्पयामि विन्यसामि नमः' मन्त्र का प्रयोग विन्यास के समय करना चाहिये । जब हवन करना हो तो अन्त में स्वाहा का प्रयोग करना चाहिये । संज्ञा स्वाहान्तम् यह पूजयेत् क्रिया का क्रिया विशेषण शब्द है । यह ध्यान देने की बात है कि, तीन आहुतियों से पुर्यष्टकांश का शोधन हो जाता है । यह विशुद्धिकरण शिष्य के उत्कर्ष के लिये अनिवार्यतः आवश्यक है ॥२०५-२०६॥

इसके बाद कारणेश्वर सदाशिव का विसर्जन कर देते हैं । इस सन्दर्भ में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि, विसर्जन के पहले सदाशिव का एक बार फूल आदि से पूजा के बाद वागीशी की भी पूजा करनी चाहिये ॥२०७॥

---

१. ख.पु. मन इति पाठः ।

[1]ता तु सम्पूज्य सन्तर्प्य विज्ञाप्या भक्तिभाविता ।
क्षमस्व देवदेवेशि पश्वर्थं खेदिता मया ।।२०८।।
इदानीं नोपरोद्धव्यं गच्छ देवि स्वविष्टपम् ।

सर्वदीक्षान्त इयं विज्ञप्तिः कार्येति विशेषद्योतनाय तुशब्दः, खेदनं भूयोभूयः परस्वरूपाद्गर्भाधानाद्यर्थमवतारणम्, नोपरोद्धव्यमिति अस्य दीक्षितस्येदानीं त्वया नोपरोधेन स्वरूपावरणं कार्यमिति यावत् । अत एव स्वविष्टपं दीक्षितस्य परमशिवात्मस्वात्मस्वरूपमधिकरणं गच्छ तन्मयतयास्य सदा स्फुरेत्यर्थः । अत एव श्रीस्पन्देऽभिहितम्–

इसकी पूजा भी भक्ति और श्रद्धा पूर्वक करनी चाहिये । पूजन के बाद तर्पण की प्रक्रिया भी अपनानी पड़ती है । उसके प्रति अपनी भक्ति का निवेदन करना ही चाहिये । आचार्य कहते हैं कि, देवि ! आपको जो खेद या कष्ट मैंने दिया है, वह शिष्य के परम कल्याण के उद्देश्य से ही दिया गया है । यहाँ खेदन की जो परिभाषा आचार्य ने दी है, वह प्रसङ्ग के अनुकूल ही है । खेदित देवी ही की गयी है । परस्वरूप से गर्भाधानादि की अवतारणा से उसका मान्त्रिक सम्बन्ध है । माँ आप वात्सलमयी करुणा की मूर्त्ति हैं । मेरे इस अपराध को आप क्षमा करें ॥२०८॥

प्रार्थना के क्रम में ही आचार्य अपने हार्दिक्य व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि, देवि ! उसके उत्कर्ष पथ में उत्तरोत्तर बढ़ने में अब कोई विघ्न न आये । दिव्यशक्तिमयी माँ अब अपने अनुग्रह से उस शिष्य को कृतार्थ कर दें, जिससे उसके स्वरूप को कञ्चुक कलुष से कलङ्कित न होना पड़े । माँ इतनी कृपा आप अवश्य करें और अब अपने मणिद्वीप मन्दिर में विश्राम करें ।

वस्तुतः यह भाग्यशाली शिष्य भी परमशिव के शैवमहाभाव से भावित हो रहा है । हमें यह ज्ञात है कि, आप प्रभु से नित्य अवियुक्त हैं । वहीं आप विश्राम करती हैं । वहाँ शिष्य को तादात्म्य रूप अनुग्रह का वरदान अवश्य प्राप्त होगा । मेरी अन्तिम प्रार्थना है कि, इसके हृदय में तन्मय भाव से आप भी अनवरत स्फुरित रहें ।

श्रीस्पन्दशास्त्र में एक उक्ति है कि, 'साधक के साधना मार्ग में अवस्थित शक्तिमयी माँ ज्ञात हो जाती है और समस्त सिद्धियों का उपपादन करती है । कतिपय विचारक कहते हैं कि,

"ब्रह्मा में शब्द और स्पर्श, विष्णु में 'रस', रुद्र में रूप और गन्ध, ईश्वर में बुद्धि और अहङ्कार, तथा सदाशिव में मन और पुर्यष्टकांश का अर्पण करना चाहिये"।

---

१. ग.पु.सा तु संपूज्येति, भक्तिशालिनेति च पाठः ।

'.......स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ।' (स्प. ४-१८) इति ।

यदुक्तं ब्रह्मणि शब्दस्पर्शौ, विष्णौ रसः, रुद्रे रूपगन्धौ, ईश्वरे बुद्ध्यहंकारौ, सदाशिवे मनः पुर्यष्टकांशम[1]र्पयेत् । तत्रायमभिप्रायः–इह ब्रह्मा परमया व्याप्त्या नादान्तोपरि ब्रह्मबिलाधिष्ठातृब्रह्मरूपः, विष्णुरपि तदुपरि प्रसरद्रूपशक्तिप्रधानशक्त्यात्मा, रुद्रोऽपि व्यापिनीपदावस्थितानाश्रितनाथरूपः, ईश्वरोऽपि समनापदाधिरूढः सृष्ट्यधिकारी शिवः, सदाशिवस्तु स्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दघनः परमशिवः, इत्येकादश-

---

इस कथन का अभिप्राय यह है कि, इन दिव्य शक्तियों के प्रतिनिधि रूप देव प्रतीकों से निरवशेष रूप से साधक श्री सम्पन्न और सम्पन्न हो जाये । इसे क्रमिक रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है–

ब्रह्मा परम व्याप्ति दशा में नादान्त के ऊपर ब्रह्मबिल, जिसे सभी ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं, उसके अधिष्ठाता के रूप में परमेश्वर द्वारा नियोजित हैं ।

ब्रह्मरन्ध्र में ही नादान्त और ब्रह्मा के समन्वित प्रकाश प्रसर से विकसमान रश्मिपुंज से भास्वर रूप से भासित होकर विष्णु, शक्तिचक्र में विराजमान रहते हैं ।

जहाँ तक रुद्र का प्रश्न है, वे शक्तिचक्र के ऊपर व्यापिनी के अधिष्ठातृ देवता के रूप में अनाश्रित शक्तिमान् देव के रूप में अधिष्ठित हैं ।

ईश्वर समनापद (सहस्त्रार) चक्र में अधिरुद्र होकर वास्तविक सृष्टि अधिकारी शिव के रूप में विराजमान हैं ।

सदाशिव देव स्वच्छ स्वच्छन्द चिदानन्दघन परमशिव रूप से स्वयम् अधिष्ठित हैं ।

ये ऊपर कही गयीं बातें योगिवर्यों की अनुभूतियों के आधार पर प्रामाणिक रूप से कहीं गयी हैं । शास्त्र इन्हीं का निर्देश करता है । इसी ग्रन्थ के ग्यारहवें पटल में यह व्यवस्था निर्दिष्ट है । नादान्त और शक्तिचक्र के मध्य में परभाव में अधिष्ठित ब्रह्मा की (परब्रह्म) सूक्ष्मतम (नादान्त से भी सूक्ष्म) शब्दमयता और सूक्ष्मतम स्पर्शमयता (यंबीजमयी) का योग हो रहा है । इस योग से परब्रह्म प्रभान्वित और प्रभावित हैं ।

नादान्त क्षेत्र के ऊपर और शक्ति के मध्य में सूक्ष्मतम ब्रह्ममयी तथा शब्द स्पर्श योग के अनन्तर प्रसरद्रूप रसमयी वैष्णवी शक्ति उल्लसित रहती है । यह विष्णु की प्रियता और प्रेय के आप्यायन से पूर्ण विषय है । क्योंकि रस का अवस्थान ही विष्णु में माना जाता है । विष्णु से सूक्ष्मतम रस का सम्बन्ध है । मूलाधार और स्वाधिष्ठान में यहाँ की अपेक्षा स्थूलता का उल्लास स्वाभाविक है ।

---

१. ख.पु. समर्पयेदिति पाठः ।

पटलोक्तव्यवस्थया परस्य ब्रह्मणो नादान्तशक्त्योर्मध्यवर्तित्वात् सूक्ष्मतमाभ्यां शब्द-स्पर्शाभ्यां योगः । एवं मूलभूमौ स्पर्शप्रधानापि प्रसरद्रूपतया रसमयी शक्तिरिति तन्मयस्य विष्णोः सूक्ष्मतमरससम्बन्धः, ततोऽपि रुद्रस्य व्यापिन्यामनाश्रितपदे विश्वस्यासूत्रणाद-मात्रात्मनः[1] प्राक्सृष्टोपसंहृतजगद्गतसुसूक्ष्मसंस्कारमात्रात्मना तनीयस्तमेन गन्धेन चास्ति सम्बन्धः । समनाधिष्ठातरि तु शिवे मन[2]नमात्रसारे विगलद्बुद्ध्यहंकारवासनासङ्गः, परमशिवेऽपि उन्मनाशक्तिसमाश्लिष्टे[3] मननसंस्कारस्यापि[4] गलनमित्यतिसुसूक्ष्मतमस्व-

---

इससे ऊपर के 'व्यापिनी' परिवेश में रुद्र की आनाश्रित पदमयी भूमिका की अनुभूति साधकों को होती है । वहाँ मयूराण्डरस में विद्यमान रंग सज्जा के समान व्यापिनी में भी विश्व का आसूत्रण विचारणीय है । इसमें यह ध्यान देने की बात है कि, पृथ्वी से धृत पार्थिव विश्व में स्थूल गन्ध व्याप्ति होती है, किन्तु विश्व के स्थूल आसूत्रण का उच्च स्तर पर उसका उपसंहार भी हो जाता है । उपसंहृत हो जाने पर भी सूक्ष्मतम गन्ध का अमात्र रूप अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म संस्कार मात्र में वहाँ रहता ही है । इसे गन्ध का तनीयस्तम रूप माना जा सकता है । यद्यपि गन्ध रुद्र परिवेश का विषय है किन्तु उसका संस्कारमात्र व्यापिनी में भी रहता है ।

समना के अधिष्ठाता स्वयं शिव हैं । समना शब्द भी मनन मात्र की सम्भावना में ही समाहित है किन्तु यह मनन भी इतना सूक्ष्म है कि, इसमें बुद्धि एवम् अहङ्कार भी विगलित भाव में वासनामात्र स्थिति में ही शिव में अदृश्यरूप में अवस्थित रहता है ।

परमशिव उन्मना के परिवेश में समाश्लिष्ट रहते हैं । वहाँ तो इस मननात्मक वासना का भी उपसंहार हो जाता है । अति सूक्ष्मतम स्वात्म में प्रशान्त मानसिकता का सम्बन्ध भी अनुभूति का विषय बन जाता है ।

उपर्युक्त ये विषय गहन अनुभूतियों के सर्वोच्चस्तर के वास्तविक चित्र हैं । श्लोक २०६ में आये पुर्यष्टक प्रशान्ति की प्रक्रिया से सर्वथा समायोजित हैं । इस श्लोक में आये हुए 'विशुद्ध्यति' क्रिया प्रयोग का यही आशय है कि, दीक्ष्य की साधना परमशिव के शैवमहाभाव से भावित हो गयी है ।

इस अवस्था में समस्त सांस्कारिक वासनायें समाप्त हो जाती हैं । पुर्यष्टकांशार्पण का परिणाम निरवेशष प्रशान्ति मात्र ही है । कुछ लोगों का विचार है कि,

---

१. ख.पु. त्मनो रूपेणेति पाठः । २. ख.पु. मनोमात्रेति पाठः ।
३. ख.पु. समाविष्ट इति पाठः । ४. ख.ग.घ.ङ.पु. संस्कारस्यागलनमिति पाठः ।

प्रशान्तमनःसंस्कारसम्बन्धोऽस्ति, इत्याशयेन निरवशेषसंस्कारपर्यन्तपुर्यष्टकप्रशान्त्यर्थमेव पुर्यष्टकांशार्पणम् । अन्ये तु–

'श्रुतित्वग्विप्लुतिर्ब्राह्मी ब्रह्मक्रव्यादयोनिदा ।
रासनी वैष्णवी रौद्री घ्राणलोचनहेतुका ।।
ऐश्वरी गर्वधीरूपा मानसी शिवदेवता ।'

इति निर्बीजदीक्षाविषयश्रीमृगेन्द्रवाक्यटीकायामुक्तेन्द्रियवि[1]प्लुत्यात्मसमयोल्लङ्घनसम्भाव्यमानतत्तत्क्रव्यादत्वप्रशमनाय पाशशोधनपरेऽपि वाक्ये निर्बीजदीक्षायां पुर्यष्टकात् शब्दस्पर्शार्पणं ब्रह्मणि कार्यमित्यादि यद्भट्टनारायणकण्ठेनोक्तं तदेवात्र योजयाञ्चक्रुः । तत्र सबीजनिर्बीजादिसर्वदीक्षासु पुर्यष्टकांशार्पणमाम्नातम्, अतो मृगेन्द्रायां समयपाशशोधनपरेऽपि वाक्ये निर्बीजदीक्षाविषयमेव[2] पुर्यष्टकांशार्पणं तदभिप्रायवर्णनं च तेनाकारि, **तद्युक्तमयुक्तं वेति सचेतसः प्रमाण**मित्यलम् ।।२०८।।

१– श्रुति (कर्णेन्द्रिय की क्षमता) और त्वक् इन्द्रिय की शक्ति इनके सर्वतो भावेन अर्पण से जिस शान्ति की प्राप्ति होती है, वही ब्राह्मी स्थिति है । इन दोनों के अर्पण से एक बहुत बड़े भय की स्थिति टल जाती है । वस्तुतः समयाचार में यदि श्रुति और त्वक् सम्बन्धी कोई विप्लुति शिष्य से हो जाती है, तो उसका परिणाम बड़ा भयङ्कर होता है । शिष्य को ब्रह्मक्रव्यादत्व का अभिशाप भोगना पड़ता है । यह न हो, एतदर्थ इनका अर्पण आवश्यक माना जाता है । यही तथ्य श्रीमृगेन्द्रतन्त्र के उद्धरण श्लोक की प्रथम पंक्ति में लिखा है कि, 'श्रुति और त्वक् की विप्लुति बड़ी भयानक है । यह ब्रह्म क्रव्याद की योनि प्रदान करने वाली है'' इसी के निवारण के लिये निर्बीज दीक्षा में पुर्यष्टक के अंशरूप शब्द और स्पर्श का अर्पण ब्रह्मा में होना ही चाहिये ।

श्रीमृगेन्द्रतन्त्र के महान् टीकाकार श्री भट्टनारायण कण्ठ के ये उक्त विचार हैं । इन्हीं विचारों की योजना अन्य इस मत के मतानुयायी करते हैं । श्री महामाहेश्वर क्षेमराज का मत है कि, चाहे सबीज दीक्षा हो या निर्बीज दीक्षा हो, दोनों में पुर्यष्टकांशों का अर्पण अनिवार्यतः आवश्यक है । यही इस आम्नाय का आशय है । इसका उपसंहार करते हुए आचार्य अन्त में इसके औचित्य अनौचित्य का भार सचेतस् तन्त्रविदों पर छोड़ देते हैं और कहते हैं कि, समय शोधकपरक मृगेद्रतन्त्र के वाक्य गत निर्बीज विषयक तथ्यों का वे स्वयं निर्णय करें ।।२०८।।

---

१. ख.पु. विरत्यात्मेति पाठः   २. ख.पु. विषय एवेति पाठः ।

अथ वागीशीं-

विसर्ज्यैवं कला भाव्या शान्त्यतीता लयं गता ।।२०९।।
स्वशक्त्याधारप[1]र्यन्ते सुसूक्ष्माभावसंस्थिते ।

स्वा स्वातन्त्र्यात्मा शक्तिराधारः समवायिनी यस्य, स एवाशेषस्य समनाप्रतिष्ठास्थानत्वात् पर्यन्तः, अत एव सुष्ठु सूक्ष्मस्याभावस्य समनात्मनो व्यापिन्यादिक्षित्यन्तनिःशेषभावाभावभित्तिभूतस्य महाशून्यस्य संस्थितं संस्थानं यत्र ॥२०९॥

सदाशिव के विसर्जन के बाद वागीशी का विसर्जन करने की प्रक्रिया अपनायी जाती है । यह उपक्रम अपनाने का आदेश शास्त्र देता है । वस्तुतः अध्वमण्डल की शुद्धि शिष्य के लिये अपेक्षित होती है[2] । इससे ही शिष्य की मुक्ति सम्भव है । इसी क्रम में सदाशिव और वागीशी का आवाहन पूजन और विसर्जन किया जाता है ।

वागीशी के विसर्जन के उपरान्त शिष्य की आन्तरिक स्तरीयता क्या रहती है, यह विचारणीय विषय है । शास्त्रकार ने इस विषय में कुछ संकेत प्रकेत निर्धारित किया है । इनके अनुसार अन्य कलाओं के साथ ही पाँचवीं उच्चस्तरीय कला, जिसे शान्त्यतीता कहते हैं, उसका भी लय हो जाता है ।

प्रश्न यह है कि, लय किस में होता है ? शान्त्यतीता कला की लय भूमि कितनी पावन, कितनी सूक्ष्म और कितनी महनीय हो सकती है ? इसका उत्तर शास्त्रकार स्वयं दे रहे हैं । उनका कहना है कि, शैव महाभाव से भावित तादात्म्य प्राप्त साधक शिष्य की उस समय जो स्थिति होती है, उसे आनन्द शक्तिपर्याया स्वातन्त्र्यात्मा शाक्ति की महत्त्वपूर्ण दशा कह सकते हैं । वह शिष्य के अस्तित्व की आधार होती है । आधार आधेय से समवाय सम्बन्ध से निबद्ध होता है । आधार शक्ति को समवायिनी शक्ति कह सकते हैं । वह आधार शिष्य के अवशेष अस्तित्व का पर्यन्त भी माना जाता है । जैसे अधः आधार धरा होती है, उसी तरह शरीर के ऊर्ध्व भाग में अवस्थित समना का सहस्त्रार भी आधार होता है । इसी पार्यन्तिक आधारशक्ति में शान्त्यतीता का लय होता है ।

इसी आधार से सम्बन्धित एक और विशेषण का प्रयोग शास्त्रकार ने किया है । वे कहते हैं कि, समना तो सब की आधार है ही । उसके नीचे मस्तिष्क के ब्रह्मरन्ध्र क्षेत्र में ही व्यापिनी का एक स्वतन्त्र परिवेश होता है । व्यापिनी से लेकर मूलाधार व्यापी भूतत्त्व तक शरीर में भावाभावात्मक उभयविध जो उल्लास है अस्तित्व की जो सक्रियता है, सबकी वास्तविक आधार भित्ति समना ही है । वह महाशून्य मानी जाती है । उसी महाशून्य में शान्त्यतीता का पूर्ण तादात्म्य रूप विलीनीकरण हो जाता है ॥२०९॥

---

१. क.पु. पर्यन्तमिति पाठः ।

२. एतस्मिन् शुद्धिमापन्ने मुक्तिमाप्नोति दीक्षितः । श्लोक सं० २०० ।

अथ कायवाङ्मनःकर्मान्यथाभावे जाते सति–

आत्मतत्त्वविभागेन धाम्ना वै जुहुयाच्छतम् ।।२१०।।

आत्मशब्दो विद्याशिवावुपलक्षयति, तेनात्मविद्याशिवतत्त्वविभागेनेत्यत्रार्थः ।।२१०।।

तथा–

सशब्दोच्चारयोगेन आत्मतत्त्वे हु होमयेत् ।

प्रणवनिष्कलोच्चारपूर्वं दीक्ष्यस्यात्मतत्त्वव्याप्तमायान्ताध्वशुद्धौ विधिन्यूनातिरिक्त-दोषशुद्धिरस्तु स्वाहेत्यत्र प्रयोगः ।

एतच्चात्मतत्त्वम्–

मायातत्त्वावधि ज्ञेयं दैशिकेन [1]महाध्वरे ।।२११।।

इसके अनन्तर शरीर, वाक्, मन और कर्म इन चारों कारकों द्वारा सम्पादित सांस्कारिक क्रिया के अन्यथा भाव का रूप लेने पर अर्थात् जैसी समयाचार द्वारा निर्दिष्ट विधि है, उससे भिन्न होने पर या विपरीत हाने पर शिव, शक्ति और नरात्मक तत्त्वों की शुद्धि के लिये एक सौ आहुतियों का हवन करना चाहिये ।

श्लोक में आये आत्मतत्त्व विभाग शब्द में प्रयुक्त आत्म पदांश से आत्मरूप शिव, शक्ति और नरात्मक का बोध हो जाता है । आत्म में इन तीनों का अन्तर्भाव स्वतः और पदतः तथा वर्णतः भी सिद्ध है । साधक को सर्वथा सावधान रहना चाहिये । अवधान पूर्वक काम करने से अन्यथाभाव नहीं आ सकता ।।२१०।।

आत्म शब्द से दीक्ष्य शिष्य के व्यक्तित्व से सम्बद्ध नरतत्त्व का बोध होता है, उस नरत्व की शुद्धि के लिये जिस मन्त्र का प्रयोग करना हो, उस समय प्रणव के साथ निष्कल का प्रथम सशब्द उच्चारण करना चाहिये । पुनः "दीक्ष्यस्य आत्म-तत्त्व-व्याप्त-मायान्त-अध्वशुद्धिकर्मणि विधि-न्यूनातिरिक्त-दोष-शुद्धिरस्तु स्वाहा" मन्त्र का सशब्द उच्चारण कर आहुति देनी चाहिये । यह आहुति आत्मतत्त्व में ही होती है ।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि, नर रूप व्यक्तित्व का तत्त्व मायातत्त्व पर्यन्त अशुद्धियों से व्याप्त होता है ।

आत्मतत्त्व कहाँ तक व्याप्त माना जाय, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि, मायातत्त्व पर्यन्त जो कुछ ज्ञेय है अर्थात् वेद्यमात्र हैं, वे इसके प्रमाण स्वयं हैं । उनके द्वारा यह सब कुछ ज्ञातव्य है । इसका प्रयोग दीक्षा के उद्देश्य से सम्पन्न किये जाने योग्य शिवयाग में होता है । उसे ही महाध्वर कहते हैं ।

---

१. ख.पु. शिवाध्वरे इति पाठः ।

मायान्तं वेद्यं सर्वमिति तद्व्याप्त्यात्मतत्त्वं महाध्वरे दीक्षाप्रयोजनशिवयागे ॥२११॥

किमर्थमयं होमः ? इत्याह–

विधिवैकल्यकर्मार्थं प्रायश्चित्तविशुद्धये ।

'विधिः' पूजाहोमादिः शास्त्रचोदितस्तस्य 'वैकल्यकर्म' न्यूनातिरेकानुष्ठितिस्दर्थमिति तन्निवृत्त्यर्थं या प्रायश्चित्तशुद्धिस्तस्यै ।

अथ–

विद्यातत्त्वे तु होतव्यं शतमष्टोत्तरं प्रिये ।।२१२।।

इस विज्ञान के प्रति सावधान रहना चाहिये कि, यह आत्मतत्त्व का विभाग शिवशक्ति और नर-पर्यवसायी माना जाता है । इसलिये नरत्व मायावधि व्याप्त तत्त्वात्मक नरत्व का ही अन्तर्याग में यह आहुति शिव रूप अग्नि में ही करणीय है क्योंकि 'आत्मतत्त्वे तु होमयेत्' इस श्लोक द्वारा विधि का निर्देश दिया गया है ॥२११॥

इस होम की सार्थकता क्या है ? किसलिये यह किया जाता है ? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, इसका प्रथम उद्देश्य दीक्षा के लिये निर्धारित समयाचार रूप विधियों के उत्तमतया यथावत् व्यवहृत न होने पर उत्पन्न कर्म वैकल्य की शुद्धि है ।

इसका दूसरा उद्देश्य भी इसी प्रकार के प्रायश्चित्त रूप अभिशाप की शान्ति है । श्लोक में प्रयुक्त विधि शब्द को परिभाषित करते हुए आचार्य क्षेमराज लिखते हैं कि, शास्त्र में निर्दिष्ट पूजा होम आदि प्रक्रियाओं के विधान को कहते हैं । वैकल्यपूर्ण कर्म न्यूनातिरिक्त अनुष्ठान रूप कर्म ही माने जाते हैं । शास्त्र जैसा आदेश देता है, उतना ही करणीय होता है । उससे कम करना भी दोष और उसके अतिरिक्त या उससे अधिक करना भी दोष माना जाता है ।

इन्हीं दोषों की निवृत्ति के लिये और तज्जन्य प्रायश्चित्त की शान्ति के लिये ही इस होम का सम्पादन किया जाता है । जिस तरह अन्तर्याग रूप में नरत्व रूप आत्मव्यक्तित्व का आत्मरूप शिव धाम में अष्टोत्तर हवन किया गया है, उसी तरह विद्यातत्त्व रूपी आत्मतत्त्व में भी अष्टोत्तरशत हवन करने का विधान है । यह ध्यान देने की बात है कि, शुद्ध विद्या या विद्याकला के अतिरिक्त यह उक्त विद्यातत्त्व अलग ही है । यह आत्मविभाग रूपिणी विद्या है, जिसमें आत्मरूप नरत्व का हवन किया जाता है ॥२१२॥

तच्च–

उपांशूच्चारयोगेन विद्यातत्त्वे तु होमयेत् ।

पूर्वोक्ताया विद्याया इयमन्यैव ।

मायान्ते विद्या करणरूपा भगवतः, इति वक्तुमाह–

सदाशिवान्तमध्वानं विद्यातत्त्वं विनिर्दिशेत् ।।२१३।।

ज्ञानक्रियात्मा शक्तिः शिवस्य करणं तद्रूपश्च सदाशिवः, इति तदन्ता विद्या-तत्त्वस्य व्याप्तिः ।।२१३।।

अत्र च–

मन्त्रोच्चारविलोमेन प्रायश्चित्तं तु यद्भवेत् ।

तद्विशुद्ध्यै स होमः स्याद्विद्यातत्त्वे तु यः कृतः ।।२१४।।

विलोमतान्यथाकरणम् । अत्र च प्रणवनिष्कलावुच्चार्य दीक्ष्यस्य विद्यातत्त्वव्याप्त-सदाशिवान्ताध्वशुद्धौ मन्त्रोच्चारवैलोम्यशुद्धिरस्तु स्वाहेति प्रयोगः ।।२१४।।

यह ध्यातव्य है कि, विद्यातत्त्व में हवन करते समय उपांशु उच्चार होना चाहिये । ये विद्यातत्त्व के उपरोक्त भेद हैं । यह विद्या जिसमें हवन किया जा रहा है, यह शक्ति तत्त्वात्मिक विद्या है, यह प्रयोग से सिद्ध है । मायान्त में जिस विद्या की स्थिति होती है, वह भगवान् की करणरूपिणी मानी जाती है । इस तथ्य को इस श्लोक के आधार पर स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है । इसमें यह उल्लिखित है कि, सदाशिव पर्यन्त अध्वा को विद्यातत्त्वमय निर्दिष्ट करना चाहिये । वस्तुतः ज्ञान और क्रिया रूपाशक्ति शिव की करण मानी जाती है । शिव की सदाशिव रूपता का यही रहस्य है । अतः यह कहा जा सकता है कि, सदाशिवपर्यन्त विद्यातत्त्व की व्याप्ति है क्योंकि विद्या भी ज्ञानमयी ही होती है ।।२१३।।

मन्त्रोच्चार के विलोम से जो प्रायश्चित्त होता है, उसकी विशुद्धि के लिये जो होम होता है, वह इसी विद्यातत्त्व में होना चाहिये । विलोम का अर्थ प्रातीप्य होता है । जैसा होना चाहिये, उसके विपरीत होना या करना ही प्रातीप्य कहलाता है । प्रातीप्य को ही विलोम भी कहते हैं । यहाँ सर्वप्रथम प्रणव पुनः निष्कल मन्त्र का उच्चारण कर यह कहना चाहिये कि, 'दीक्ष्य के विद्यातत्त्व व्याप्त सदाशिवान्त अध्वा की शुद्धि के लिये स्वाहा' कहकर हवन करना चाहिये । पुनः मन्त्रोच्चार वैलोम्य शुद्धिरस्तु कहकर व्यापकाञ्जलि द्वारा 'अस्तु शुद्धिः' का प्रयोग करना चाहिये ।।२१४।।

अनन्तरम्-

मनोविज्ञानवैकल्यात् प्रायश्चित्तं तु यद्भवेत् ।
तच्छु[१]द्ध्यर्थं शिवे तत्त्वे मूलमन्त्रेण होमयेत् ।।२१५।।
मानसेन प्रयोगेन

मनोविज्ञानं भावना, शिवतत्त्वमुक्ततत्त्वापेक्षयात्र प्रमातृरूपम् ।।२१५।।

एतच्च-

शक्त्यन्तेऽध्वनि संस्थितम् ।

'शक्त्यन्तं' समनान्तमुत्तीर्य शिवभट्टारकस्य तावद्व्याप्तिकत्वात् । अथाशेष-बन्धभित्तेर्मुण्डान्तोर्ध्ववाहिन्याः प्राणशक्तेरधोवाहात्मकबन्धकत्वोपशमाय तदनुकारिण्याः

इसके बाद मनोविज्ञान के वैकल्य से जो प्रायश्चित्त होता है, उसकी विशुद्धि के लिये शिवतत्त्व में मूल मन्त्र से हवन करना चाहिये । मनोविज्ञान का वास्तविक अर्थ मन द्वारा मानसिक चिन्तन होता है । आचार्य क्षेमराज इसे भावना कहते हैं । यहाँ तक तीन तत्त्वों में होम की बात कही गयी है । १-नरतत्त्व में, २-शक्तिरूप विद्यातत्त्व में और ३-शिवतत्त्व में । यह शिवतत्त्व प्रमाता तत्त्व है, यह बात ध्यातव्य है । नर तत्त्व प्रमेय रूप ही है । विद्यातत्त्व प्रमाण रूप और शिवतत्त्व प्रमाता तत्त्व है ।।२१५।।

यह प्रमातृतत्त्व शक्त्यन्त अध्वा में अधिष्ठित है । यहाँ शक्ति शब्द नादान्त और व्यापिनी के बीच में आने वाला शक्तिचक्र नहीं, समना (सहस्रार) के विषय में प्रयुक्त है । सहस्रार को पार कर उन्मना में शिवभट्टारक की व्याप्तिमयी प्रतिष्ठा मानी जाती है । वहीं तद्भाव, भावित होकर शिवविमर्शिणी विद्या का जप करते हैं ।

यहाँ साधना की एक रहस्यात्मकता का उद्घाटन कर रहे हैं । विश्वात्मक प्रपञ्च की सांस्कारिकता से उत्पन्न सभी प्रकार के बन्ध उस समय विनष्ट हो जाते हैं, जब साधक योगी मुण्डान्त में ऊर्ध्ववाहिनी प्राणशक्ति के द्वारा एक तरह से शैव महाभाव में अवस्थित हो जाता है ।

यह प्राण की ऊर्ध्ववाहिनी शक्ति का चमत्कार है । उदान वायु के द्वारा क्षेप, आक्रान्ति, चिदुद्बोध, स्थापन, दीपन, तत्समापत्ति को पार कर प्राण का ऊर्ध्ववाह तदापत्ति'[२] की स्थिति प्राप्त कर चिदानन्द की उपलब्धि में लीन हो जाता है ।

---

१. ख.पु. तद्विशुद्ध्यै इति पाठः २. श्रीतन्त्रलोक खण्ड ८ आ० ३०/१२-१३ ।

स्थूलदेहगतायाः शिखायाश्छेदमादिशति–

तत्त्वत्रयविशुद्ध्यन्ते शिखाच्छेदं[1] तु कल्पयेत् ।।२१६।।

कथं च–

अध्वान्तरस्थां परां शान्तामनौपम्यामनामयाम् ।
व्यापिनीं सर्वतत्त्वानां सर्वकारणकारणम् ।।२१७।।
ध्यात्वा शिशोः शिखाग्रे तु पुष्पाग्रे जलबिन्दुवत् ।

अध्वनोऽन्तेऽत एवाविद्यमानध्वान्ते [2]पदे च स्थितां परां शान्तामिति शान्त्यतीतां सर्वोपाधि[3]क्षैण्यादनामयामकलङ्कां षण्णामपि कारणानां कारणं शिशोः शिखाग्रे ध्यात्वेति संगतिः ॥२१७॥

पर्याप्त समय तक वहाँ रुक कर अधोवाह की ओर प्रवृत्त होने पर प्राणशक्ति स्थूल देह की ओर सरकने लगती है । 'तदापत्ति' से 'तत्समापत्ति' के सहस्रार में प्राण जब उतरने लगता है, तो स्थूल देह गत शिखा एक अवरोध डालती है । यह ध्यान देने की बात है कि, स्थूल देह में आना स्थूलता के संस्कारों के सम्पर्क में आने के समान है । इस बन्धकत्व का उपशमन स्थूल शिखा के काटने के अतिरिक्त कोई उपाय शेष नहीं रहता । इसलिये भगवान् कहते हैं कि,

तीनों तत्त्वों (नर, शक्ति और शिवतत्त्व) की विशुद्धि हो जाने पर शिखा के काटने की प्रक्रिया अपनानी चाहिये ॥२१६॥

अध्वावर्ग के अन्त में किसी प्रकार के ध्वान्त की सम्भावना नहीं रहती । उस ध्वान्त-विहीन अध्वान्त पद पर ही पराशान्ता कला अर्थात् शान्त्यतीता कला की व्याप्ति होती है । वह अनुपम होती है । साथ ही समस्त उपाधियों के ध्वस्त और समाप्त हो जाने के कारण यह अनामय अर्थात् निष्कलङ्क होती है । यह सभी तत्त्वों की उच्चतम व्याप्तिमयी कला है । सभी छः प्रकार के कारणों की यह कारणरूपा मानी जाती है । इन तथ्यों का ध्यान शिष्य के शिखाग्र में अवश्य करना चाहिये । यह ध्यान उसी प्रकार का होता है, जैसा ध्यान पुष्प के अग्रभाग में जल बिन्दु का चमकीला अवस्थान दीख पड़ता है ॥२१७॥

---

१. ग.पु. भेदमिति पाठः ।
२. ख.ग.घ.पु. ध्वान्तोपदेशेति पाठः ।
३. क.पु. वैलक्षण्यादिति पाठः ।

किञ्च,

कर्तरीं शिखयामन्त्र्य शिखया च्छेदयेच्छिखाम् ।।२१८।।

शिखयेति नैष्कलेन शिखामन्त्रेण। इह विशेषानभिधानान्निर्बीजसबीजदीक्षाद्वय-विषयशिखाच्छेदनं न तु निर्बीजायामेव ॥२१८॥

अथ-

शिखां समर्प्य चान्यस्य निर्गच्छेत्स सशिष्यकः ।

तत्र च-

स्नानं समाचरेच्छिष्यः

छिन्नशिखत्वात्।

तत्स्पर्शात्तु-

गुरोराचमनं भवेत् ।।२१९।।

स शिष्यसम्पर्कत्वात्पराशयग्रहणाय वा-

स्नानमुद्धूलनं वाथ आचरेत्स्वेच्छया गुरुः ।

ततः

प्रविश्य सकलीकृत्य

शिखा जाति से युक्त मन्त्र शिखामन्त्र होता है। उससे कर्त्तरी (कैंची) को आमन्त्रित करना चाहिये। उसी शिखा मन्त्र से शिखा का छेदन कर देना चाहिये। शिखामन्त्र निष्कल मन्त्र ही होना चाहिये। यह बात भी ध्यान देने की है कि, चाहे दीक्षा सबीज हो या निर्बीज, दोनों में शिखा का छेदन आवश्यक है। केवल निर्बीज दीक्षा में ही शिखाच्छेदन होना चाहिये। यह बात तथ्य से परे है ॥२१८॥

इसके बाद गुरुदेव (आचार्य) उस कटी चोटी को नियुक्त कर्मचारी को देकर शिष्य के साथ उस स्थान से बाहर आ जाँय। वहाँ शिखा के कट जाने के कारण शिष्य को स्नान कर लेना चाहिये। शिखाछेदन भी एक प्रकार का क्षौर कर्म ही है। क्षौर के बाद स्नान अवश्य करना चाहिये।

क्षौर के बाद शिष्य का स्पर्श होने के कारण आचार्य को आचमन कर लेना चाहिये ॥२१९॥

आचमन के अतिरिक्त गुरु स्नान भी कर सकता है। यह स्नान गुरु की स्वेच्छा पर ही निर्भर होता है। वह जल से नहा सकता है। उद्धूलन (भस्मस्नान) कर सकता है, जैसा चाहे। इसमें वह स्वतन्त्र है। इसके बाद पुनः मण्डप में प्रवेश कर सकली-करण प्रक्रिया अपनायी जाती है। वहाँ जाकर आचार्य उस शिखा को अग्नि देवता को

आत्मानम् ।

पूर्णया जुहुयाच्छिखाम् ।।२२०।।

उक्तव्याप्तिप्राणशक्त्यनुकारिणीम् । अत्र च पूर्वसंवादितः पाशहोममन्त्रः प्रयोक्तव्यः ॥२२०॥

इत्थं च–

हुत्वा निर्गम्य[1] चाचम्याक्षाल्य स्रुक्स्रुवकर्तरीः ।
प्रविश्य सकलीकृत्य शिवहस्तानुपूजनम् ।।२२१।।

कुर्वीतेत्यर्थः ।

ततस्तु मण्डले पश्चात्पूजयेत्परमेश्वरम् ।
पुष्पादिभिरशेषैस्तु ततो विज्ञापयेच्छिवम् ।।२२२।।
भगवंस्त्वत्प्रसादेन अध्वषट्कव्यवस्थितम् ।
पशुं संगृह्य संशोध्य शिखाच्छेदावसानकम् ।।२२३।।

अर्पित कर दे । शिखा का होम पूर्ण मन्त्र से करना चाहिये । उस शिखा का बड़ा महत्त्व है । वह प्राणशक्त्यनुकारिणी मानी जाती है । पाशों के हवन करने का जो मन्त्र है, उस मन्त्र का भी प्रयोग किया जा सकता है ॥२२०॥

हवन कार्य सम्पन्न करने के बाद एक प्रक्रिया पूरी हो जाती है । अब उस स्थान से निकल आना चाहिये । हवन कार्य के उपकरण रूप में प्रयुक्त स्रुक्, स्रुवा और कर्त्तरी (कैंची) को अच्छी तरह धो कर साफकर लेना चाहिये । इसके बाद उस मण्डल में प्रवेश करना चाहिये, जहाँ सकलीकरण की प्रक्रिया पूरी की जाती है । वहीं शिवहस्त विधि भी अपनायी जाती है और इससे सम्बन्धित पूजा करनी चाहिये ॥२२१॥

उसी मण्डल में शिवहस्तानुपूजन के उपरान्त परमेश्वर भैरव देव की पूजा करनी चाहिये । यह पूजा पुष्प धूप आदि उपस्थित पूजा सामग्री से अच्छी तरह करनी चाहिये । पूजोपरान्त भक्ति, श्रद्धा और निष्ठा पूर्वक स्वात्म निवेदन करना चाहिये ॥२२२॥

स्वात्म निवेदन आचार्य करता है । अब तक उसने जो कुछ किया है, वह शिवकी आज्ञा से ही सम्पन्न किया गया है । उसे संक्षेप में ज्यों का त्यों व्यक्त कर देना चाहिये । जैसे,

'भगवन् ! आपके अनुग्रह से मैंने इस पशु रूप शिष्य को संस्कार सम्पन्न किया है । यह षडध्व के बन्धन से निबद्ध था । उसी में ओत प्रोत था । अध्वा के ध्वान्त से अन्धा बना हुआ था । मैंने इसे ग्रहण किया अर्थात् पाशसूत्र प्रक्रिया तथा

---

१. ख.ग.पु. निर्गत्येति पाठः ।

त्वन्मुखोक्तविधानं तु लेशतो वर्तितं मया ।

ग्रहणं पाशसूत्रात्स्वदेहाच्च । संशोधनं मलेभ्य: । वर्तितं सम्पादितम् ॥२२३॥

किञ्च शिष्यमिष्टं धाम लम्भयितुं मया–

त्वच्छक्त्यैव तु गन्तव्यमाशु ध्रुवपदं शिवम् ।।२२४।।

एवकारो निरपेक्ष: शक्तिपात एवात्र प्रभवतीति ध्वनति । एतच्च पञ्चमपटलान्ते निर्णेष्याम: । ध्रुवपदं सप्तमं परमशिवस्थानम् ॥२२४॥

तदर्थमेव–

इदानीं योजने कर्म

मयारभ्यते ।

ततोऽत्र–

तवाज्ञानुविधायिनः ।

आज्ञा मे दीयतां नाथ शिष्यं संयोजयाम्यहम् ।।२२५।।

तवाज्ञेति–

'दीक्षणीयास्त्वया शिष्या:'

इत्यधिकारावसरे प्राप्ता ।

शरीर प्रक्रिया द्वारा इसे उपनाया । इसका संशोधन किया । और अन्त में प्राण के अधोवाह की अवरोधिका शिखा का छेदन भी कर दिया है । तुम्हारे पराङ्मुख को तुम्हारे साम्मुख्य का अधिकारी बना दिया है । इसके साथ ही तुम्हारे मुखारबिन्द से विनि:सृत वागात्मक मकरन्द रस से भी इसे सिक्त कर दिया है । यह सत्य है कि, पूरी तरह तो नहीं लेश मात्र ही तुम्हारे निर्देशों को मैंने सुनाया है । भगवान् ! तुम्हारे सप्तम परमशिव ध्रुव धाम को उपलब्ध होने की योग्यता इसे मैंने दी है । अब आपके शक्तिपात रूप अनुग्रह से यह वहाँ अवश्य जायेगा । यह मेरा दृढ विश्वास है और यही प्रार्थना है कि, प्रभो ! अब अविलम्ब इसे अपनाकर अनुगृहीत करें ॥२२३-२२४॥

प्रभो ! एक कार्य अभी अवशिष्ट रह गया है । योग्य तो यह हो गया है किन्तु इसका संयोजन समायोजन अभी नहीं किया है । यह कार्य विना भगवदाज्ञा के पूरा नहीं किया जा सकता । इसलिये विभो ! मैं उसी योजन कर्म की आज्ञा माँग रहा हूँ । हे नाथ ! आप आज्ञा दें कि, इसे समायोजित करूँ ।

भगवन् यह आपका ही आदेश है कि, मैं शिष्यों को दीक्षित करूँ । 'त्वया शिष्या: दीक्षणीया:' रूप यह आज्ञा मुझे याद है । दीक्षा के इस अधिकार का यह अवसर अब आ गया है । आप पुन: आज्ञा देकर मुझे भी अनुगृहीत करें ॥२२५॥

अथ–

लब्धानुज्ञातमात्मानं

आज्ञालाभयुक्त्यैव रुद्रशक्तिसमावेशात्–

प्रहृष्टो निर्गतः पुरात् ।

अर्घहस्तो व्रजेदग्निम्

पुरादिति मण्डलक्षेत्रात् ।

अथात्र–

शिष्यमाहूय प्रोक्षयेत् ।।२२६।।

प्रोक्षितस्य–

पूर्ववच्चासनस्थस्य सकलीकरणादिकम् ।
अन्तःकरणविन्यासं नाडीसन्धानपूर्वकम् ।।२२७।।

कृत्वा–

पूजनं तर्पणं चाग्नौ मन्त्राणां च शिवस्य च ।

कुर्यात् । तर्पणं मूलापेक्षया वक्त्राङ्गानाम् ।

दशभागविभागेन

न चात्र द्रव्येयत्तानियम इत्याह–

यथा द्रव्यानुसारतः ।।२२८।।

आचार्य का अध्यात्म सूत्र शैवमहाभावात्मक सत्ता से जुड़ा हुआ है । इस प्रार्थना से यह ध्वनित हो रहा है । उस समय आचार्य की अनुभूति में एक प्रकार का स्फुरण होता है । उसे अनुभव होता है कि, उसे भगवान् की अनुमति मिल गयी है । अपने को वह लब्धानुज्ञात्मा अनुभव कर वह हर्ष से विह्वल हो उठता है । लगता है कि, वह रुद्रशक्ति समावेश से अविष्ट हो गया है । आचार्य अब तुरत उस मण्डल क्षेत्र से निकल कर हाथ में अर्घ लेकर अग्नि कुण्ड की ओर प्रस्थान करते हैं । वहाँ जाकर आचार्य अपने उस शिष्य को संप्रोक्षित करते हैं ।।२२६।।

इस प्रकार गुरुदेव द्वारा सम्प्रोक्षित शिष्य के लिये निर्धारित आसन पर पहले की तरह बिठलाकर आचार्य सकलीकरण की प्रक्रिया पूरी करते हैं । नाडी सन्धान पूर्वक उसके अन्तःकरण विन्यास का कार्य भी आचार्य सम्पन्न करते हैं ।।२२७।।

इसके बाद देव पूजन, तर्पण और हवन का कार्य पूरा करना चाहिये । मन्त्रों का यथा निर्देश प्रयोग एवं शिव का पूजन, हवन और तर्पण करना चाहिये । तर्पण वक्त्राङ्गों की तृप्ति के लिये होता है । तर्पण दशांश ही होना चाहिये । उपस्थित

यद्वक्ष्यति–

'तिस्रः पञ्च दशैका वा तिलैर्वाथ घृतेन वा ।' (स्व.४-४४५)

इति ॥२२८॥

अथ ये निष्कलस्वरूपनिमज्जनेन सकलतामुन्मज्ज्य भगवतोऽन्तरङ्गशक्तिरूपा वक्त्राङ्गमन्त्रा भेदप्रथोत्थापनेन चिदात्मना संशुद्धत्वापादेनऽधिकृतास्तान्–

मन्त्रान्संधयेत्पश्चात्सकलीकरणे स्थितान् ।

सकृदाहुतियोगेन

मूलमन्त्रेणैवेतरमन्त्रशुद्धिरिति निर्णीतमतः प्रणवनिष्कलोच्चारपूर्वं हृदाद्येकैकं जात्यन्तमुच्चार्य 'भगवन् दीक्ष्यस्य निष्कलशुद्धधामप्रथापरो भव स्वाहा' इति प्रयोगेन निष्कलधामविश्रान्तिभावनयाहुतिं दद्यात् ।

और प्रस्तुत द्रव्यों के अनुसार ही पूजन एवम् अग्निकार्य आदि होना चाहिये । संख्या की दृष्टि से आहितियाँ तीन, पाँच, दश एक भी तिल और घी से देनी चाहिये ॥२२८॥

भगवान् भैरव के अन्तरङ्ग वक्त्राङ्ग मन्त्र बड़े ही महत्त्व पूर्ण होते हैं । इनकी विशेषता यह होती है कि, ये निष्कल भैरव रूप में पूर्णतया समाहित होते हैं । इसके अतिरिक्त ये अपनी सफलता का उन्मज्जन कर उल्लसित रहते हैं । निष्कलता में डूबना और सकलता को उल्लसित रखना इनका वैशिष्ट्य है । इसमें कोई विरोध नहीं है ।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि, सफलता के उल्लास में भेदप्रथा का उत्थापन भी स्वाभाविक है । यह भी सत्य तथ्य है कि, ये चिदात्मक भैरवी भाव से ओतप्रोत हैं । चिन्मय के चैतन्यात्मक चमत्कार से इनका शोधन भी होता है और ये इस प्रकार के संशोधन के लिये भी अधिकृत होते हैं । इसलिये सकलीकरण में अवस्थित इनका तत्काल बाद में संशोधन कर लेना चाहिये । इसके लिये मात्र एक बार आहुति का प्रयोग किया जाना चाहिये ।

मूल मन्त्र से ही इतर मन्त्रों की शुद्धि होती है, यह निर्णीत सत्य है । अतः प्रणव निष्कलोच्चार पूर्वक क्रमशः हृदयादि मन्त्रों के साथ जाति का प्रयोग करते हुए आहुतियाँ देनी चाहिये । जैसे,

१– ओं अघोरेभ्यः हृदयाय नमः ।

२– ओं अथ घोरेभ्यः शिरसे स्वाहा ।

३– ओं घोरघोरतरेभ्यः शिखायै वषट् ।

४– ओं सर्वतः शर्व सर्वेभ्यः कवचाय हुं ।

तत एतानिदं श्रावयेत्–

अधिकारो विवर्ज्यताम्[1] ।।२२९।।

सकलीकरणत्वेन न कदाचित्पशोः पुनः ।

सकलीकारो भवद्भिः कार्य इति शेषः ॥२२९॥

एवं दीक्ष्यस्य मन्त्रैकादशिकाशुद्धि[2]मितिकर्तव्यत्वेनोक्त्वा देवीमाह भगवान्–

योजनीयं प्रयोगं तु अधुना कथयामि ते ।।२३०।।

योजनायै हितं योजनीयम्, प्रकृष्टं योगमितिकर्तव्यतारूपं प्रयोगं चाधुना निःशेष-

---

५– ओं नमस्ते रुद्र रूपेभ्यः अस्त्रायफट् ।

इन मन्त्रों को बोलते हुए सबके साथ 'दीक्ष्यस्य निष्कल शुद्धधामप्रथा परो भव' बोलकर अन्त में स्वाहा लगाकर प्रत्येक में आहुति देनी ही चाहिये । इस आहुति में आचार्य को यह ध्यान रखना होता है कि, यह आहुति शिष्य को निष्कलधाम में विश्रान्ति प्रदान करे । अन्त में निष्कलता अवश्यम्भावी है ।

ऊपर के मन्त्र विद्याङ्ग मन्त्र हैं । यह उल्लेख्य है कि, मूल मन्त्र से ही शुद्धि की बात कही गयी है । इसीलिये विद्याङ्ग मन्त्रांशों का उल्लेख किया गया है । वक्त्राङ्ग मन्त्र अलग होते हैं ।

इसके बाद दीक्ष्य शिष्यों को यह शिक्षा देनी चाहिये–निष्कल धाम की यात्रा के अधिकारी को अन्य सारे अधिकारों का विसर्जन कर देना चाहिये क्योंकि, ये सारे अधिकार बन्धप्रद होते हैं । सकलीकरण पशु शिष्य के लिये एक नयी दिशा का द्वार खोलता है । परिणामतः बन्धप्रद कोई सङ्कोच वहाँ नहीं रहना चाहिये ॥२२९॥

इस प्रकार दीक्ष्य की शुद्धि के लिये जो एकादश मन्त्रात्मिका प्रक्रिया अपनायी गयी है, इसे इतिकर्त्तव्यता के रूप में कह कर भगवान् अग्रिम कार्यक्रम और योजनीय प्रयोग के विषय में देवी के समक्ष अपना मत व्यक्त कर रहे हैं–

भगवान् कह रहे हैं कि, इस समय मैं अग्रिम योजनीय प्रयोग के सम्बन्ध में कहने जा रहा हूँ ॥२३०॥

योजना के लिये हितकारक या उपयोगी क्रिया को योजनीय कहते हैं । इसी तरह इति कर्त्तव्यता के रूप में प्रकृष्ट योग को प्रयोग कहते हैं । श्लोक में 'अधुना' अव्यय का प्रय्गोग किया गया है । यह अव्यय तत्काल अर्थ म प्रयुक्त होता है ।

---

१. ख.पु. विसृज्यतामिति पाठः । २. ग.पु. शुद्धिमपि कर्तव्यत्वेनेति पाठः ।

पाशक्षपणे जाते सति 'ते' इत्यनुग्रहैकप्रवणतया भगवत्या एवैकस्याः परस्याः शक्तेर्योजनायां शक्तायाः कथयामि विमर्शपदं लम्भयामीत्यर्थः ॥२३०॥

अस्य चाभ्यस्तज्ञानयोगदुष्प्रापदैशिकप्रवरसाध्यत्वमिति दर्शयितुं महता पीठिकाबन्धग्रहणेन [1]योजनोपयोगि प्रमेयत्रयोदशकं सद्गुरूणां हृदयङ्गमीकार्यं निर्णेतुमुदाक्षिपति परमेश्वरः–

ज्ञात्वा चारप्रमाणं तु प्राणसंचारमेव च ।
षड्विधाध्वविभागं तु प्राणैकत्र यथास्थितम् ।।२३१।।
हंसोच्चारं तु वर्णैश्च [2]कारणत्यागमेव च ।
शून्यं समरसं ज्ञेयं त्यागं संयोग[3]मुद्भवम् ।।२३२।।
भेदनं च पदार्थानां भावप्राप्तिवशात्पुनः ।
आत्मविद्याशिवव्याप्तिमेवं ज्ञात्वा तु योजयेत् ।।२३३।।

तत्काल पूर्व में शिष्य की मन्त्रैकादशिका शुद्धि के फलरूप सारे पाशों का क्षय हो चुका है । अब केवल अनुग्रह का अधिकारी वह शिष्य हो चुका है । इस अवस्था को प्राप्त कराने में अर्थात् पराशक्ति से योजित करने में हितकर शाक्त विमर्श सुधा की उपलब्धि को ही, भगवान् कह रहे हैं कि, मैं सरल बना रहा हूँ ॥२३०॥

विमर्श पद की अनुभूति एक असामान्य उपलब्धि मानी जाती है । यह ज्ञान योग है, जो दुष्कर क्रिया योग से ही साध्य होता है । इसे कोई दैशिक प्रवर ही सिद्ध कर सकता है । यह तथ्य है । इस तथ्य का उद्घाटन किसी भूमिका के माध्यम से ही किया जा सकता है । उसी पीठिका को बाँधकर योजना के उपयोगी तेरह प्रमेय रूप तथ्य सामने रखे जा सकते है । इससे सभी दैशिक आचार्य, सद्गुरु और सांसिद्धिक साधक इसे हृदयङ्गम कर सकते हैं । यह भगवान् का हृदय है । यह निर्णय है । उसी निर्णय को प्रतिपादित करने के लिये परमेश्वर इन वचनों को उपाक्षिप्त कर रहे हैं–

चार प्रमाण का विज्ञान श्वास-साधना की एक प्रक्रिया है । श्वास तो सभी लेते हैं किन्तु श्वास का चार ७२अंगुल का होता है और ३६अंगुल श्वास भीतर लेने तथा ३६अंगुल श्वास बाहर छोड़ने का मान रूपी प्रमाण की अनुभूति बिरले योगियों को ही होती है । अमाकला केन्द्र से पूर्णिमा केन्द्र तक भीतर आने में शुक्ल पक्ष की १५तिथियाँ तथा पूर्णिमा केन्द्र से अमाकला केन्द्र में बाहर भेजने की १५तिथियाँ कुल एक श्वास प्रश्वास में दो पक्ष अर्थात् एक मास स्वभावतः व्यतीत होते हैं । यह सामान्य चार प्रमाण माना जाता है ।

---

१. ख.पु. प्रयोजनेति पाठः । २. ख.ग.पु. करणत्यागेति पाठः ।
३. क.पु. गसंभवम् इति पाठः ।

इह–

'तस्मिन्युक्तः परे तत्त्वे सार्वज्ञादिगुणान्वितः ।
शिव एको भवेद्देवि अविभागेन सर्वतः ॥' (स्व.४-४०२)

इति भाविनीत्या परभैरवैक्यापत्त्यात्मा योजना पुर्यष्टकाहन्ताप्रशान्त्यैव गुरोः कर्तव्या । पुर्यष्टके च प्राणाश्रयं शून्याश्रयं च स्वप्नसौषुप्तयोस्तथा निश्चयादिति प्राणशून्यपदयोः प्रशमनीयत्वे चारस्य प्राणवाहस्य देशकालाभ्यां प्रमाणमवश्यं ज्ञातव्यम्, तत्रापि चारोहावरोहरूपसंचरणं ज्ञातसंचारस्य तत्रस्थोल्लङ्घनीयसमस्ताध्वपरिज्ञानमुपयोगि अध्वोल्लङ्घनमपि ऊर्ध्वनदनात्महंसोच्चारपरिज्ञानात्, तदुच्चारो द्विधा स्वाभाविकः प्रायत्निकश्चेति, प्रायत्निके तस्मिन् नैष्कलैरकारोकारादिभिर्वर्णैः कारणानां ब्रह्मादीनां त्यागोऽपि ज्ञेयः,

---

भगवान् भैरव भट्टारक कहते हैं कि, इस चार प्रमाण को जानकर, तथा इसमें श्वास के संचार की स्वयम् अनुभूति कर शिव योगी श्वास साधना में दक्ष हो जाता है । इसी के साथ षडध्व विज्ञान का ज्ञानवान् होना भी एक महत्त्व पूर्ण प्रक्रिया है । छहों अध्वा एकत्र प्राण में ही अवस्थित रहते हैं । प्राणापानवाह क्रम में ही हंसोच्चार की क्रिया को योगी सम्पन्न करते हैं । इसमें वर्णों का प्रयोग भी होता रहता है । इसके बाद कारणों के त्याग का क्रम अपनाया जाता है । उस समय शून्य के एक धाम का साक्षात्कार होता है । उसकी अधिष्ठात्री देवी को शून्यसाक्षिणी देवी कहते हैं । वह एक स्वभावतः सुखद समरस दशा मानी जाती है ।

वहीं यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि, त्याग का, संयोग का और उद्भव का स्वरूप क्या होता है ? वहीं पदार्थों के भेदन प्रक्रिया की महानुभूति होती है । उसी के बाद आराध्य के सद्भाव की भव्यता का अनुभव होता है । अनुभव के इस उच्च स्तर पर आत्म, विद्या (शक्ति) और शिव की व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है । योगी साधक इतना ज्ञानवान् हो जाने पर ही परमाम्बा की पराशक्ति से तादात्म्य स्थापित करता है । वहीं शिष्य द्वारा आत्मतत्त्व का समायोजन करना चाहिये ॥२३१-२३३॥

इसी ग्रन्थ के इसी पटल के श्लोक ४०२ में कहा गया है कि, ''उस 'पर' तत्त्व में समायोजित साधक शिष्य सर्वज्ञ आदि गुणों से युक्त हो जाता है । अब यह अविभागमय अद्वय स्थिति को प्राप्त कर लेता है और शिवैकात्म्य में स्थित हो जाता है ।''

आचार्य क्षेमराज इस महारहस्य के मर्मज्ञ व्याख्याता विद्वान् हैं । उक्त नीतिगत सन्दर्भ में उन्होंने परभैरव भाव के ऐकात्म्य की रहस्यात्मकता का स्वयं साक्षात्कार किया । उनके अनुसार गुरु का यह उत्तरदायित्व है कि, शिष्य के पुर्यष्टक में वर्त्तमान उसके अशुद्ध अहंभाव की प्रशान्ति करें । इसके बाद ही परभैरवमयी एकता में वह समायोजित किया जा सकता है ।

चकारात्तदुचितकालत्याग इहानुद्दिष्टोऽपि वक्ष्यमाणो ज्ञातव्य एव, प्राणवच्च शून्यमपि प्रशमनीयत्वाज्ज्ञेयमेव परभैरवैक्यात्मयोजनं च मन्त्रात्मनाड्यादिसामरस्यज्ञप्तिपूर्वकम्, सामरस्यज्ञानं साम्यज्ञप्तिपूर्वकमिति साम्यात्मविषुवत्स्वरूपमपि भविष्यति, अकाराद्युन्मनान्तं द्वादशविधं ज्ञेयमपि मन्त्रोच्चाराङ्गतया ज्ञेयमेव, त्यागाय चैतज्ज्ञेयमिति त्याग उक्तः, स च तत्तद्दशासंयोगपूर्वकः [१]तत्तद्दशात्यागे चोर्ध्वोर्ध्वारोहात्मोद्भवोऽपि ज्ञातव्यः,

---

अशुद्ध अहंभाव की प्रशान्ति के बाद पुर्यष्टक के शुद्धरूप का साक्षात्कार साधक शिष्य करता है। अशुद्ध स्थिति में प्राण और शून्य दोनों के आश्रय रूप स्वप्न और सुषुप्ति की अनुभूतियों का निश्चय उसे होता रहता है। शुद्धावस्था इन दोनों की प्रशमनीयता में चरितार्थ होती है। इस अवस्था में प्राणापानवाह पर देश एवं काल इन दोनों का क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी प्रामाणिकता का ज्ञान हो जाता है। ये देश और काल बाह्य देशकाल नहीं होते। ये मणिपूर से बाह्य द्वादशान्त के अन्तराल के ही होते हैं।

श्वास में आरोह और अवरोह रूप दो संचार प्रणालियाँ अयत्नसाध्य रूप से स्वभावतः चलती रहती हैं। ये दोनों पर विमर्श की महास्फुरत्ता की प्रतिरूप होती हैं। इसी क्रम में योग सिद्ध साधक समस्त अध्वाओं का अनुभव करता रहता है। वह वर्ण-पद-मन्त्र का साक्षी बन जाता है।

वह इनके उल्लङ्घन में भी समर्थ होता है। उदान वायु द्वारा जब प्राण आज्ञा चक्र से ब्रह्मरन्ध्र की ओर चलता है, तो ऊर्ध्वनदनात्मक हंसोच्चार में परिवर्त्तित हो जाता है। साधक इसका ज्ञाता और साक्षी होता है। इस अवस्था में प्राणोच्चार प्रायत्निक (यत्नसाध्य) और स्वाभाविक (अयत्नसाध्य) दोनों रूपों में प्रवर्त्तित किया जा सकता है।

यह ध्यान देने की बात है कि, प्रायत्निक अवस्था में निष्कल वर्णों के द्वारा ब्रह्मादि कारणों के परित्याग का क्रम भी ज्ञेय श्रेणी में आता है। यही नहीं। जिन क्षणों में इनका परित्याग होता है, उनको जानना भी अनिवार्य है। यह प्रक्रिया प्राण प्रक्रिया है। जब शून्यों की परित्याग-प्रक्रिया में साधक निपुणता प्राप्त कर लेता है, तो वह प्रशम की शून्यसाक्षिणी का भी साक्षात्कार कर लेता है।

अब वह परभैरव भाव की ऐकात्म्य दशा की परानुभूति संभूति से भर जाता हे। मन्त्र और प्राणापानवाह की माध्यमरूपा नाडियों का महासामरस्य बोध के महाप्रकाश में प्रकाशित हो जाता है। इस सामरस्य दशा में साम्यज्ञप्ति भी साथ ही साथ उल्लसित रहती है। प्राणसाम्य की विषुवत् स्थिति प्राण सूर्य का रश्मि-लम्ब स्वभावतः ग्रीष्म की याद दिलाता है।

---

१. ख.ग.घ.पु. तत्तद्दशांशयोगेति पाठः।

यावच्चैषां ग्रन्थीनां भेदनं न वृत्तं न तावत्तत्त्यागेनोर्ध्वोद्भवो घटते भेदनं च ज्ञानयोगा-भ्याम् । यद्वक्ष्यति–

'भेदयेज्ज्ञानशूलेन.........।' (स्व.४-३३४)

इति । तथा–

'भेदयेन्मन्त्रशूलेन मुद्राभावयुतेन तु ।' (स्व.४-२५६)

इत्यादि । तच्च भावस्य दृढारूढप्रतिपत्त्यात्मनस्तत्तच्छब्दाद्यनुभवात्मनश्च वक्ष्यमाणस्य प्राप्तिवशाद्भवति । एवमियज्ज्ञानपूर्वं प्राणे शून्ये च प्रशमितेऽपि आत्मतत्त्वस्यैताव-

---

आज्ञा चक्र से साधक अकार से चलकर उन्मना तक की योग यात्रा पूरी करता है । इसके बारह पड़ाव हैं । १–अ, २–उ, ३–म, ४–बिन्दु, ५–अर्धचन्द्र, ६–निरोधिका, ७–नाद, ८–नादान्त, ९–शक्ति, १०–व्यापिनी, ११–समना और १२–उन्मना । ये सभी पड़ाव परमज्ञेय हैं । इन्हें जाने बिना योगमार्ग में गति नहीं हो सकती । यह जानकारी एक एक के त्याग में ही चरितार्थ होती है ।

त्याग का एक रहस्य है । किसी बिन्दु पर पहले पहुँचना होता है । उस स्थान का संयोग होता है । इसके बाद ही उसको छोड़कर आगे बढ़ा जा सकता है । इसी आधार पर इसे संयोग पूर्वक त्याग कहते हैं । एक एक पड़ाव को त्यागकर उससे भी ऊपर और ऊपर उठना जीवन की महान् उपलब्धि के समान होता है । इसे ऊर्ध्वा-रोहण कहते हैं । यह उद्भवभाव योग की यात्रा का महाफल माना जाता है ।

उपनिषद् की उक्ति है–'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' । हृदय केन्द्र को कहते हैं । शरीर के सारे चक्र एक एक गाँठे हैं । एक एक कर इन गाँठों का भेदन करना पड़ता है । तब परावर का दर्शन होता है । परावर के दर्शन के बाद तो ये गाँठें अपने आप खुल जाती हैं किन्तु साधना की यात्रा में पहले एक एक को तोड़ना पड़ता है । जब तक गाँठें खुलती नहीं, तब तक त्याग और उद्भव सम्भव नहीं हो सकते । यह भेदन दो तरह से होता है । १–ज्ञान से और २–योग प्रक्रिया के अन्तर्गत आने वाले क्रिया योग से । इसी पटल के श्लोक ३३५ में कहा गया है कि,

'ज्ञान रूपी शूल से ग्रन्थि भेद करे' । इसके आगे श्लोक ३५७ में कहा गया है कि,

'मुद्रा भाव से समन्वित रहते हुए मन्त्र रूप शूल से ग्रन्थि भेद करें' ।

ये सारे कथन तभी सार्थक और चरितार्थ होते हैं, जब भावना दृढतया स्वात्म प्रतिपत्ति में आरूढ होकर लक्ष्य प्राप्ति में निरत और समर्थतया लगी रहती है । इसके साथ ही इन उक्तियों में निहित तात्पर्य का बोध हो जाता है । इसके साथ ही इन उक्तियों को चरितार्थ करने की इच्छा शक्ति हो, मर्मरूप रहस्यों के उद्घाटन की इच्छा शक्ति हो अथवा उनकी अनुभूतियों के आनन्द की उपलब्धि होती चल रही हो, तभी सर्वत्र आनन्दवाद उल्लसित होता है ।

दुत्तीर्णा शुद्धात्मदशानुभवरूपा, विद्यातत्त्वस्य चोन्मनाविश्रान्त्यात्मा, शिवतत्त्वस्यापि च परतत्त्वसमावेशरूपा व्याप्तिरवश्यं ज्ञेयेति, इयत्प्रमेयपरिज्ञानमागमतोऽनुभवतश्च योजना-यामुपयोगीत्याशयेनात्र वाक्ये ज्ञात्वेति द्विरुपात्तम् ॥२३३॥

यथोद्दिष्टं निर्णेतुमाह-

तद्विभागं प्रवक्ष्यामि यथा ज्ञायेत तत्त्वतः ।

विभागो विभजनसमाधारणेन रूपेण विवेचनलक्षणम् । प्रकारभेदकथनमपि यथा-सम्भवम् ।

इस तरह प्राण और शून्य पड़ावों के ज्ञानपूर्वक प्रशमित हो जाने पर भी १-आत्मतत्त्व की उत्कर्षमयी, इतनी उत्तीर्ण (ऊपर उठी) शुद्ध स्वात्मनुभूति से भरी ऊँची योगयुक्त दशा, २-विद्यातत्त्व की उन्मना में विश्रान्ति की विभुता और ३-शिवाभिमर्शिणी विद्या से अधिगत शिवता की परतत्त्वात्मिका परसमावेश रूपा पराव्याप्ति इन तीनों अवस्थाओं की ज्ञप्ति साधक को सदा होती रहनी चाहिये । वास्तव में ये सभी बातें सदा ज्ञेय हैं, ज्ञातव्य हैं । इनकी जानकारी कभी भी उपेक्षित नहीं होनी चाहिये ।

ये सारी ऊपर कही गयीं बातें प्रमेय श्रेणी में ही आती हैं । इनका ज्ञान दो तरह से होता है । १-आगम से और २-स्वात्मानुभव से । गुरुदेव की योजनिका क्रिया से, स्वात्मयत्न से साध्य योजना क्रिया में ये तथ्य अनवरत उपयोगी होते हैं । इसीलिये श्लोक २३१ में और २३३ में भी ज्ञात्वा रूप पूर्वकालिक क्रिया का यामल प्रयोग किया गया है ॥२३१-२३३॥

इन तात्त्विक तथ्यों के विषय में शास्त्रगत उद्दिष्ट बिन्दु को विभागशः कहने की कृपा शास्त्र प्रवर्त्तक भगवान् भैरव कर रहे हैं । वे कह रहे हैं कि,

एक एक वाच्यबिन्दुओं को पृथक् पृथक् रूप से विवेचित करते हुए उनका कथन यहाँ उस प्रकार से करूँगा, जिससे उनका परिज्ञान तत्त्वतः हो जाय । इसके प्रारम्भ में ही साधक को यह जान लेना चाहिये, कि प्राण का चार छत्तिस अंगुल का होता है । यह नाभिकेन्द्र से चितिकेन्द्र तक का मार्ग निश्चित है ।

यहाँ 'हृत्' शब्द विचारणीय है । सुषुम्ना नाड़ी का हृत्केन्द्र अनाहत चक्र का पर्याय है किन्तु अनाहत से चितिकेन्द्र जहाँ तक श्वास जाता है, वह ३६अंगुलों का नहीं होता, मात्र ३२अंगुलों का होता है । इसलिये अनाहत से चार अंगुल नीचे नाभि चक्र (मणिपूरक कमल) ही हृत्केन्द्र माना जाना चाहिये । हृदय शब्द का केन्द्र अर्थ में प्रयोग 'सा स्फुरत्ता महासत्ता हृदयं परमेष्ठिनः इस ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका में किया गया है । इस तरह ऊपर की पंक्ति का अर्थ करना चाहिये कि, शरीर के मुख्य केन्द्र

तं क्रमेणाह–

षट्त्रिंशदङ्गुलश्चारो हृत्पद्माद्यावशक्तितः ।।२३४।।
तुटिषोडशमानेन कालेन कलितः प्रिये ।

यावच्छब्दे तलोप ऐश्वरः । आद्येनार्धेन देशतो द्वितीयेन कालतश्चारप्रमाण-मुक्तम् । शक्तिरिह भाविनीत्या समनान्ताभिप्रेता । तुटिश्चषकषड्भागरूपस्य प्राणापान-वाहस्य द्वात्रिंशत्तोऽशः ।

अथ प्राणसंचारमाह–

संचरन्तं विभागेन यथावत्तं शृणुष्व मे ।।२३५।।

तमिति प्राणं ताल्वादिस्थानानुसारिणा विभागेन यथावत्स्वानुभवसाक्षिकं सम्यक् चरन्तं शृणु कथितमन्तर्निभालय ।।२३५।।

नाभिकेन्द्र रूप मणिपूर कमल से प्राणचार प्रारम्भ होकर चितिकेन्द्र रूप आमावस्य केन्द्र तक के दिक् भूमि में ३६अंगुल की दूरी तै करता है ।

काल की दृष्टि से इस दूरी को सोलह भागों में बाँटते हैं ।३६÷१६=२¼ अर्थात् सवा दो दो अंगुल के अन्तर्बिन्दुओं पर रुकते हुए योगी अन्तिम बिन्दु में पहुँच कर शिव में समाहित हो जाता है । इस तरह भगवान् कहते हैं कि, प्रिये ! दिक् दृष्टि से ३६अंगुल की दूरी तय होती है तथा काल की दृष्टि से १६तुटियों में इसे विभक्त किया जा सकता है ।

शक्ति शब्द का अर्थ आचार्य क्षेमराज ने भाविनीति से समनान्त किया है । मेरी दृष्टि से शक्तितः का 'तसि' प्रत्यय शक्ति को प्रेरक मानता है । इसलिये शक्तितः का अर्थ स्वभावतः होना चाहिये । शाक्त प्रेरणा से ही श्वासोच्चार स्वाभाविक रूप से अनवरत जीवन दान देता है । यह अयत्नज व्यापार है । यत्नज दशा में कुम्भक रूपों में विभक्त किया जाता है । इसलिये 'शक्ति' का अर्थ अमाकला का चितिशक्ति केन्द्र ही होगा । शास्त्र में चषक के छठें भाग को एक तुटि कहते हैं । पूरा प्राणापानवाह ३६+३६=७२अङ्गुलों का होता है । ७२अंगुलों का बत्तीसवाँ भाग भी २¼ अंगुल काल गणित की दृष्टि आता है । ७२÷३२=$^{९}/_{४}$=२¼ यह गणित का स्वरूप बनता है ।।२३४।।

यहाँ से प्राण संचार का पुनः विभागशः वर्णन कर रहे हैं । श्वास के संचार में रत प्राण को स्वानुभव साक्षिक रूप में भगवान् व्यक्त कर रहे हैं और देवी को सम्बोधित कर उनको ध्यान पूर्वक सुनने का आदेश भी दे रहे हैं कि, मेरी बातों को ध्यान पूर्वक सुनो कि, प्राण संचार कैसे होता है ।।२३५।।

हृत्पद्माद्यावदयनं भागमेकं त्यजेत्तु सः ।
नासिकाग्रे द्वितीयं तु शक्त्यन्ते तु तृतीयकम् ।।२३६।।

एतच्छास्त्रप्रक्रियया मन्त्रोदयस्थानाद्धृत्पद्मात् प्रभृति । अयनमिति कालाधिकार-वक्ष्यमाणया 'प्राणे दिनोदय' इति स्थित्या प्राणादित्यस्य मध्याह्नगताश्रयं तालुस्थान-मष्टादशाङ्गुलान्तमिह विवक्षितम् । तच्च 'मायाग्रन्थ्यात्मकं रुद्रस्थानं दुर्भेदमित्यशिक्षित-तदनुप्रवेशस्य तु मध्यनाड्या नासिकाग्रं भ्रूमध्यमेश्वरं स्थानं प्राप्नोति, एवमप्यभिन्न-

---

श्वास चार के तीन अयन होते हैं । १-पहला अयन नाभिपद्म से जहाँ से प्राणोदय हुआ वहाँ से तालु स्थान पर्यन्त होता है । इसकी लम्बाई १८अंगुल की होती है । २-दूसरा अयन तालुस्थान से नासिकाग्र पर्यन्त छः अङ्गुल का होता है और ३-तीसरा अयन नासिकाग्र से शक्त्यन्त १२अङ्गुल का होता है । इस तरह ३६अङ्गुल का एक प्राण सूर्य का दिनोदय माना जाता है ।

इस सन्दर्भ को समझना बहुत आवश्यक है । इस श्लोक में प्रयुक्त नासिकाग्र और शक्ति दोनों शब्दों से यहाँ उलझन पैदा हो गयी है । इसलिये इसे पहले समझ लेने से उलझन सुलझ सकती है । सामान्य रूप से नासिकाग्र नाक का अगला नुकीला भाग माना जाता है । श्रीमद्भगवद्गीता में इस शब्द का प्रयोग किया भी गयाहै ।

शक्त्यन्त के दो अर्थ लगाये जाते हैं । १-शक्ति का अन्त शिव में होता है । अतः शक्त्यन्त शिव बिन्दु है । २-शक्तिकेन्द्र नादान्त और व्यापिनी के बीच का शून्य बिन्दु माना जाता है । इस अर्थ में शक्त्यन्त व्यापिनी का शून्य बिन्दु माना जा सकता है या समना का सहस्रार माना जा सकता है ।

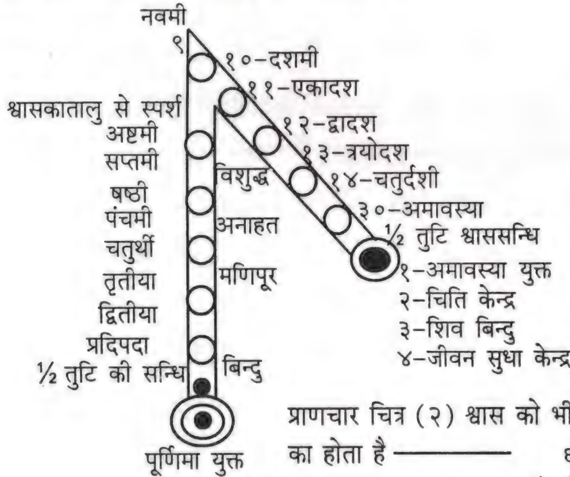
अब अपनी श्वास की गति को देखें और उसी के साथ इन शब्दों को घटित करें । इनके पहले एक मुख्य दृष्टिकोण पर विचार कर लें । वस्तुतः श्वास का स्वाभाविक क्रम नाभि से चलकर तालु का स्पर्श करते हुए नासिकाग्र से बाहर चिति केन्द्र नामक शिव बिन्दु में समाहित होना है । यह३६अंगुल और सोलह तुटियों की श्वास यात्रा है । जहाँ से श्वास चलता है, वह स्थान नाभिकेन्द्र और श्वास की सन्धि होती है । यह सन्धि ½ तुटि की होती है । इसके बाद प्रतिपदा तिथि क्रम से द्वितीय तृतीय आदि तुटियाँ तिथि रूप से शिव बिन्दु तक पहुँचती हैं । वहाँ भी ½ तुटि की सन्धि होती है ।

दो अभिसन्धियों की ½+½ मिलकर १तुटि और बीच की पन्द्रह तुटि रूप तिथियाँ मिलकर ही सोलह तुटियाँ सिद्ध होती हैं । इसे इस चित्र से समझना चाहिये । इसमें चित्र संख्या (१) के मातृकेन्द्र से श्वास अंकुरित हुआ । पुनः प्रतिपदा क्रम से द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी,

भ्रूग्रन्थस्तस्मिन् नासिकाग्रे । द्वितीयमिति षडङ्गुलं भागं ज्यजेत्, तत्प्रवेशमनासाद्य पार्श्वनाडीद्वयेन यावच्छिक्षिततदनुप्रवेशस्य तु शक्त्यन्तं ब्रह्मबिलपर्यन्तमाश्रयति, तथाप्य[१]स्वीकृतशाक्तबलस्य शक्त्यन्ते तस्मिंस्तृतीयं भागं द्वादशाङ्गुलं ज्यजेत्, तत्रान्तरज्ञस्य ब्रह्मरन्ध्रेणाधः प्रसरेत् ॥२३६॥

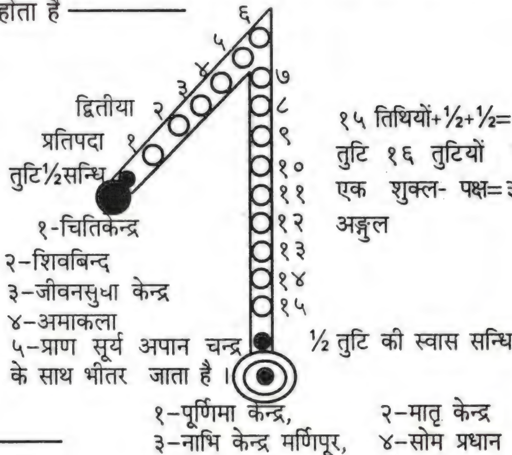
एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी और अमावस्या तिथियाँ १५तुटियाँ बीत जाती है । अमा के बाद ½ तुटि की सन्धि होती है । इस प्रकार १६तुटियों और १५ तिथियों की यह यात्रा मातृकेन्द्र से चलकर शिव बिन्दु तक होती है । यह दिन होता है । प्राण का आदित्य पूर्णिमा के बाद प्रतिपदा (कृष्ण पक्ष) से अमावस्या में अस्त हो जाता है । यहाँ उसे शिव, जीवन तत्त्व का वरदान देकर सोमरूप से वापस भेज देते है । इस पूर्णिमा केन्द्र में शरीर के भीतर आने की श्वास यात्रा में भी १६तुटियों में ½+½+१५ तिथियाँ होती हैं । इसे चित्र (२) में देखें ।

प्राणचार चित्र (१) कष्णपक्ष का पूरा प्राणचार



३६ अङ्गुलमें १६तुटि या २¼ अङ्गुल की एक एक तिथि । इस तरह १५ तिथियाँ और ½+½ सन्धि= १तुटि मिलकर एक चार में १६ तुटियाँ होती हैं । आमावस्य केन्द्र । इस केन्द्र में जीवन सुधा भरी होती है । अपानचन्द्र और प्राण सूर्य इसमें अस्त हो जाते हैं । अतः इसे अमाकला केन्द्र कहते हैं । यह कृष्णपक्ष होता है ।

प्राणचार चित्र (२) श्वास को भीतर जाने का चित्र यह शुक्लपक्ष का होता है ————



१५ तिथियों+½+½= १ तुटि १६ तुटियों का एक शुक्ल- पक्ष=३६ अङ्गुल

---

१. ख.पु. अस्वात्मीकृतेति पाठः ।

प्राणापानवाह में श्वास प्राण सूर्य और अपान चन्द्र के रूप में शरीर से बाहर आता है और फिर भीतर जाता है । यह सोहं रूप अजपाजाप कहलाता है । एक श्वासनि:श्वास में दो पक्ष और एक महीना का समय लगता है । दिन रात में एक व्यक्ति २१६००बार श्वास लेता है । यह सामान्यतया सबके श्वास का स्वरूप है । इस शिव बिन्दु से अंकुरित सृष्टि, शक्ति की चमत्कार के रूप में प्रतिफलित होती है । इस प्रक्रिया में श्वास का एक यत्नज स्वरूप भी होता है । इसे प्राणायाम कहते हैं । पूरक, कुम्भक और रेचक रूप यत्न सिद्ध प्रयत्नों की अनेकानेक विधियाँ योगी लोग अपनाते हैं । यह एक पृथक् विषय है ।

श्वास की एक तीसरी विधि भी है । इसे योगसिद्ध और तन्त्रविद् साधक लोग अपनाते हैं और श्वासजित् हो जाते हैं । परानन्द सन्दोहप्रदा यह प्राण विधि अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है । बिना इसके जाने या इसकी साधना किये शिवैक्य रूप शैव महाभाव का सामरस्यात्मक आनन्द उपलब्ध नहीं हो सकता । इस विधि का संकेत २३६ श्लोक में है ।

तन्त्र यह स्वीकार करता है कि, आणव समावेश की उच्चार,करण, ध्यान, वर्ण और स्थान प्रकल्पन रूप साधनाओं से शाक्त समावेश की उच्चार रहित साधना से तथा शाम्भव समावेश की अकिञ्चित् चिन्तन साधना रूप तीनों समावेशों की साधना से शैव महभाव भावित सिद्ध साधक के लिये जीवन्मुक्ति हस्तामलकवत् उपलब्ध है और तीनों साधनाओं से परतत्त्व विदित हो जाता है । यहाँ जिस प्राणसंचार का उपदेश भगवान् भैरव भट्टारक दे रहे हैं, यह आणव समावेश की उच्चार साधना के ही अन्तर्गत है । विषय के विस्तार का हमारा तात्पर्य पाठकों को वास्तविकता से परिचित कराना है ।

उक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, श्लोक २३६ में प्राणापानवाह की सामान्य प्रक्रिया का ही वर्णन है । इसमें नासिकाग्र नासिका अग्रभाग ही है । इसी तरह शक्त्यन्त का अर्थ पूर्णिमा केन्द्ररूप मातृकेन्द्र से अमाकला में समाहित होने वाली सन्धिमती तुटि है ।

इस तरह पौर्णमास केन्द्र रूप मातृकेन्द्र से तालु तक एक अयन, तालु स्पर्श से नासिकाग्र तक छः अङ्गुल का दूसरा अयन तथा नासिकाग्र से शिव बिन्दु में मिलने की सन्धि रूप शक्त्यन्त बिन्दु ही शक्त्यन्त अयन है । यही जीवनी शक्ति का चमत्कार है कि, श्वास लेने वाला जीवित सृष्टि के अङ्गरूप में उल्लसित रहता है ॥२३६॥

तत्रस्थो विनिवर्तेत यावत्तत्त्वं न विन्दति ।
विदिते तु परे तत्त्वे तत्रस्थोऽपि न बाध्यते ।।२३७।।

एतदेव तत्रस्थेत्यादिना श्लोकार्धेनोक्तमत एवासादितशाक्तबलः समग्र-ग्रन्थिसंचाराभिज्ञः परस्मिंतत्त्वे विदिते । तत्रेत्यु[१]क्तेषु ग्रन्थिस्थानेष्वपि स्थितो न बाध्यते, न देहादिप्रमातृतावैवश्यमेतीति यावत् । अतश्च परतत्त्वज्ञप्तिपर्यन्तः प्राणसंचारः शिक्षणीय इति पिण्डार्थः ।।२३७।।

शिव बिन्दु में समाहित श्वास ही तत्रस्थ प्राण है । वह वहाँ से लौटता है । मातृकेन्द्र को छूकर वह पुनः लौट आता है । यह क्रम जीवन पर्यन्त चलता रहता है । इस प्रक्रिया में तत्त्व ज्ञान भी अवश्य घटित होता है ।

ऊपर श्वास की तीसरी विधि की चर्चा हमने की है । वह विधि भी नाभिकेन्द्र से ही प्रारम्भ होती है । इसमें पहला अयन नाभिकेन्द्र से तालु स्पर्श तक है । दूसरा अयन तालुरन्ध्र से उदानवायु के माध्यम से आज्ञाचक्र तक तालुरन्ध्र से भ्रूमध्य पर्यन्त छ अंगुल का होता है । इस पक्ष में नासिकाग्र का अर्थ नासिका का ऊपरी केन्द्र है । भ्रूमध्य से शक्त्यन्त अर्थात् समना रूप सहस्रार का मूल मध्य बिन्दु माना जा सकता है । यह बारह अंगुल का अयन है । इस दृष्टि से 'तत्रस्थ' शब्द का अर्थ सहस्रार का मध्य मूल बिन्दु माना जाना चाहिये । यहीं उन्मना में प्रवेश मिलता है । वहाँ से प्राण का पुनः विनिवर्त्तन होता है । यह विनिवर्त्तन तत्त्व भाव में प्रवेश पा जाने पर बन्द भी हो जाता है ।

वही अवस्था श्वासजित् अवस्था होती है । परतत्त्व के विदित होने पर चाहे वह शिव बिन्दु रूप चितिकेन्द्र में तत्रस्थ हो, या उन्मना में तत्रस्थ हो, उसके लिये कोई विघ्न या उसके परात्मक संवेदन में कोई बाधा नहीं आती ।

इस अवस्था में साधक शाक्तबल से समन्वित हो जाता है । आचार्य क्षेमराज इसे आसादित शाक्तबल की संज्ञा से विभूषित कर रहे हैं । मूलाधार से उन्मना तक की समस्त ग्रन्थियों के भेदन की कला में वह दक्ष हो जाता है । चक्रों से श्वास संचार की कला का कोविद बन जाता है । इस अवस्था में किसी चक्र में धारणाशक्ति से अवस्थित रहे, उसे कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता । वह देहादि प्रमातृता के अशुद्ध अहंकार से प्रभावित नहीं होता । इसलिये कि, प्राणसंचार का ज्ञान सिद्ध हो जाता है ।।२३६-२३७।।

---

१. ख.पु. तत्रत्यक्तेति पाठः ।

अत्रैव संचारे पारिभाषिकी: संज्ञा उद्धाटयति–

शक्त्या चाधो यदा गच्छेदबुधस्तु तदा भवेत् ।

शक्तिपर्यन्तेऽपि पदे लब्धे तत्त्वेऽनारोहात्[१] ।

यदा तु तदारोहाय–

हृद्गतः पुनरुत्तिष्ठेद्बुध्यमानः स उच्यते ।।२३८।।

ततश्च–

शक्तिं प्राप्य बुधो ज्ञेयः

ततोऽपि शाक्तबललाभात् तत्त्वारोहयुक्तिज्ञस्य–

व्यापिन्यंशे प्रबुद्धता ।

यदा तु ततोऽप्यूर्ध्वमारोहति तदा समनापर्यन्तमशेषमध्वानम्–

अतीतः सुप्रबुद्धस्तु

परतत्त्वानुलाभात् । अबुद्धरूपतैवेति केचित् तदसत् । तस्येह प्राकरणिकत्वेऽपि सुप्रबुद्धैकरूपत्वात्, गुरुत्वायोगात् ।

अस्य च–

उन्मनस्त्वं[२] तदा भवेत् ।।२३९।।

मन:संस्कारस्यापि क्षयात् ।।२३९।।

शिवबिन्दु से शाक्त अङ्कुर द्वारा जब साधक शरीर के भीतर की ग्रन्थियों की ओर विनिवर्त्तन करता है, उस समय उसकी संज्ञा अबुध होती है । क्योंकि वहाँ पहुँच कर भी उसे नीचे लौटना ही पड़ा ।

हृत्केन्द्र से जब पुनः ऊपर की यात्रा करता है, तो प्रबुध्यमान कहलाता है ।।२३८।।

जब वह हृदय से चलकर शक्ति केन्द्र का अधिकारी बनकर शाक्त सिद्ध हो जाता है, तो वह 'बुध' माना जाता है । शाक्तबल से वरिष्ठ बन जाने पर जब तत्त्वारोह की युक्ति अपना कर आगे बढ़ता है और व्यापिनी के क्षेत्र में आता है, तब उसे 'प्रबुद्ध' कहते हैं । व्यापिनी को पार कर समना के सहस्त्रार में प्रवेश कर लेता है, तो 'सुप्रबुद्ध' कहलाता है । उसके आगे 'तत्संवित्ति' की अवस्था में उन्मना में उसका प्रवेश हो जाता है, तो उसके मन के सारे संस्कारों का क्षय हो जाता है । यही साधक की वह अवस्था मानी जाती है, जहाँ वह सतत शिवविमर्श में जीवन जीने का सौभाग्य प्राप्त कर लेता है ।।२३९।।

---

१. ख.ग.पु. रोहणादिति पाठः । २. ख.पु. उन्मनात्वमिति पाठः ।

किञ्च–

न कालो न कला चारो न तत्त्वं न च कारणम् ।
सुनिर्वाणं परं शुद्धं गुरुपारम्परागतम् ।।२४०।।
तद्विदित्वा विमुच्येत गत्वा भूयो न जायते ।

कालस्तुट्यादिः परार्धन्तः, कला निवृत्त्यादिका, चारः प्राणवाहः, तत्त्वं पृथिव्यादि, कारणं ब्रह्मादि, सुनिर्वाणमिति पराद्वयमयत्वात्, अत एव परं शुद्धं शुद्धाशुद्धसदाशिवादिपदादपि प्रकर्षाद् गुरूणां परम्परैव पारम्परं परभैरवतच्छक्ति-सदाशिवेशा[१]नन्त–श्रीकण्ठादिरूपं तत आगतम् । विदित्वेति अनुभूय, विमुच्यत इति जीवन्नेव विमुक्तः स्यात्, गत्वेति देहान्ते तदैकात्म्यमेति ।

अथाध्वषट्कविभागमाह–

अध्वषट्कं यथा प्राणे संस्थितं कथयामि ते ।।२४१।।

उस श्वासजित् योगी के लिये काल की कलना कीलित हो जाती है । कला का आकलन भी नहीं रहता । श्वासचार रुक जाता है । तत्त्व भाव से वह ऊपर उठ जाता था । कोई कारण नहीं काम करता । कारण न रहने से सारे कार्य समाप्त हो जाते हैं । उस दशा को सम्यक् निर्वाण की दशा कहते हैं । परात्मक शुचिता की यह अवस्था गुरु परम्परा से प्राप्त वरदान की तरह मानी जाती है । जिस साधक को यह विदित हो जाता है, उसकी मुक्ति हो जाती है । वह आवागमन के बन्धन से विमुक्त हो जाता है ।

काल, तुटि से परार्द्ध तक की समय गणना का माप माना जाता है । निवृत्ति आदि पाँच कलायें भी प्रसिद्ध हैं । चार प्राणापानवाह को कहते हैं । तत्त्व ३६ होते हैं । कारण ब्रह्मा विष्णु और रुद्र देवता माने जाते हैं । सुनिर्वाण अद्वयमय परावस्था होती है । परमशुद्ध गुरु परम्परा का प्रकर्ष इस अवस्था की विशेषता मानी जाती है । यह उच्च अवस्था गुरु परम्परा से ही प्राप्त होती है । इसे जानकर व्यक्ति जीवन्मुक्त हो जाता है । देहान्त के बाद शैवतादात्म्य उपलब्ध हो जाता है । उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।।२४०।।

प्राण में छः अध्वा की अवस्थाओं की स्थिति पर प्रकाश डाल रहे हैं–

भगवान् कहते हैं कि, देवि ! मैं यथावत् तुम्हें सुना रहा हूँ । १–पैर से लेकर मूर्धापर्यन्त चितिशक्ति का अर्थात् चेतना का, संवेदन का पूरा क्षेत्र भुवनाध्वा माना जाता है ।

---

१. क.पु. ईशानानन्तेति पाठः ।

आपादान्मूर्धपर्यन्तं चितेः संवेदनं हि यत् ।
भुवनाध्वा स विज्ञेयस्तत्त्वाध्वा च तथैव हि ।।२४२।।

इह तस्य भावस्तननात्तत्त्वमिति व्युत्पत्त्या निरुक्त्या च विशेषनिष्ठः सामान्याभासः शरीरभुवनभावविरचनाहेतुः तत्त्वम्, तदाभोगः शरीरभुवनादिर्यथा देहमृद्दारुपाषाणादौ काठिन्याभासः पृथिवीतत्त्वमेव नान्यत् । सामान्याभासश्च चिद्भित्तौ भाति परचिद्भूमौ च सर्वं चिदेकरसमिति न कोऽपि विभागस्ततः 'प्राक् संवित्प्राणे परिणता' इति न्यायात् प्राणसंकोचिन्यास्तस्याः प्राणत्वारोहेण देहमप्यश्नुवानायास्तत्त्वप्रतिभासरूपं स एव तत्त्वाध्वा घटत इत्यभिप्रेत्यापादान्मूर्धान्तं यच्चितेः संवेदनं तत्तत्काठिन्यादिप्रतिभासरूपं स एव तत्त्वाध्वा भुवनाध्वा चेत्युक्तम् । तत्त्वसत्तयैव च भुवनसत्तापि सौक्ष्म्येणानुमी-

---

तस्य भावस्तत्त्वम् इस निरुक्ति और व्युत्पत्ति के अनुसार अथवा तननात् तन्त्रम् इस विग्रह के आधार पर विशेष में निष्ठ सामान्यात्मा आभास यह सिद्ध करता है कि, शरीर में भुवन भाव का ही तनन है । यही इस रचना का आधार है, हेतु है । यह तत्त्व भाव में अर्थात् शरीर बीज में तनन का संरचनात्मक रूप है । यह विशेष में सामान्य का विस्तार है ।

उपर्युक्त हेतुवाद शरीर और भुवन दोनों में घटित होता है । मिट्टी में, पाषाण में और काष्ठ आदि में काठिन्य का आभास क्यों होता है ? यह विचार करने पर इस बात का पता चलता है कि, यह पृथ्वीत्व के कारण होता है । भुवनाध्वा का स्वरूप क्या है ? थोड़ी गहरायी से सोचें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि, चिद्भित्ति में सामान्य आभास आभासित होता है । परात्मक चिति में तो सब कुछ चिदेकरस रूप ही रहता है । वहाँ किसी प्रकार का विभाग नहीं होता । उसी एकरसता में सर्वप्रथम संवित् प्राण रूप में परिणत होती है । यह एक उक्ति ही है कि, 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' । इसके अनुसार यह एक प्रकार का संवित् का संकोच ही था, जो संवित् की चिदेकरसत्ता से प्राण रूप में रूढकर दिया गया । प्राण बना तो प्राण के लिये देह चाहिये ही । यह देह क्या है ? इसे शास्त्र तत्त्वाध्वा में चिति का आभास मात्र मानते हैं । चिति शक्ति ही संकुचित होकर देह में प्राण रूप से अवारोहण करती है । इस तरह देह भाव को वह प्राप्त कर तत्त्वाध्वा का आधार बन जाती है । यह तत्त्वाध्वा उसी का प्रतिभास है ।

इस बिन्दु पर थोड़ा और गहरायी से विचार करें । पाठक अपने शरीर में ही पैर से शिर तक होने वाले चिति शक्ति के संवेदन में कठिनता (घनता) के प्रतिभास को देखें कि, क्या होता है ? इस रूप में भुवनाध्वा के पहले ही तत्त्वाध्वा भी प्रतिफलित है, यह प्रतीत होने लगेगा । यह निश्चित और ध्रुव सत्य है कि, तत्त्व की सत्ता पर ही भुवन सत्ता भी सूक्ष्म रूप से अनुभूत होती रहती है ।

यते । प्राणचारो हृदयाच्छक्त्यन्तं षट्त्रिंशदङ्गुल उक्तः । अध्वषट्कविभागस्तु प्राणैकत्रेति समस्तदेहव्यापिसूक्ष्मप्राणमात्र एवोद्दिष्टो न तु प्राणचार इत्यापादादित्यादिका युक्तैवोक्तिः । तत्त्वानां चोद्देशान्ते श्रीमतङ्गेऽप्युक्तम्–

'तत्त्वं वस्तुपदं व्यक्तं स्फुटमाम्नायदर्शनात् ।
ततमेतेन वा यस्मात्तत्त्वं तत्त्वसन्ततौ ॥'

इति । तथा–

'शिवाद्यवनिपर्यन्तो योऽयमध्वातिविस्तृतः ।
स समस्तश्चितो ज्ञेयो नाशिवत्वाद्विमुच्यते ॥'

इति ॥२४२॥

प्राणे कलाध्वस्थितिमाह–

कलाकलितसंतानः प्राणः सञ्चरते सदा ।

कलाभिः कलितो व्याप्तः सन्तानः प्राणवाहो यस्य ।

अस्य हि–

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च अधोभागे प्रवर्तिके ।।२४३।।

जहाँ तक प्राणचार का प्रश्न है, हृदय से शक्ति पर्यन्त का यह अन्तराल ३६अंगुल का ही शास्त्र में उक्त है। यह प्राणचार का दिक् है। संविद्रूप प्राणसत्ता के आधारभूत देह में ६अध्वावर्ग को निहित माना जाता है। प्राण सारे शरीर में सूक्ष्म रूप से व्याप्त और उल्लसित है। यह सभी शास्त्रों का कथन है। इसलिये प्राण की पैर से मूर्धा पर्यन्त व्याप्ति की बात अक्षरशः सत्य लगती है। तत्त्वों के कथन सन्दर्भ में मतङ्ग शास्त्र में कहा गया है कि,

व्यक्त वस्तु-सत्त्व ही तत्त्व है। आम्नायगत दर्शन से यह बात सिद्ध होती है। 'एतेन ततमिति तत्त्वम्' यह परिभाषा भी यहाँ चरितार्थ हो जाती है।'

यहाँ यह भी उल्लेख है कि, शिव से अवनि पर्यन्त अथवा शिवादिक्षित्यन्त अत्यन्त विस्तार प्राप्त यह अध्वव्याप्ति है। यह सारा व्याप्त भाव 'चित्' तत्त्व का ही विस्तार है। जो साधक शिव के पक्ष में अग्रसर है और उसी के विस्तार का अनुभव करता है, वही मुक्त माना जाता है। अशिव भाव से मुक्ति नहीं मिल सकती ॥२४१-२४२॥

प्राण में कलाध्वा की स्थिति के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे हैं–

कलाओं में कलित प्राणवाह अर्थात् प्राण के संचार क्रम से समन्वित प्राण सदा सक्रिय रहता है। इस प्राण के अधोभाग में निवृत्ति और प्रतिष्ठा कलायें संचरित रहती हैं। ऊर्ध्व भाग में विद्या और शान्ता कलायें रहती हैं। जहाँ तक शान्त्यतीता कला का प्रश्न है, यह प्राण में अधिष्ठित शक्ति ही है।

विद्या शान्तिस्तथा चोर्ध्वे शान्त्यतीता त्वधिष्ठिका ।

'आ पादान्मूर्धपर्यन्तम्' इत्युक्त्वा समस्तदेहव्यापी सामान्यप्राणनारूपः प्राण उद्दिष्टो यस्य प्राणापानाद्यात्मिका विशिष्टा वृत्तयः, ततोऽधोभागप्रवर्तिके इत्यादिकं सङ्गतमेव । ये तूर्ध्ववाहिप्राणाश्रयमेतद् इत्यभिप्रायेण अधोभागप्रवर्तिके इति पठित्वा अधोभागे प्रवृत्तिरवस्थितिर्विद्यते ययोरित्यादि श्लिष्टं व्याचक्षते, तेषां शक्त्या चाधो यदा गच्छेदिति (४/२३८) पूर्वोक्तं विस्मृतम्, जडस्य च शक्त्यात्मककलाव्यापकत्वमुक्तम्, न तु विपर्यय इत्यास्तामेतत् । एवंप्रायं व्याख्यानं बहु असमञ्जसं टीकाकृतामस्ति तत्स्वयमेवान्वेष्टव्यं ग्रन्थगौरवभयात् प्रतिपदं नोन्मीलितं कियन्मात्रं तु दर्शितम् ।

श्लोक २४२ में भुवनाध्वा के सन्दर्भ में पैर से लेकर शिर पर्यन्त समस्त शरीर में व्याप्त सामान्य प्राणनावृत्ति युक्त प्राण की चर्चा की गयी है । इसकी प्राणना वृत्ति में प्राण और अपान की समान वृत्ति काम करती है । इसलिये 'अधोभाग प्रवर्त्तिका' की उक्ति (२४३) की संगति बैठ जाती है ।

आचार्य क्षेमराज के इस कथन को मैं संगत नहीं मानता । लगता है प्राणापान साधना का उनका गुरुक्रम दूसरा था । प्राण चितिकेन्द्र से मातृकेन्द्र में पहुँचता है । अनाहत से नीचे मणिपूर चक्र में जब प्राण पहुँचता है, तो उसका वह अधोभाग होता है । अधोभाग को अपान से जोड़ा नहीं जाता है । जबकि निवृत्ति और प्रतिष्ठा अधः प्रवर्त्तिका मानी जाती हैं । वस्तुतः निवृत्ति और प्रतिष्ठा कलायें देहव्याप्त प्राण की गुल्फादि अधोभाग में अवस्थित रहती हैं । अतः अधोभाग की प्रवृत्ति के विशेषण से उन्हें विभूषित किया गया है ।

ये ऊर्ध्ववाही प्राण की आश्रय कैसे मानी जा सकती हैं ? अधोभाग में आने का प्रवर्त्तन चितिकेन्द्र (अमाकला) मध्य द्वादशान्त से होता है । वहाँ नासिका से होते हुए तालु स्पर्श करती हुई प्राणधारा विशुद्ध और अनाहत से होते हुए नासिकाकेन्द्र तक पहुँचती है । यहीं प्रतिष्ठा से चलकर निवृत्ति के साथ वह नाभिकेन्द्र में कुछ क्षणों तक विश्रान्ति प्राप्त कर पूरे शरीर को सोमात्मक सुधा से सींचती है । सुधा रिक्त होने पर जीवन तत्त्व के लिये चितिकेन्द्र की यात्रा करती है । यह स्वाभाविक क्रम है ।

यहाँ कोई श्लोक नहीं । श्लिष्ट व्याख्या गलत है । भगवान् की व्याचख्या सत्य है और सत्य पर आधारित है । यह सही है कि, आचार्य क्षेमराज यहाँ स्वयम् असमञ्जस में हैं और प्राणसाधना के दूसरे पथ से बोल रहे हैं ।

नीचे निवृत्ति, उसके ऊपर प्रतिष्ठा, उसके ऊपर (तथा चोर्ध्वे) विद्या और उसके ऊपर शान्ति (शान्ताकला) का अवस्थान है । उसके ऊपर शान्त्यतीता शक्ति प्राणाश्रयाधिष्ठिता के रूप में मध्य द्वादशान्त में विश्राम करती है । प्राण चाहे मध्य द्वादशान्त से अधोद्वादशान्त में शुक्ल पक्ष में आवे या अधोद्वादशान्त से मध्य या

हेयहान्या शिष्याणामुपादेये धीः प्ररोहत्विति कलातीतं पदं निरूपयितुमाह–

तदतीतः परो भावः

शान्त्यतीतामपि अतिक्रान्तः शुद्धात्मदशारूपः स्वभाव इत्यर्थः । अत एवोन्मनाप-रतत्त्वात्मकशक्तिशक्तिमत्सामरस्यात्मकम्–

तदूर्ध्वं पदमव्ययम् ।।२४४।।

यत्राप्त्यर्थमियान् शास्त्रसंरम्भः ।।२४४।।

प्राणे निवृत्त्यादिकलास्थितिमुक्त्वा मन्त्रकलास्थितिमप्याह–

एवं बिन्दुकला ज्ञेया नादशक्त्यात्मिकाश्च याः ।
व्यापिन्याद्यात्मिका याश्च व्याप्यव्यापकभेदतः ।।२४५।।
प्राणैकसंस्थिताः सर्वाः

अकारोकारमकारात्मानः कलाः प्राणैः सर्वैरुच्चरन्त्य उपलभ्यन्ते, यास्तु बिन्द्वाद्याः समनान्ताः क्रमेण व्याप्यव्यापक[1]भावेन स्थिताः, ताः सर्वाः प्राणे स्थिता ज्ञेयाः प्रयत्नेनानुभवितव्याः । बिन्दुनादव्यापिनीनां तिसृणां प्रधानतया इह उद्देशोऽर्धचन्द्रादिशक्तीनां यथायोगमेतदन्तर्भूतत्वेन प्राधान्यात् ।

ऊर्ध्वद्वादशान्त में जाये दोनों तीनों अवस्थाओं में कलाओं का यही क्रम पारम्परिक रूप से मान्य है । चाहे विशुद्ध से ऊपर आज्ञाचक्र होते हुए तीसरी अवस्था में उन्मना तक जाये या दूसरी मध्य द्वादशान्त में दोनों में समान प्राणाश्रयता है ।

यह ध्रुव सत्य है कि, हेय की हानि पर और उपादेय में प्रवेश पर ही शिष्यों की ऊर्ध्व की ओर प्रवृत्ति होती है । वह उपादेय की स्थिति है और उपादेय को भी अतिक्रान्त करने पर कलातीत पद आता है । इस भाव को ही भगवान् तदतीत भाव या पर भाव कहते हैं । शान्त्यतीता पद का भी अतिक्रमण इस भाव में हो जाता है । इससे ऊपर अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र के तत्समापत्ति स्थान सहस्रार से ऊपर उन्मना रूप परतत्त्वात्मक शक्तिमान् और शक्ति के सामरस्य से ओतप्रोत अव्यय पद आता है । वस्तुतः योगियों को शिवाभिमर्शिणी विश्रान्ति यहीं प्राप्त होती है । आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि, इसी पद की उपलब्धि के लिये क्रिया और ज्ञान योग का संरम्भ आजीवन अपनाना पड़ता है ।।२४४।।

प्राण में निवृत्ति आदि कलाओं की स्थिति के उल्लेख के बाद मन्त्र कला की स्थिति के सम्बन्ध में कह रहे हैं कि, इसी तरह बिन्दु कला के विषय में भी यह जान लेना चाहिये कि, ये सारी बिन्दु रूप से उपलक्षित कलायें प्राणतत्त्व में ही अवस्थित हैं ।

---

१. ख.पु. व्यापकत्वेनेति पाठः ।

अत एव–

षट्त्यागात्सप्तमे लयः ।

सर्वोपलभ्या अकारोकारमकारकलाः, योगगम्यास्तु बिन्दुनादव्यापिन्य इत्यासां षण्णामपि त्यागात्परमयोगिनां सप्तमे परशक्तिमति परतत्त्व एव 'लयो' विश्रान्तिः कार्या ।

एतदुपसंहृत्यान्यदवतारयति–

कलाध्वैवं समाख्यातो वर्णाध्वानं निबोध मे ।।२४६।।

वस्तुतः आज्ञा चक्र के ॐकार बीज से स्पन्दित और ऊर्ध्व स्फुरित अ, उ, मकारात्मिका कलायें प्राण के ऊर्ध्व आरोह में प्राण में ही अनुभूत होती हैं ।

अ, उ और म के बाद अत्यन्त सूक्ष्म बिन्दु कला आती है । बिन्दु से प्राण का ऊर्ध्वारोहण उदान वायु की प्रेरणा से ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर समना के सहस्त्रार चक्र तक पहुँचता है । इनमें एक स्वाभाविक क्रम पाया जाता है । इसे व्याप्य व्यापक सम्बन्ध क्रम कहते हैं । नीचे के बिन्दु व्याप्य और ऊर्ध्व ऊर्ध्वव्यापक होते हैं । ये सभी कलात्मक पड़ाव प्राण में ही उल्लसित हैं । योगी लोग प्रयत्न कर इस तथ्य से अवगत हो जाते हैं । बिन्दु से आगे आरोहण करने पर अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना इनमें श्लोक में केवल बिन्दु, नाद और व्यापिनी का ही कथन है । इससे यह प्रतीत होता है कि, इन तीनों की प्रधानता मानी गयी है । अकार, उकार, मकार, बिन्दु, नाद और व्यापिनी शक्तियों का यह षट्क योगमार्गी साधकों की साधनायात्रा के मुख्य पड़ाव हैं । शास्त्र में कहा गया है कि,

'छः शून्यों का त्यागकर साधक सातवें में लीन होता है ।'

यह सातवाँ स्थान कहाँ है, जिसमें लीन होने की बात शास्त्र करता है ? आचार्य क्षेमराज उसे ही परतत्त्व कहते हैं । परतत्त्व ही परशक्तिमान् तत्त्व है ।

इस विचार में भी मतभेद है । वस्तुतः क्षेप, आक्रान्ति, चिदुद्बोध, स्थापन, दीपन, तत्समापत्ति ये छः क्रियायें समना में तत्समापत्ति रूप अवस्था में समाप्ति को प्राप्त करती हैं । ये छः शून्य हैं । ये बिन्दु से समना पर्यन्त छः हैं । इनको अति-क्रान्तकर योगी साधक उन्मना में तत्संवित्ति अवस्था को प्राप्त करता है । वस्तुतः इस परशूलाब्ज में पराशक्ति का उल्लास संवित्ति रूप में शाश्वत स्फुरित रहता है । यही सातवाँ स्थान है । छः त्यागकर इसी पराशक्ति के परतत्त्वात्मक (अवियुक्तो यया प्रभुः) प्रभु में लीन होना ही प्राण यात्रा की पराकाष्ठा है ।

तमाह–

वर्णाः शब्दात्मकाः सर्वे जगत्यस्मिंश्चराचरे ।
स्थिताः पञ्चाशता भेदैः शास्त्रेष्वानन्त्यकोटिषु ।।२४७।।
शब्दात्प्राणः समाख्यातस्तस्माद्वर्णास्तु प्राणतः ।
उत्पद्यन्ते लयं यान्ति यत्र शब्दो लयं गतः ।।२४८।।

आनन्त्येन कोटिसंख्येषु शास्त्रेषु पञ्चाशता भेदैर्मातृकारूपैः 'चरे' जङ्गमे वाग्वति 'अचरे' चान्तःसंज्ञे स्थावरे तत्तदव्यक्तवाच्याक्षराद्यभिव्यञ्जके वर्णाः स्थिताः, ते च 'शब्दात्मकाः' शब्दनरूपाः, शब्दोऽपि प्राणनात्मा ध्वनिसतत्त्वश्च प्राणोऽत एवास्माद् ध्वनिरूपाद्वर्णा जायन्ते, यत्र च शब्दात्मा प्राणो लयं याति, तत्रैव वर्णा लीयन्ते, इति प्राणनात्मनि प्राण एव वर्णाध्वा स्थितः ॥२४८॥

इस विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् भैरव भट्टारक कला, तत्त्व और भुवन अध्वाओं के आख्यापन के अनन्तर वर्णाध्वा का कथन कर रहे हैं–

उनके अनुसार सभी वर्ण शब्दात्मक हैं । चराचर जगत् में ये स्पष्ट से व्यक्त हैं । ये पचास होते हैं । इनसे ही अनन्त कोटि भेद प्रभेदमय शास्त्र उत्पन्न होते और देखे जा सकते हैं । शब्द से ही प्राण की परिचिति होती है । इसलिये हम यह कह सकते हैं कि, वर्ण प्राण से ही समुत्पन्न होते हैं । उसी में लय होते हैं । वह स्थान प्राण ही है । जहाँ शब्द भी लय होते हैं ।

शास्त्र अनन्त हैं । इनकी संख्या करोड़ों में हो सकती है । यह भी ध्रवु सत्य है कि, ये सभी ५० (पचास) वर्णों में ही समाविष्ट हैं । चर अर्थात् जङ्गम प्राणियों में ये वर्ण वाक् रूप से व्यक्त होते हैं और अचर अर्थात् स्थावर में ये आन्तरिक रूप से विभिन्न प्रकार से अवस्थित एवं स्फुरित होते हैं । यह वर्णों का शब्दन व्यापार है ।

शास्त्र कहते हैं कि, शब्द प्राणन व्यापार से ओतप्रोत ध्वनि ही माने जाते हैं । इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि, ध्वनि से ही वर्णों की उत्पत्ति होती है । जहाँ शब्दात्मा प्राणलय को प्राप्त होते हैं, वहीं वर्ण भी लीन होते हैं । इसी आधार पर यह सिद्धान्त स्थापित किया जाता है कि, प्राणन व्यापाररूप प्राण में वर्णाध्वा की स्थिति है ॥२४६-२४८॥

यतश्च वर्णानां प्राणस्य चैकत्र लयस्ततः–

शब्दातीतो वरारोहे तत्त्वेन सह युज्यते ।
युक्तः सर्वगतो देवि धर्माधर्मविवर्जितः ।।२४९।।
नाधो निरीक्षते[1] भूयः शिवतत्त्वं गतो यदा ।

तत्त्वेन परमशिवेन सह 'युज्यते' ऐक्यमेति, अत एव सर्वगतो 'धर्माधर्माभ्यां' प्राणापानाभ्यां शुभाशुभाभ्यां च रहितः । अध इति इदन्तारूपो भेदः । यदेति यतः ।

एतदुपपादयति–

अधो वै यात्यधर्मेण धर्मेणोर्ध्वं व्रजेत्पुनः ।।२५०।।

अधर्मेणाशुभेनाधः स्थावरान्तमपाना[2]त्मदेहभूमिम्, धर्मेण शुभेन देवयोन्यादिताम्, प्राणात्मना तु शक्त्यन्तं व्रजति ।

वर्णों और प्राण का एकत्र लय होता है, इस कथन के साथ ही यह प्रश्न उठता है कि, वह कौन सा स्थान है जहाँ ये दोनों लीन होते हैं ? यदि वह शब्दातीत है, तो भगवान् कहते हैं कि, देवि ! तत्त्वभाव में युक्त हो जाता है । युक्त होने पर वह सर्वगत हो जाता है क्योंकि, तस्य भावस्तत्त्वम् के अनुसार तद्ब्रह्म में वह विलीन हो जाता है । और परमशिव रूप ब्रह्म जैसे सर्वव्यापी है, उसी तरह शब्द और प्राण और वर्ण सभी सार्वात्म्य में अवस्थित हो जाते हैं । यह निश्चित रूप से मान्य होना चाहिये ।

यह सर्वगत भाव धर्म अधर्म के संकुचित सिद्धान्तों से एकदम रहित होता है । यह विचारणीय है कि, जो नीचे की निम्नताओं से ऊपर उठ जाता है, वह निश्चित ही शिवतत्त्व में ही समाविष्ट हो जाता है । निम्नदृष्टि उसकी समाप्त हो जाती है । यह धर्माधर्म दृष्टि प्राणापान या शुभाशुभमयी दृष्टि ही है । इस प्रकार के संकोच से सर्वगत और शिवैक्य स्थिति को प्राप्त कर लेता है । अधोभाव ही इदन्ता भाव है । इससे ऊपर उठने पर भेदवाद सदा के लिये मिट जाता है ।।२४९।।

यह शास्त्रीय और व्यावहारिक अनुभूत तथ्य है कि, धर्म का मार्ग ऊर्ध्व की ओर अग्रसर करता है अधर्म का मार्ग अधोगामी होता है । अधः अव्यय इसी अवधारणा की पुष्टि करता है । अधर्म के मार्ग से किसी तरह के शुभ की आशा नहीं की जा सकती । अधर्म सदा अशुभ होता है । यहाँ अधः का अर्थ स्थावर पर्यन्त अधर्म रूप अपान जन्य देह भूमि रूप संसार चक्र लेना चाहिये और धर्म रूप शुभ प्राण मार्ग से परतत्त्व की उपलब्धि मानी जाती है । प्राणन व्यापार से यह महती उपलब्धि अवश्यम्भावी है ।।२५०।।

---

१. क.पु. निरीक्षित इति पाठः । २. ख.पु. अपानेनानात्मेति पाठः ।

विज्ञानेन द्वयं त्यक्त्वा सर्वगस्तु भवेदिह ।

उपसंहरति–

वर्णाध्वैवं समाख्यातः पदाध्वा प्रोच्यतेऽधुना ।।२५१।।

एतद्द्वयं तु विशिष्टेन शिवैक्यात्मविमर्शात्मना ज्ञानेन त्यक्त्वा इहेति देहाधः स्थितोऽपि सर्वगः शिवो भवति ।

एकाशीतिपदान्येव विद्याराजस्थितान्यपि ।
वर्णात्मकानि तान्यत्र वर्णाः प्राणात्मकाः स्थिताः ।।२५२।।

ये शुभाशुभ, प्राणापान और धर्माधर्म रूप तीन द्वयक विचित्र हैं । इन छः कारकों में पहले तीन कल्याणकारी हैं और दूसरे तीन कारक भयप्रद हैं । इसलिये साधक इन दोनों का परित्याग करता है । वह शुभ-अशुभ से, धर्म-अधर्म से और प्राणापानवाह तीनों का परित्याग करता है । यह परित्याग विज्ञान के माध्यम से होता है । इस विज्ञान को शिवैकात्म्यविमर्श विज्ञान कहते हैं । देह भूमि में निवास करते हुए भी साधक इस विज्ञान से सर्वगत शिव को उपलब्ध हो जाता है ।

इस विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, इस प्रकार वर्णाध्वा का व्याख्यान पूरा हुआ है । इसमें शब्दन, प्राणन और वर्णध्वनन व्यापारों का विशद विवेचन करके यह बताया गया है कि, इन व्यापारों से अतीत स्थिति में पहुँचने वाला साधक शिवैक्य विमर्श के माध्यम से देह भूमि में रहकर भी शिवपद की प्राप्ति कर सकता है । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! इसी क्रम में मैं तुम्हें पदाध्वा के सम्बन्ध में बतलाने जा रहा हूँ । तुम इसे सुनो और निश्चयात्मक बोध प्राप्त करो ।।२५१।।

पद भी वर्णात्मक ही होते हैं । वर्ण भी प्राण रूप ही होते हैं । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, पद भी प्राणात्मक ही हैं । पदों की संख्या इक्यासी (८१) होती है । इस संख्या में अष्टधा प्रकृति और एक परमशिव दोनों दो नहीं रह जाते । कहते हैं–'एकाशीति पदा देवी' शिव और शिवा विद्याराज नामक महामन्त्र में एकी भाव से विराजमान हैं । विद्याराज मन्त्र एक ही है किन्तु एक होते हुए भी यह नवात्मक है । १-ह् २-र् ३-क्ष् ४-म् ५-ल् ६-व् ७-य् ८-ऊ+९-बिन्दु मिलकर नौ वर्णों में ही विद्याराज मन्त्र पूर्ण होता है । आचार्य क्षेमराज कह रहे हैं कि, 'नवान्येकाशीति पदानि' । इन्हें प्राग्विभक्त भी कहते हैं । वस्तुतः अकार से लेकर शक्ति पर्यन्त की योग यात्रा में ९पड़ाव ही आते हैं । विद्याराज के नौ पद प्राणात्मकता के वर्णप्रवाह में जब प्राणन व्यापार से उठते हैं तो इनका गुणन ९×९=अर्थात् इक्यासी हो जाता है ।

तस्मादेवं पदान्यत्र तानि प्राणक्रमेण तु ।

एकस्मिन्नपि विद्याराजे नवात्मन्येकाशीतिपदानि[1] प्राग्विभक्तनीत्या यानि स्थितानि तान्यपीदानीमेव निर्णीतनीत्या वर्णात्मकानि, वर्णाश्च प्राणरूपास्तदात्मकत्वात् पदानाम् ॥२५२॥

पदाध्वैवं समाख्यातः मन्त्राध्वानं निबोध मे ।।२५३।।
मन्त्रैकादशिका या तु सा च हंसे व्यवस्थिता ।
पदैकादशिका सा च प्राणे चरति नित्यशः ।।२५४।।

'हंसे' मध्यमे प्राणे नैष्कलवक्त्राङ्गरूपा 'मन्त्रैकादशिका' स्थिता यस्मात् 'सा पदैकादशिका' नित्योच्चरन्निष्कलकलारूपविश्रान्तिहेतुर्ब्रह्मादिवाचकाकारादि-समनान्तपदरूपा । निर्णीतं चैतत्पूर्वमेव ॥२५४॥

श्रीतन्त्रालोक आह्निक छः के श्लोक २२५-२२६ के अनुसार 'क' से 'म' के स्पर्श वर्णों की अर्धमात्राओं के ३३ पद+पाँच ह्रस्व स्वरों की अर्धमात्रा रूप १०पद+दीर्घ स्वरों की अर्धमात्रा रूप ३२पद और प्लुत की अर्धमात्रा के ६पद मिलकर ३३+१०+३२+६=इक्यासी पद ही होते हैं । इसी आधार शिव सूत्रों की संख्या भी इक्यासी ही मानी गयी है । दुर्गा सप्तशती में भी देवी को 'अर्धमात्रा स्थिता नित्यं यानुच्चार्या विशेषतः' के अनुसार ८१अर्धमात्राओं में ही अधिष्ठित माना गया है । ये सभी अर्धमात्रायें भी पद मानी गयी हैं । सभी पद प्राणात्मा वर्ण ही हैं ॥२५२॥

इस प्रकार पदाध्वा के स्वरूप और अवस्थान की चर्चा करने के बाद अब मन्त्राध्वा का निरूपण करने जा रहे हैं । इस विषय में सर्वप्रथम यह जान लेना भी अनिवार्य है कि, मन्त्राध्वा 'हंस' में अवस्थित है । 'ह' और 'स' अक्षरों के चामत्कारिक योग के आधार पर हंस भी प्राण ही है । हाँ इसे मध्यम प्राण कहते हैं । इसी में निष्कल वक्त्राङ्ग रूप मन्त्रों की एकादशिका भी प्राण में ही अवस्थित है । उसे भी पदैकादशिका कह सकते हैं । इसका कारण है । नित्य उच्चरित निष्कल कलाओं की विश्रान्ति के हेतु ब्रह्मादि वाचक देवों के बीजाक्षर अकार से समना पर्यन्त इन्हीं के व्यवस्थित रूप ही हैं । १-अ, २-उ, ३-म, ४-बिन्दु, ५-अर्धचन्द्र, ६-निरोधिका, ७-नाद, ८-नादान्त, ९-शक्ति, १०-व्यापिनी और ११-समना में ही ये विश्रान्ति प्राप्त करते हैं । इन्हें मन्त्र और पद दोनों संज्ञाओं से विभूषित कर सकते हैं । शरीर की संरचना में प्राणचार का यह चमत्कार केवल साधना निरत साधकों को ही अनुभूत होता है । अध्यात्म की इस योग-यात्रा में ये तथ्य अवितथ रूप में प्रत्यक्ष होते रहते हैं ।

१-श्री तं० ६/२२५-२२६

एतानि पदान्याह–

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ।।२५५।।
शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनैकादशी स्मृता ।

निष्कलनाथेऽकारकला यादृश्यस्ति, यादृशं चैतत्कलानां रूपं तददूर एव निर्णेष्यते ॥२५५॥

एकादशिकाया अस्या अध्वरूपतां दर्शयितुमाह–

उन्मना च ततोऽतीता तदतीतां निरामयम् ।।२५६।।

तत इति तां समनामतीता, तदतीतमिति तामुन्मनामतिशयेनेतं गतं तदभिन्नम् । उन्मनापरतत्त्वप्राप्तिहेतुत्वात्पदवर्णादीनामिव मन्त्राणामप्यध्वतेति यावत् ॥२५६॥

उपसंहरति–

मन्त्रा एवं स्थिताः प्राणे

बहिःस्थूलरूपस्याप्यध्वप्रपञ्चस्य मान्त्रकलोच्चारणे[१] सूक्ष्मरूपतया मन्त्रोच्चिचारयिषा मन्त्रविश्रान्तिदशायोगे पररूपतया मन्त्रोपयिक एवोपलम्भो भवतीत्याशयेन पर्यन्ते मन्त्राध्वा निर्णीतः ।

इन पदों का भी कथन ऊपर मैंने कर दिया है । निष्कलनाथ में अकार कला का जो रूप और इसकी जैसी सत्ता है ; प्रसङ्ग वश उसका निर्णय आगे की कारिकाओं में किया गया है ॥२५३-२५५॥

श्लोक २५२ में वर्ण प्राणात्मक ही हैं, यह स्पष्ट कर दिया गया है । पद भी प्राण में ही उच्चार क्रम में अवस्थित हैं । नित्य उच्चरित निष्कल रूप की विश्रान्ति के ये कारण हैं । इन पदों की गणना भी अकार से समना पर्यन्त श्लोक २५५½ में कर दी गयी है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि, वर्णों और पदों की तरह मन्त्रों की अध्वरूपता शास्त्र संमत है । क्योंकि, उन्मना रूप परतत्त्व की प्राप्ति के ये कारण हैं । उन्मना में अवस्थिति समना को अतिक्रान्त करने पर ही प्राप्त होती है । तदतीत का नैरुक्तिक अर्थ-'उस उन्मना में आतिशय्य रूप से इत अर्थात् समाहित है', यही लगाने की प्रक्रिया अपनानी चाहिये । यही निरामय स्थिति है ॥२५६॥

इस प्रकार वर्णों और पदों की तरह मन्त्र भी प्राण में ही अवस्थित हैं । बाह्य स्थूल प्रपञ्च में अध्वा की स्थिति स्पष्टरूप से अनुभूत की जा सकती है । इसमें मान्त्रिक कला का उच्चार सर्वत्र स्फुरित होता है । सूक्ष्मरूप से मन्त्रों के उच्चार की आकाङ्क्षा की अनुभूति और मन्त्रों की विश्रान्ति दशा की अनुभूति भी परात्मिका स्थिति में स्वाभाविक है । इस प्रकार परानुभूतियों के उपाय रूप में मन्त्र ही आते हैं । इस मर्ममयी मीमांसा को अन्त में इसीलिये रखा गया है कि, वर्णों और पदों की औपयिकता में मन्त्र सूक्ष्मरूप से अपनी मुख्यता बनाकर ही उल्लसित हैं ।

---

१. ग.घ.ङ.पु. मन्त्रकलोच्चारेणेति पाठः ।

क्रमप्राप्तः–

हंसोच्चारस्तथोच्यते ।

तमाह–

हकारस्तु स्मृतः प्राणः स्वप्रवृत्तो हलाकृतिः।।२५७।।

योऽयं हलाकृतिरनच्को हकारोऽनाहतध्वन्यात्मा–

'स्वयमुच्चरते देवि......।' (स्व. ७-५८)

इति भाविनीत्या स्वप्रवृत्तः–

'नादाख्यं यत्परं बीजं.....।'

इति तन्त्रान्तरोक्त[1]दृशा सर्वस्य स्वतः स्फुरन् स एष प्राणः प्राणनापरपर्यायो जीवः स्मृतो गुरुपारम्पर्येणाविच्छेदेनाधीतः । अथ च धूलिभेदानुसारेण हलाकृतिरशेषं विश्वं गर्भीकृत्य कुण्डलिन्याकारः प्रसुप्तभुजगरूपः । 'स्वप्रवृत्तः' इति स्वयमेव नादामर्शरूपतां निमज्ज्य प्राणात्मकं रूपमाविश्य स्थितः । यतः पारमेशी बोधाख्या शक्तिर्विश्वं गर्भीकृत्य परा कुण्डलिका सती विमर्शरूपतया नादात्मवर्णकुण्डलिकात्मना[2] स्फुरित्वान्तर्निमज्जि-

---

इसी क्रम में हंसोच्चार के विषय में, भगवान् भैरव अपने वाग्वरदान के माध्यम से सत्यतथ्य का उद्घाटन कर रहे हैं कि, 'हंस' शब्द में प्रथमतः प्रयुक्त वर्ण 'हकार' का निहितार्थ वस्तुतः प्राण ही होता है । प्राण का प्रतीक यह वर्ण स्वप्रवृत्त माना जाता है । इसी भाव को इसी ग्रन्थ को ७१-८५ में कहा गया है कि, 'हकार' रूप में देव भैरव प्राणरूप से स्वयम् उच्चरित होता है ।' 'यह नाद का प्रतीक परम बीज है । नादामर्शरूपता में समाहित यह वर्ण प्राण से स्वयं प्रवृत्त होता है । यही इसकी विशेषता है ।

इस विषय में गम्भीरता पूर्वक शास्त्रों में विचार किया गया है । यह सर्वत्र कहा गया है कि, प्राण सभी शरीरों में स्वतः स्फुरित होता है । इसे प्राणना व्यापार का प्रतीक 'जीव' भी कहते हैं । इसका दूसरा विशेषण 'हलाकृति' है । धूलि अर्थात् जुते खेत में हल से बनी गोल आकृति कुण्डलिनी से मिलती है । सोये हुए सर्प का आकार भी ऐसा ही होता है । मानो सारे विश्व को यह स्वात्मसात् करता है ।

इसका एक और भी रहस्यात्मक पक्ष है कि, पारमेश्वरी बोधशक्ति विश्व को स्वात्म में समाहित रखती हुई पराकुण्डली के रूप में, विमर्श के रूप में, नादात्मिका वर्णकुण्डली से स्वयम् स्फुरित होती है । उस रूप में शाश्वत रहते हुए भी वही शक्ति प्राणकुण्डलिका के रूप में भी स्फुरित होती है । इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता

---

१. ख.पु. दिशेति पाठः । २. क.पु. त्मतयेति पाठः ।

तैतत्स्वरूपा प्राणकुण्डलि[१]कात्मतया भातीत्याम्नायः । एवं च व्याख्यातरूपः प्राण एव हंस ऊर्ध्वमधश्च स्वरसेन वहन् हानसमादानधर्मकहकारसकारविमर्शरूपतया स्फुरणात् ॥२५७॥

अथात्रैव वर्णैः कारणत्यागं निर्णेष्यन् वर्णोच्चारं तावन्निरूपयति–

अकारेण यदा युक्त उकारचरणेन तु ।
मकारमात्रया युक्तो वर्णोच्चारो भवेत्स्फुटः ।।२५८।।

योऽयं नादात्मनो हंसस्य नित्यप्रवृत्त उच्चारः, स एव स्फुटो वर्णोच्चारो भवति, कथमकारेणानच्कहकारस्याभिव्यक्तिहेतुना शिरोरूपेण यदा युक्तस्तदा उकार एवोर्ध्वाधःसंचारकत्वाच्चरणरूपस्तेन तथा बिन्द्वादिप्रमेयासूत्रकानुसाररूपमकारमात्रया यदा युक्तः, ईदृशो हि उच्चरन्नसौ सर्वैरुपलभ्यते ॥२५८॥

है कि, प्राण ही 'हंस' रूप में ऊर्ध्व और अधः स्पन्दित होता है । यह स्वारस्य मय स्पन्दन ही प्राणापानवाह कहलाता है । इसे हान और समादानधर्मक हकार और सकार वर्णों के माध्यम से पारमेश्वर स्फुरण ही माना जाता है ॥२५७॥

इस विवेचन के साथ ही वर्णों के द्वारा कारणत्याग का निर्णय करते हुए वर्णोच्चार का निरूपण कर रहे हैं । वस्तुतः वर्णोच्चार की स्फुट अनुभूति सभी को होती है । सभी श्वास लेते हैं । उक्त नादात्मक 'हंस' के नित्य प्रवृत्त एवं स्वयं प्रवृत्त अयत्नज व्यापार को ही श्वास रूप से जानते हैं । इसे ही स्फुट वर्णोच्चार का माध्यम कहते हैं ।

इसके मूल में प्रवेश करने पर यह स्पष्ट जान पड़ता है कि, नादात्मक हंसका यह स्वयं नित्यप्रवृत्त उच्चार है । स्फुटतया यही उच्चार वर्णोच्चार बन जाता है । इसी से सर्वप्रथम हं और 'स' वर्णों की ध्वनियों की प्रतीति होती है । इस हकार का रूप क्या और कैसे होता है ? इसे स्वयम् देखिये । आपको लगेगा कि, वह इसका अनच्क उच्चारण है । अनच्क अर्थात् अच् रूप स्वर से रहित यह हकार वस्तुतः 'अ' कार ही है । 'अ'कार के बाद 'उ' बीज स्वर की भी वहाँ अभिव्यक्ति होती है । इसके बाद बिन्द्वादि प्रमेय के आसूत्रण के कारण 'म'कार वर्ण का वहाँ समायोजन स्वभावतः होने लगता है । यह प्रथम अभिव्यक्ति है । इसे ही (हूम्) ओम् कहते हैं । यही 'हंस' है । यही 'सोऽहं' है । यह उच्चार सार्वजनिक है और तनिक सी दत्तचित्तता से अनुभव में आ जाता है । यही तथ्य श्लोक में सरलता पूर्वक कहा गया है ॥२५८॥

---

१. ख.ग.पु. कारूपतयेति पाठः ।

अथ च–

बिन्दुः शिरःसमायोगात्सुस्वरत्वं[1] प्रपद्यते ।

उक्तरूपो वर्णोच्चार एव योगिनां भ्रूमध्येऽकारादिमात्रात्रयस्वीकृतनिःशेष-भेदसंपिण्डिताविभागवेदनात्मकबिन्दुरूपतामाश्रित्य शिरःसमायोगादिति शिरसि ललाटस्थे प्रशाम्यद्वेद्यप्राधान्येऽर्धचन्द्रे प्रशान्तवेद्यप्रधानतया ऊर्ध्वोन्मुख[2]त्वेन स्पष्टरेखात्मनि अयोगिनो नादपथ[3]प्रवेशरोधकत्वान्निरोधिकासमाख्ये सम्यगासमन्तात् योगात्तत्तत्पदारोहात् सुस्वरत्वं[4] गुणीकृतवेद्यभेदप्रधानेश्वरपदं समस्तवाचकावि-भेदविमर्शप्रधानान्नादनादान्तभूमिं गृहणातीत्यर्थः ।

उक्त रूप में वर्णोच्चार सभी श्वास जीवियों में स्वतः होता रहता है । इसी का अनुभव योगियों को दूसरी तरह होता है । उनके भ्रूमध्य में अकार, उकार और मकार की तीन मात्रात्मक स्फूर्तियाँ श्वास के साथ ऊर्ध्वग होने के पहले अविभाग भाव से वहाँ सपिण्डित रहती हैं । अविभाग रूप से उनके संवेदन से साधक परिचित रहता है ।

उदान वायु के माध्यम से तालुरन्ध्र द्वारा जब श्वास आज्ञाचक्र के ॐकार बीज को ऊर्ध्वग होने को प्रेरित करता है, उस समय ॐकार के अन्त में उल्लसित वर्ण बीजों में एक अदृश्य स्पन्दन स्फुरित हो उठता है । प्रथम वर्ण बीज अकार उन्मेष बीज को उत्प्रेरित करता है । उन्मेष बीज 'उकार' मकार में विद्यमान महाकाली शक्ति को ऊर्ध्व अवरोह के लिये उत्प्रेरित कर देता है । मकार अनुस्वार का रूप ग्रहण कर लेता है । अनुस्वार अनुनासिक अर्धचन्द्र बन जाता है । इस प्रकार वेद्य प्राधान्यपूर्ण अर्धचन्द्र में एक प्रकार की विश्रान्ति का अनुभव होता है ।

गुरु परम्परा से प्राप्त एक रहस्यमय मर्म की बात यह है कि, यह सब सितेतर सृष्टि के अन्तराल का ही स्पन्दन है । अर्धचन्द्र के क्षेत्र में ही पारमेश्वरी माया शक्ति अनन्तेश्वर के सहयोग से सितेतर सृष्टि का आसूत्रण करती है ।

माया अपनी इस सितेतर सृष्टि के ऊपर किसी का आरोह सह नहीं पाती । इसीलिये अपने इस क्षेत्र के ऊपर एक ऐसी रेखा बना लेती है, जो साधकों के पथ में निरोध बनकर शाश्वत वर्त्तमान है । इसे निरोधिका कहते हैं । यहाँ सर्वज्ञ शिव की वेद्यता शान्त रहती है ।

निरोधिका दो प्रकार से टूटती है । १–पारमेश्वरी माया ही वात्सल्यमयी बनकर साधक को सितसृष्टि में ऊर्ध्व आरोहण के लिये निरोधिका का बन्दद्वार खुलवा देती है । उसके ऊपर उठ जाने पर बन्द दरवाजा पुनः बन्द हो जाता है ।

---

१. ग.पु. सस्वरत्वमिति पाठः । २. ख.पु. उन्मुखेति पाठः ।
३. ख.ग.पु. पदेति पाठः । ४. क.पु. सस्वरत्वमिति पाठः ।

अतश्चेयत्पदमारूढस्य–

नादोऽस्य वदनं प्रोक्तः

यतः प्रोक्तनीत्यानाहतध्वनिपरमार्थोऽयं हंसस्ततो वर्णोच्चारात्मतादशायामपि ललाट-मध्ये नाद एवास्य वदनमिव वदनं मुख्यमङ्गम् ।

युक्तं चैतद्यतः–

वदनं शब्दमीरयेत् ।।२५९।।

नादरूपं वदनं कर्तृ शब्दं नादान्तात्मानमीरयेद्ब्रह्मरन्ध्रतले प्रेरयेत्तद्रूपतया स्फुरेत् ।

२–साधक साधना द्वारा प्रौढता पा लेता है, जिससे बिन्दुस्तर पर ही क्षेप क्रिया के माध्यम से नाद में स्थान पा लेता है । इसकी छः क्रियायें होती हैं, १–क्षेप २–आक्रान्ति, ३–चिदुद्बोध, ४–स्थापन, ५–दीपन, ६–तत् समापत्ति । तत्समापति समना में आरोह की दशा है ।

सुस्वरत्व की अवस्था 'क्षेप' क्रिया के माध्यम से नाद में प्रवेश की अवस्था है । नाद क्षेप के प्रभाव से स्वरों की मूलस्फूर्त्ति का केन्द्र है । इसी स्वरात्मक आदि स्फुरण को 'सुस्वरत्व' की संज्ञा से शास्त्र विभूषित करता है । नाद का सुस्वरत्व ही विमर्श है । समस्त वाचकता की अभेदाद्वयमयी दशा ही नादान्त है । नाद और नादान्त सितसृष्टि की शुद्धविद्या और ईश्वर की भूमियाँ मानी जाती हैं ।

नाद के विषय में एक महत्त्वपूर्ण जानकारी भगवान् दे रहे हैं । नाद 'हंस' परपरमेश्वर पुरुष का वदन है । वदन मुख को कहते हैं । मुख उपाय होता है । 'हंस' की वास्तविक पहचान इसी वदन से होती है । 'हंस' पारमार्थिक अनाहत ध्वनि ही है । वर्णोच्चार की स्थिति में भी ॐकार में सूक्ष्म रूप से विराजमान मुख ही ललाटस्थ नाद वदन माना जाता है ।

वदन, शब्द को प्रेरित करता है । इस प्रयोग में यह स्पष्ट है कि, वदन अर्थात् मुख से ही शब्द की निष्कृति होती है । मुख से ही शब्दों का उच्चारण होता है । यह स्वाभाविक है । यहाँ इस श्लोक की व्याख्या में शब्द के अर्थ के रूप में नाद को वदन और कर्त्ता कहा गया है । वदन कर्त्ता है और शब्द नादान्त है । इस कथन के सम्बन्ध में साधकों को विचार करना चाहिये । शब्द नादान्तात्मक कब होते हैं ? नादान्त में शब्द समाप्त हो जाते हैं–यह अनुभव का विषय है । यह क्रिया ब्रह्मरन्ध्र में ही होती है । श्वास तालुरन्ध्र से आज्ञा में जाता है । वहाँ से नाद के अन्तराल की व्याख्या ऊपर की गयी है । ब्रह्मरन्ध्र में ही ओङ्कार का अ, उ, म, बिन्दु और अर्धचन्द्र का आरोह होता है । अतः ब्रह्मरन्ध्र के साथ 'तले' का प्रयोग साधनाधरा के अनुकूल नहीं लगता ।।२५९।।

न केवलमेवमयं नादात्मा प्राणः शिरोवदनचरणयुक्तो नदन्[1] हंस इत्युक्तो यावत्–

अनेनैव च योगेन हंसः पुरुष उच्यते ।
ब्रह्मविष्ण्वीशमार्गेण चरन्वै सर्वजन्तुषु ।। २६० ।।

पुरुषः क्षेत्रज्ञोऽनेनैव मध्योर्ध्वमार्गारोहणात्मना योगेन सर्वजन्तुषु हृत्कण्ठभ्रूमध्य-ललाटमार्गेण प्रसरन्नधरभूमिहानोर्ध्वपदसमादानरूपो हंस उच्यते । वक्ष्यति चाग्रे–

'शिवो धर्मेण हंसस्तु सूर्यो हंसः प्रभान्वितः ।' (स्व. ७-२९)

इत्युपक्रम्य–

'आत्मा वै हंस इत्युक्तः प्राणो हंससमन्वितः ॥' (स्व. ७-२९)

इति । एतच्च तत्रैव व्याख्यास्यामः ॥२६०॥

एवं नादान्तरूपतां गृहीत्वा–

शक्तितत्त्वे लयं याति

यह ऊपर की सारी लीला प्राण की प्रेरणात्मक प्रक्रिया है । नादात्मा प्राण, शिर, वदन और चरण के माध्यम से प्राणना व्यापार में सक्रिय रहता है । इसी प्राण को हंस संज्ञा से विभूषित किया जाता है । यही तथ्य भगवान् इस कारिका द्वारा व्यक्त कर रहे हैं–

इसी नदनात्मक और प्राणात्मक योग के कारण हंस को क्षेत्रज्ञ 'पुरुष' की संज्ञा दी गयी है । नदनात्मक व्यापार में ऊर्ध्व गमन, मध्यावस्थान और अधः अर्थात् अन्तः प्रवेश आदि का योग स्वाभाविक है । सभी जीवों में नाभि, अनाहत, कण्ठ (विशुद्ध) भ्रूमध्य ललाट मार्ग से ऊर्ध्व प्रसरित होता है और 'हंस' कहलाता है । 'हंस' शब्द के दो अक्षरों में 'ह' से हान और 'स' से समादान अर्थ ग्रहण करते हैं । इस सम्बन्ध में स्वयं भगवान् ने आगे कहा है कि,

शिव अपनी धर्मगत विशेषता से 'हंस' कहलाता है । यही प्राण रूपी सूर्य भी है । सूर्य ही प्रभाभास्कर रूप में विश्व को प्रकाशमान करता है ।[2] यह भी स्वाभाविक है कि, आत्मा ही 'हंस' है । इस तरह यह भी सिद्ध हो जाता है कि, प्राण भी हंसतत्त्वात्मक गुण से विशिष्ट है । अतः प्राण भी 'हंस' से समन्वित हो जाता है ॥२६०॥

इस प्रकार नादान्त के रूप में वह अव्यक्त उल्लास में उद्वलित स्फुरित रहते हुए अन्त में शक्तितत्त्व में विलीन हो जाता है । नादान्त रूपता से किसी आकार का अर्थ नहीं लेना चाहिय । ये केवल अनुभूति की वे अवस्थायें हैं, जहाँ सूक्ष्म प्राण हंस यत्नज विश्राम करता है । प्राण हंस इस अवस्था का भी प्रशमन कर देता है ।

---

१. ख.पु. प्रनदन् इति पाठः । २. स०त० ७/३० ।

नादान्तरूपतां प्राशमय्यानन्दस्पर्शात्मतां ब्रह्मबिले श्रयति । ततोऽपि शिव-पदसमाविविक्षावष्टम्भात्मना-

विज्ञानेनोर्ध्वतां व्रजेत् ।

कथम् ?

व्यापिनीं समनां त्यक्त्वा व्रजेदुन्मनया शिवम् ।।२६१।।

वहाँ से शक्तिचक्र में प्रवेश कर जाता है । यह आनन्द स्पर्शमयी होती है । इसे ब्रह्मरन्ध्र का एक कक्ष मान सकते हैं । वहाँ पहुँचने की विश्रान्ति में आनन्द स्पर्श की अनुभूति साधक को होती है ।

शक्ति को प्राण यात्रा का अव्यक्त अदृश्य पड़ाव माना जाना चाहिये । वहाँ का अवष्टम्भ ऊर्ध्व गति शीलता का प्रेरक है । शक्ति के शाक्त विज्ञान का वह प्रेरक होता है । वहाँ से भी शाक्त विज्ञान के सहारे ऊपर की ओर प्राणहंस गतिशील हो जाता है । इस गतिशीलता के मूल में शिवपद में समाहित होने की आकाङ्क्षा ही काम करती है । ऊर्ध्व की ओर प्रव्रजन का विज्ञान प्राण की पराप्रक्रिया का ही परिणाम होता है ।

शक्ति क्षेत्र से ऊपर तीन पड़ावों को पार कर चौथे और अन्तिम पड़ाव में प्राण की सम्यक् विश्रान्ति हो जाती है । इस योगयात्रा के विषय में आचार्य क्षेमराज ने जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह भावन करने योग्य है ।

१- शक्ति की सत्ता में प्राण हंस के समावेश की दशा में एक प्रकार के स्पर्शात्मक आनन्द की अनुभूति होती है ।

२- ऊर्ध्व प्रवेश की युक्ति अपना कर प्राण हंस व्यापिनी के क्षेत्र में प्रवेश प्राप्त करता है । व्यापिनी त्वक् और केश की नीलग्रीवा रूपी बहिःकण्ठोर्ध्व-उन्मिषितव्य क्षेत्रस्थ एक सूक्ष्म शक्ति चक्रिका मानी जाती है । अपने अन्वर्थ नाम के अनुसार एक सूक्ष्म व्याप्ति के रूप में यह शक्ति व्याप्त रहती है । उसी आयाम में प्राण शक्ति विश्राम करती है ।

३- पुनः ऊर्ध्व प्रसरण विज्ञान की युक्ति से समना चक्र में प्रवेश मिल जाता है । इसे सामनस पद कहते हैं । इसे ही सहस्त्रार चक्र की भूमि मानते हैं । मालिनी या मातृका के पचास वर्ण २०गुणित होकर एक सहस्र संख्या में सहस्त्रदल कमल के प्रत्येक दल पर क्रमिक विधि से अवस्थित किये जाते हैं ।

४- सहस्त्रार चक्र के सामनस पद का अवस्थान 'शिखा केश' की परिधि में होता है । यह अधोमुख कमल है, जिसके नाल के सूक्ष्मतन्तु उद्योतिनी शक्ति की प्रेरणा से सामनस के मननात्मक प्रकल्प का उल्लङ्घन कर लेते हैं । उन्हीं नाल

शक्तौ स्पर्शमनुभूयोर्ध्वप्रवेशयुक्त्या व्यापिन्यां त्वक्केशपदे व्याप्तिं लब्ध्वा तदूर्ध्वे शिखाकेशस्थाने सामनसे[1] पदे मन्तव्याभावान्मननमात्ररूपतया स्थित्वा ततोऽप्यूर्ध्वं हंसः शुद्धात्मरूपो मननोल्लङ्घनस्वभावो युगपदशेषविश्वाभेदप्रकाशात्मकोन्मनाशक्त्याश्रयेण शिवं व्रजेच्चिदानन्दघनपरभैरवसमापत्तिं श्रयेत् ॥२६१॥

एवञ्च–

शिवतत्त्वगतो हंसो न चरेत्

शिवाख्यं तत्त्वं परमशिवो न चरेन्न संकोचेन प्रसरेत् ।

अपि तु–

व्यापको भवेत् ।

शिवादिक्षित्यन्ताशेषविश्वात्मना तदुत्तीर्णेन च रूपेण स्फुरेदित्यर्थः ।

उपसंहरति–

हंसोच्चारः समाख्यातः कारणैश्च समन्वितः ।।२६२।।

तन्तुओं के द्वारा ऊर्ध्व गतिशील प्राण हंस उन्मना के अदृश्य अवस्थान में विश्रान्त हो जाता है । यहाँ प्राण हंस शुद्धि की परावस्था को प्राप्त कर लेता है । उन्मना का बीज मन्त्र पञ्चपिण्डनाथ कहलाता है । इस पद पर अशेष विश्वप्रसार अभेद अद्वय रूप से भासित होने लगता है ।

साधक के लिये यह सौभाग्य का विषय होता है कि, इसी उन्मना की उसे उत्प्रेरकता के कारण शिव में प्रवेश सम्भव हो जाता है । उस अवस्था को चिदानन्दघन पर भैरव संवित्ति (तदापत्ति) कहते हैं । उसका आश्रय इसे प्राप्त हो जाता है ॥२६१॥

इस विज्ञान के माध्यम से प्राण हंस सर्वोच्च पर भैरव पद में प्रतिष्ठित हो जाता है । परिणामतः शिवतत्त्वगत हो जाने के कारण प्राण हंस की गति समाप्त हो जाती है । यह पद परमहंस धाम अर्थात् परमशिव पद है । चार न होने का भावार्थ यह है कि, वह पुनः संकोच ग्रस्त नहीं हो पाता ।

यही नहीं, वह सर्वव्यापक तत्त्व परमशिव में प्रतिष्ठित होने के कारण स्वयं भी व्यापक हो जाता है । उसकी सूक्ष्मता में चार चाँद लग जाते हैं । परमशिव की व्याप्ति में इसकी व्याप्ति भी समाविष्ट हो जाती है । शिव से लेकर क्षिति पर्यन्त ३६ तत्त्वों के साकार भैरव विग्रह विश्वरूप में अर्थात् साकार विश्वमय रूप में और विश्वोत्तीर्ण सूक्ष्म रूप में स्फुरित होने लगता है । इतने स्तरीय रूप से प्राण हंस उच्चार करता है । इसे ही हंसोच्चार कहते हैं ।

---

१. ख.पु. समरसे इति पाठः ।

कारणैर्ब्रह्मादिभिः, चकारादकारादिवर्णैर्वस्तुगत्या सम्भवद्भिः सम्यगन्वितो मिश्रितः ॥२६२॥

इदानीं वर्णैः कारणत्यागं निरूपयति, तत्र–

हकारः प्राणशक्त्यात्मा

प्राणशक्तेरात्मोक्तस्थित्या जीवितरूपः ।

एतस्य शिरोरेखात्मा–

अकारो ब्रह्मवाचकः ।

हृदि त्यागो भवेत्तस्य

वाचकोच्चारणान्त इति यावत् ।

एवमुत्तरत्र–

उकारो विष्णुवाचकः॥२६३॥

यह कारणों से भी समन्वित रहता है । वस्तुतः कारण ब्रह्मा, विष्णु आदि देवतत्त्व माने जाते हैं । श्लोक में कारणों के साथ 'च' अव्यय का प्रयोग किया गया है । कारणों के अतिरिक्त सूक्ष्म स्थूल कुछ और भी है, जिनसे यह समन्वित रहता है । वह वस्तुसत् वर्णोच्चार है । अकार आदि स्वर वर्णों और उन्हीं में आन्तरिक रूप से स्फुरित ककारादि वर्णों से भी हंसोच्चार समन्वित होता है ॥२६२॥

कारण त्याग एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसका प्रयोग साधक साधना के सन्दर्भों में करता है । वर्णों के माध्यम से इसे कैसे सम्पन्न करते हैं, इस रहस्य का सांकेतिक उल्लेख करते हुए भगवान् भैरव यह विधि प्रवर्त्तित कर रहे हैं ।

उनके अनुसार यहाँ प्रसिद्ध बीज मन्त्र का आश्रय लेना चाहिये । इस बीज मन्त्र का प्रथम वर्ण 'ह'कार है । 'ह'कार प्राण शक्ति का स्वात्मरूप ही है । यह जीवित रूप है अर्थात् जीवन और जिजीविषा का मूलमन्त्र है । 'ह'कार के साकार विग्रह में जिस शिरोरेखा का प्रयोग होता है, उसे सामान्यजन शिरोरेखा के रूप में ही जानते हैं किन्तु वस्तुतः वह 'अ'कार है । 'ह' प्राणवर्ण के ऊपर अपनी रेखात्मक शक्ति से प्राण को वह जीवन्त करने वाला अनुत्तर तत्त्व है ।

उसे अर्थात् अकार को स्वच्छन्द तन्त्र ब्रह्मा मानता है । ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता हैं । प्राणों के प्रेरक हैं । विधाता हैं । ब्रह्मा की शक्ति यहाँ अकार बन कर छाया प्रदान करती है । साधना के सन्दर्भ में साधक ऊर्ध्वगति-विज्ञान के क्रम में हृदय में उसका परित्याग कर देता है ।

कण्ठे त्यागो भवेत्तस्य मकारो रुद्रवाचकः ।

तालुमध्ये त्यजेत्तं तु

त्यजेदिति कर्तृप्रत्ययस्तुशब्दश्च रौद्रग्रन्थ्युल्लङ्घनेऽवधातव्यमिति सूचयति ।

बिन्दुश्चैवेश्वरः स्वयम् ।।२६४।।

अभेदोक्त्याकारादिवदितःप्रभृति न पृथग्वाच्यवाचकतेति दर्शयति ।

त्यागस्तत्र भ्रुवोर्मध्ये

विधीयते इत्युत्तरस्थं सम्बध्यते । अर्धचन्द्रनिरोधिकान्तास्यैव व्याप्तिः ।

नादे वाच्यः सदाशिवः ।

तदभेदेन विमृश्येत्यर्थः ।

ललाटान्मूर्धपर्यन्तं त्यागस्तस्य विधीयते ।।२६५।।

नादस्यैव नादान्तान्ता व्याप्तिर्विधीयते योगिभिर्यत्नेन क्रियते ।।२६५।।

'अ'कार के परित्याग के बाद 'उ'कार का क्रम आता है । 'उ'कार विष्णु तत्त्व का प्रतीक है । इसीलिये इसे विष्णु कहते हैं । ऊर्ध्व गति विज्ञान के क्रम में 'उ'कार रूपी विष्णु का परित्याग कण्ठ (विशुद्धचक्र) में करते हैं । 'उ' के परित्याग करने पर 'म'का क्रम आता है । 'म' को रुद्र कहते हैं । 'म' का परित्याग तालुरन्ध्र के मध्य में हो जाता है ।

साधक इस तथ्य से परिचित होता है कि, रुद्र ग्रन्थि के परित्याग के समय विशेष रूप से सावधान रहना चाहिये । वर्णात्मक स्थूलता के परित्याग के बाद सूक्ष्मता में प्रवेश होता है । सावधानी की इसीलिये अपेक्षा रहती है । श्लोक में 'त्यजेत्' क्रिया कर्त्ता को विधि का निर्देश दे रही है और 'तु' अव्यय थोड़ा रुक कर सावधान रखने की प्रेरणा दे रहा है ।

अब मूल बीज मन्त्र के वर्णों और कारणों के उक्त प्रकार से परित्याग करने के अनन्तर बिन्दु का क्रम आता है । बिन्दु साक्षात् सर्वज्ञ ईश्वर रूप से व्यक्त होते हुए भी अव्यक्त ही माना जाता है । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, बिन्दु की व्याप्ति के अन्तर्गत अर्धचन्द्र और निरोधिका भी अन्तर्हित माने जाते हैं । तालुरन्ध्र से ऊर्ध्व-गतिशील होने पर भ्रूमध्य में बिन्दु का परित्याग कर देते हैं । बिन्दु, अर्धचन्द्र और निरोधिका क़ी व्याप्ति इसी में हो जाती है ।

इसके बाद 'नाद' का क्रम आता है । नाद के वाच्य सदाशिव माने जाते हैं । नाद और नादान्त चक्र सदाशिव देव की व्याप्ति में आने वाले चक्र हैं । इन दोनों का क्षेत्र भ्रूमध्य के ऊपर ललाट से मूर्धा पर्यन्त माना जाता है ।

अथ याः सूक्ष्मानुभावगम्याः-

शक्तिव्यापिनीसमनास्तासां वाच्यः शिवोऽव्ययः ।

सदाशिवापेक्षयायमव्ययः परमशिवापेक्षया तु सव्यय एव ।

तत्र-

मूर्धमध्ये त्यजेच्छक्तिं तदूर्ध्वे व्यापिनीं त्यजेत् ।।२६६।।

मूर्धा प्रायः पूरे शिरो भाग के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द है । इसे यहाँ पर यह समझना चाहिये कि, ललाट के ऊपर जहाँ से शिरोभाग का प्रारम्भ होता है, वहीं प्रारम्भ में ही निरोधिका रेखा है । इसके ऊपर शिर को छः गोलवृत्तों में विभाजित कीजिये । पहले गोलवृत्त को निरोधिनी, दूसरे को नादवृत्त, तीसरे को नादान्तवृत्त, चौथे को शक्तिवृत्त, पाँचवें को व्यापिनी वृत्त और छठें को समना वृत्त मानकर साधक को ऊपर और ऊपर उठना पड़ता है ।

बिन्दु 'क्षेप' क्रिया द्वारा अर्धचन्द्र और निरोधिका को पारकर नादवृत्त का स्पर्श कर लेता है । नाद से 'आक्रान्ति' द्वारा नादान्त में पहुँचते हैं । यहाँ सदाशिवदेव का परित्याग कर साधक ऊर्ध्व गतिविज्ञान से यत्नपूर्वक आगे बढ़ता है ।।२६५।।

निश्चय पूर्वक यह जानना चाहिये कि, यह सारी प्रक्रिया ब्रह्मरन्ध्र में अपनायी जाती है । ऊपर कहे गये सारे वृत्त भी ब्रह्मरन्ध्र में ही होते हैं । उनका प्रभाव केश और त्वक् के संयोग क्षेत्र तक पड़ता है और अनुभूत भी होता है ।

ब्रह्मरन्ध्र में प्राण हंस जब नादान्त से शक्ति की ओर गतिशील होता है, उसी समय चिदुद्बोध नामक वृत्ति स्फुरित हो जाती है । वह प्राण हंस को शक्तिवृत्त के निर्धारित स्थल पर पहुँचा देती है । शक्ति व्यापिनी और समना इन तीनों चक्रों के वाच्य कारण देव शिव हैं । शिव को अव्यय तत्त्व कहते हैं । शिव व्याप्ति में शक्ति से दीपन वृत्ति तथा व्यापिनी से तत्समापत्ति की स्फूर्त्ति वृत्ति से अन्त में समना में प्रवेश हो जाता है ।

समना सहस्रार चक्र की अधिष्ठान स्थली है । समना में पचास मातृका वर्ण २०से गुणित होकर एक हजार संख्या में एक हजार कमल पत्रों पर क्रमिक रूप से विराजमान रहते हैं । शिव की व्याप्ति इन तीन वृत्त चक्रों में अनुभूत होती है । यह ध्यान देने की बात है कि, सदाशिव की अपेक्षा शिव अव्यय माने जाते हैं किन्तु परमशिव की अपेक्षा शिव सव्यय ही हैं ।

व्याख्यातस्पर्शानुभूत्यन्ते इत्यर्थमेवं[1] व्याख्यातम् ॥२६६॥

मननमात्ररूपानुभवान्ते

समनाम्

तदूर्ध्वे त्यजेदित्येवम् ।

एवमियदध्वातिक्रान्त्या प्राप्तशुद्धात्मस्वरूपस्य योगिनः-

उन्मनां त्यक्त्वा षट्त्यागात्सप्तमे लयः ।

भवतीति शेषः । व्याख्यातरूपोन्मनाशक्त्यनुप्रवेशेन परमशिवीभाव एवोन्मना-त्यागः । एवं च षण्णां ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाख्यानां कारणानां त्यागाद्विश्रान्ति-पूर्वमुल्लङ्घनात् सप्तमे परमशिवे लयः समापत्तिर्भवति ।

एतदधिकावापेनोपसंहरति-

सूक्ष्मसूक्ष्मतरैर्भावैरेवमेवं त्यजेत्प्रिये ।।२६७।।

मूर्धा में ब्रह्मरन्ध्र के मध्य भाग में शक्ति चक्र है । शक्ति को ठीक बीच में छोड़कर उसके ऊर्ध्वभाग में अधिष्ठित व्यापिनी में प्रवेश करते हैं । वहाँ कुछ विश्रान्ति के उपरान्त उसका भी क्रिया योग के आधार पर परित्याग कर देते हैं ॥२६६॥

अब साधक को एक पड़ाव और पार करना है । वह है, समना क्षेत्र । समना रूप सहस्त्रार कमल उल्टा लटका हुआ अवस्थित है । इसके ऊपर नाल निकला हुआ है । उस नाल की भूमि शिखा के बालों के त्वक्-संयोग की भूमि है । यह मनन की भूमि है । मनन में भी शक्ति की आन्तर स्पर्शानुभूति होती है । मननात्मता की समाहिति के उपरान्त इसका भी परित्याग हो जाता है ।

इस प्रकार योगी समस्त अध्वाओं को अतिक्रान्त कर जाता है । परिणाम स्वरूप विशुद्धात्म तत्त्व योगी 'स्व' भाव को उपलब्ध हो जाता है । अब वह उन्मना भाव में अधिष्ठित हो जाता है । उन्मना शक्ति चक्र में प्रवेश करना ही एक महत्त्व पूर्ण उपलब्धि है । उसका त्याग उससे भी महत्त्वपूर्ण है ।

उन्मना का बीजमन्त्र पञ्चपिण्डनाथ रूप में तन्त्र मन्त्र में प्रसिद्ध है । उसको आत्मसात् कर परबीज की वैद्युतिक ऊर्जा से ओतप्रोत योगी शिवीभाव में प्रवेश कर जाता है । इसी को गुरुजन 'छः को पारकर सातवें में लय' कहते हैं । नाद नादान्त शक्ति, व्यापिनी समना और उन्मना छः पड़ाव हैं । इनका त्याग कर सातवें शिव में ही विलीनता मानव जीवन की महती उपलब्धि है ।

---

१. क.पु. एवमाख्यातमननेति पाठः ।

स्थूलस्थूलतरैर्भावैर्नानासिद्धिफलप्रदैः ।

अवरोहक्रमेण यथोक्तवाच्यवाचकात्मानो भावाः पदार्था ये वक्ष्यमाणयुक्त्या स्थूलस्थूलतरास्तत्तत्सिद्धिप्रदाः स्थितास्तैरेवारोहक्रमेण यथोत्तरं सूक्ष्मसूक्ष्मतरैरुपलक्षितम् । एवमिति सर्वमध्वानम्, एवमित्युक्तयुक्त्यैव त्यजेत्, तैस्त्यज्यमानैरुपलक्षिता ये सूक्ष्मसूक्ष्मतरा आरोहक्रमेण यथोत्तरं त एव तैः करणभूतैरेवमिति प्रदर्शितनीत्या एवमिति यथोक्तं त्यजेत् । स्थूलानां सिद्धौ सूक्ष्माणां मुक्तौ हेतुत्वमित्यधिकमत्रोपक्षिप्तम् ॥२६७॥

छः के त्याग रूप कारण-त्याग की बात कर रहे हैं- १-ब्रह्मा, २-विष्णु, ३-रुद्र, ४-ईश्वर, ५-सदाशिव और ६-शिव रूप छः कारणों में विश्रान्ति पूर्वक त्याग करते हुए परमशिव भाव में लय होने की बात की सत्यता का भी साधक साक्षी बन जाता है । लय होने का अर्थ जीव शिव भाव की समापत्ति कर लेता है ।

भगवान् इस विषय का उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि, प्रिये भैरवि ! इस प्रकार से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम और परमसूक्ष्मतम भावों में प्रवेश और विश्रान्ति और पुनः परित्याग की सक्रियता साधना के अनिवार्य अंग हैं ।

उपसंहार के अन्त में भगवान् बड़ी आत्मीयता पूर्ण करुण दृष्टि से साधकों पर भी कृपा की वर्षा कर रहे हैं । उनका कहना है कि, ऊपर की सारी देशना केवल आरोह क्रम की है । इस क्रम को परकाष्ठा पर पहुँचा कर अब साधना की दूसरी सच्चाई के प्रति सावधान कर रहे हैं ।

इस सच्चाई का यह क्रम अवरोह क्रम माना जाता है । ऊपर की पराकाष्ठा पर पहुँच कर प्राण पुनः अपनी सोमसरणी पर चल पड़ता है । सोम जीवन तत्त्व है । जीवनी शक्ति प्राणापानवाह में प्रवाहित होती रहती है । ऊपर से नीचे की ओर उतरना ही अवरोह माना जाता है । इसमें वाच्यवाचक भाव अपने स्थूल स्थूलतर पदार्थ रूप में प्रसार प्राप्त करते हैं । ऊपर की ओर जाते समय एक एक भाव से क्रमशः सूक्ष्म सूक्ष्म भाव उपलक्षित होते जाते हैं और अवरोह क्रम में स्थूलता और स्थूलतरता उपलक्षित होती है । स्थूल भाव सिद्धिप्रद माने जाते हैं । सूक्ष्म भाव मुक्ति की ओर प्रेरित करते हैं । ऊर्ध्वारोहण में सभी अध्वावर्ग का अतिक्रमण होता जाता है और एक एक का त्याग होता जाता है । अवरोह क्रम में जो भावकरण रूप साधन बन कर ऊपर की ओर चढ़ने को प्रेरित करते थे, वही शरीर में उतरते समय स्थूल रूप से सिद्धिफल प्रद प्रतीत होते हैं । स्थूलों की कारणता सिद्धि में चरितार्थ होती है और सूक्ष्म भाव मुक्ति में कारण बनते हैं । हेतुत्व उभयत्र विद्यमान है ॥२६७॥

तत्र–

सूक्ष्मोऽत्यन्तं परो भावस्त्वभावः स विधीयते ।।२६८।।

परो भावः परा सत्ता परमशिवेऽत्यन्तं सूक्ष्मो विज्ञेयः सर्वकारणं चेत्यर्थः । स चाशेषभावप्रक्षयात्मकत्वादभावः ।।२६८।।

न च स[1] एवेदृग्यावत्

उन्मना त्वपरो भावः

परभावापेक्षया स्वात्मविमर्शरूपतया किञ्चिदौन्मुख्यादुन्मना अपरो भावो महा-सत्तात्मा सूक्ष्मो भावोऽभावश्चेति समन्वयः ।

स्थूलस्तस्यापरो मतः ।

तस्योन्मनाख्यस्य स्वभावस्य यः सम्बन्धितया व्याप्यव्यापकरूपतया, न तु ततः पृथक्त्वेनापरः समनाख्यस्तदपेक्षया स्थूलोऽकाराद्यपेक्षया तु सोऽपि सूक्ष्म एवान्यथा सूक्ष्मसूक्ष्मतरैरिति बहुवचनं न युज्यते ।

सूक्ष्म आत्यन्तिक परभाव को कहते हैं । इसे दूसरे शब्दों में अभाव कह सकते हैं । यह एक प्रकार की परासत्ता कही जा सकती है । मनीषी वर्ग इसी सत्तागत अस्तित्व को परमशिव कहता है । यह इस समग्र विश्वप्रसार का भी परम कारण रूप सभी कारणों का भी कारण है । यह निश्चय रूप से जानना चाहिये । प्रश्न यह उप-स्थित होता है कि, तब इसे अभाव क्यों कहते हैं । आचार्य क्षेमराज इस प्रश्न का समाधान करते हुए कह रहे हैं कि, वस्तुतः इसी सत्तागत अस्तित्व में सभी भाव समा जाते हैं । सबका इसी में संक्षय हो जाता है । सभी भावों का जहाँ अभाव हो जाता है, उसे कहा भी क्या जा सकता है । इसलिये वह अभाव ही है ।।२६८।।

केवल वही ऐसा है, अर्थात् परभाव है । वस्तुतः उन्मना भाव उससे नीचे का भाव है । इसीलिये इसे अपर भाव कहते हैं क्योंकि, परभाव की अपेक्षा इसमें स्वात्मविमर्शरूपता के कारण केवल नाम मात्र ही अर्थात् किञ्चित् औन्मुख्य के कारण ही उन्मना कहते हैं । सच्चाई यह है कि, अपर भाव में जो कुछ औन्मुख्य है, वह महासत्ता रूप सूक्ष्म भाव में नहीं रहता । सूक्ष्म भाव ही अभाव कहलाता है । अभाव एक प्रकार का सूक्ष्म भाव ही है ।

उन्मना को परमशिव की अपेक्षा अपर भाव वाली कहते हैं । उन्मना की अपेक्षा समना भी अपर भाव में गिनने योग्य है । इसीलिये उन्मना की अपेक्षा समना स्थूल भाव के अन्तर्गत आ जाती है । उन्मना और समना में एक पर भाव है । दूसरा अपर स्थूल भाव है । इन दोनों में व्याप्य व्यापक भाव है । पर का स्थूल स्वभाव रूप

---

१. ख.पु. त्रसौ इति पाठः ।

तस्यापरं पुनः शून्यं

तस्येति समनात्मनो भावस्यापरं व्यापिनीरूपं शून्यमशेषभावसूत्रणरूपं महाशून्यमित्यर्थः । पुनःशब्देन समनात्मकं तावन्निःशेषभावाभावसूत्रणरूपमेकं शून्यमिदं तु सर्वभावाभावाभासनभित्तिकल्पं द्वितीयमित्युक्तम् ।

अत एव च–

संस्पर्शं च ततोऽपरम् ।।२६९।।

शक्तिपदमित्यर्थात् ।।२६९।।

ततोऽपि–

शब्दो

नादान्तात्मा नादरूपश्च ।

ततोऽपि–

ज्योतिः

व्याप्तनिरोधिकार्धचन्द्रपदो बिन्दुः ।

ही अपर भाव है । यहाँ अपर का दूसरा अर्थ नहीं लगाना चाहिये । उन्मना का परभाव स्वात्मविमर्श रूप होता है । उसी के अपर स्थूल भाव में अकार आदि ५० मातृकावर्णों का २०वृत्तों में न्यास करने पर सहस्रदल कमल में एक हजार स्थूल वर्ण न्यस्त होते हैं । यह सब स्थूल भाव का स्वरूप है जो समना में दीख पड़ता है । उन्मना में यह सभी विमर्श रूप से विद्यमान रहते हैं । श्लोक २६७ के सूक्ष्म सूक्ष्मतर भावों की उक्ति इस तरह चरितार्थ हो जाती है । अकार आदि वर्णों की स्थूलता की अपेक्षा विमर्श स्वभाव पर और सूक्ष्म होता ही है । यह तथ्य नित्य ध्यान में रखना चहिये ।

समना का भी अपर भाव होता है । इसी अपर भाव को व्यापिनी कहते हैं । व्यापिनी चक्रवृत्त है क्या ? यह एक शून्य वृत्त है । इसमें सभी भावों का आसूत्रण होता है । अतः इसे महाशून्य कहते हैं । श्लोक में पुनः शब्द के प्रयोग के आधार पर यह प्रकल्पन किया जा सकता है कि, यदि समना समस्त भावाभाव सूत्रणमयी शक्ति है, तो व्यापिनी भी भावाभावों की आभासन भित्ति अर्थात् आधार रूपा है । यह समना के अतिरिक्त अपर शून्य है ।

इसलिय इस शून्य का जहाँ अपर भाव (स्थूलभाव) विकसित होता है, उसे शक्तिचक्र कहते हैं । यहाँ साधक को संस्पर्श की अनुभूति होती है । यह आनन्दात्मक विमर्शरूप संस्पर्श साधना का विषय है । इसका अनुभव साधक को होता रहता है ।।२६९।।

ततो मन्त्राः कारणा भुवनानि च ।

मन्त्रा मकारोकाराकारवर्णपरामर्शात्मानो वाचका:[१], तद्वाच्या रुद्रोपेन्द्रब्रह्माण: कारणानि तदाश्रयभूतानि च तत्त्वानि भुवनानि च क्रमेणात्यन्तं स्थूलतमानीत्यर्थ: ।

तदाह–

पञ्चभूतात्मभुवनं कारणैः समधिष्ठितम् ।।२७०।।

इसका अपर भाव दो रूपों में व्यक्त होता है । पहला मूल भाव नाद और दूसरा नादान्त है । ये दोनों शब्द श्रेणी में ही गिने जाते हैं । शब्दन व्यापार अर्थात् नदन होने के कारण इसे 'नाद' कहते हैं । नाद का ही अन्त नादान्त कहलाता है । अध: अवरोह की दशा में शक्ति का अपर भाव ही नादान्त होता है । 'नादान्त' का अपर भाव 'नाद' होता है ।

इस नाद के अपर भाव के रूप में अवरोह क्रमानुसारी १–निरोधिका, २–अर्धचन्द्र और ३–बिन्दु ये तीन पड़ाव 'ज्योति' रूप माने जाते हैं ।

इनके बाद मन्त्रों, कारणों और भुवनों का क्रम आता है । जहाँ तक मन्त्र का प्रश्न है, इसमें 'मकार' 'उकार' और 'अकार' रूप वर्णों के परामर्शक वाचक होते हैं । इनके वाच्य रुद्र, उपेन्द्र (विष्णु) और ब्रह्मा हैं ।

'कारण' इनके आश्रयभूत तत्त्व हैं । मान्यतानुसार छत्तीस तत्त्व मान्य हैं । इनको कारण कहने का कारण इनका साधकतमत्त्व है । जहाँ तक भुवनों का प्रश्न है, ये अत्यन्त स्थूल अध्वा के स्वरूप है । तन्त्र में छ: अध्वा परिगणित हैं–१–वर्ण, २–पद, ३–मन्त्र, ४–कला, ५–तत्त्व और ६–भुवन । इनमें से यहाँ मात्र मन्त्र, तत्त्व और भुवनों की ही अर्थात् तीन की ही चर्चा करने का कारण आज्ञा पद से अवरोह क्रम में इन्हीं तीनों की प्रधानता होती है ।

इनमें से भुवन की परिभाषा करते हुए भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, यह पञ्च महाभूतात्मक होता है । इसकी दूसरी विशेषता यह है कि, यह कारणों से अधिष्ठित रहता है । भुवन पाँच महाभूतों का ही स्थूल और सूक्ष्म रूपों में विद्यमान शरीर है । भूमि, अग्नि और जल तो स्थूलात्मक ही हैं । वायु रूप की दृष्टि से सूक्ष्म है पर स्पर्श की दृष्टि से स्थूल है । वहीं आकाश सभी दृष्टियों से सूक्ष्म है । इन्हीं स्थूल और सूक्ष्म पाँच महाभूतों का विग्रह यह भुवन है ।

एक तरह से यही पञ्चमहाभूत भुवनों के कारण हैं । भुवन माया पद पर और विद्या आदि पदों पर भी होते हैं । वहाँ के भुवनों की विशेषता यह है कि, वे स्थूल नहीं होते । उसकी बनावट के उपकरण स्थूल हो ही नहीं सकते । एक बात यहाँ

---

१. ख.पु. वर्णा इति पाठ: ।

पञ्च भूम्यादीनि स्थूलसूक्ष्मादिरूपतयात्मा कारणं यस्य भुवनस्य । मायाविद्यादिपदेऽपि हि भुवनानि सन्ति न च तत्र स्थूलभूतारब्धानि, तेषां च सूक्ष्मभूतारब्धानामपि स्वाधिष्ठातृकारणापेक्षया स्थूलत्वमेव । वस्तुतस्तु एषां भुवनादीनां शिवरूपत्वमेव । यथोक्तमन्यत्र–

'भुवनं विग्रहो ज्योतिः खं शब्दो मन्त्र एव च ।
बिन्दुनादादिसम्भिन्नः षड्विधः शिव उच्यते ।।'

इति । आरुरुक्षून् प्रति तु स्थूलस्थूलतरैरित्याद्युक्तम् ।।२७०।।

यदुक्तं 'स्थूला भावाः सिद्धिदाः' इति तत्रोक्तक्रमप्रातिलोम्येन सिद्धिभेदं विभज्य दर्शयति–

भुवनं चिन्तयेद्यस्तु वक्ष्यमाणैकरूपकम् ।
भुवनेशत्वमाप्नोति

वक्ष्यमाणमिति भुवनाध्वनि भुवनेशत्वं कालाग्न्यादिरूपत्वम् ।

यस्तु परो योगित्वादेतद्भुवनं वक्ष्यमाणं विग्रहाद्यपि शिवरूपतयैव पश्यति सः–

शिवं ध्यात्वा तु तन्मयः ।।२७१।।

विशेष रूप से ध्यातव्य है । वह यह कि, माया, विद्या आदि पद तो सूक्ष्म ही होते हैं किन्तु इनके अधिष्ठाता देवताओं की अपेक्षा वे भी स्थूल ही माने जाते हैं । वास्तविकता तो यही है कि, ये भुवन और विग्रह तथा मन्त्र आदि भी शिवरूप ही हैं । तन्त्र की यह दृष्टि है कि,

"भुवन, विग्रह, ज्योति, शून्य, मन्त्र और शब्द ये सभी बिन्दु और नाद आदि से सम्भृत रहने के कारण छः प्रकार के शिव के रूप ही हैं ।"

जितने भी आरुरुक्षु अर्थात् आत्म उत्कर्ष के लिये साधना में संलग्न साधक हैं, उनके लिये इस सन्दर्भ में बहुत सारी शास्त्रीय देशनायें यहाँ दी गयी हैं । उनका आचरण और अनुवर्त्तन करना चाहिये । यही इस पथ के पथिक का कर्त्तव्य है ।।२७०।।

ऊपर यह भी कहा गया है कि, स्थूल भाव ही सिद्धि प्रदान करते हैं । उन स्थूल भावों की अनुक्रमता को छोड़कर प्रतिलोम दृष्टि से सिद्धियों के भेद पर अपने विचार व्यक्त कर रहे हैं । शास्त्र प्रवर्त्तक के अनुसार जो साधक भुवनों के चिन्तन में ही रम जाता है, वह भुवनेश्वर पद की प्राप्ति में समर्थ हो जाता है । यह वर्णन भुवनाध्वा के सन्दर्भ में आगे किया गया है । भुवनेश कालाग्नि रुद्र आदि पद परिगणित होते हैं । यहाँ यह जानना आवश्यक है कि, जो साधक इन उपर्युक्त छः रूपों को भी शिवदृष्टि से ही देखता और उनकी शिवरूप में ही परभाव से उपासना, करता है, वह शिव का ध्यान करते हुए शैवतादात्म्य भाव के कारण शिवैक्य की उपलब्धि कर लेता है ।।२७१।।

शिवस्य च चिदानन्दघनतयैव ध्यानं[1] न त्वाकारेण । अन्येषां तु–

ब्रह्मादिकारणानां च साधने विग्रहं स्मरन् ।
पूर्वोक्तलक्षणं यश्च तन्मयत्वमवाप्नुयात् ।।२७२।।

पूर्वमित्यासननिर्णयावसर उक्तम्, यश्चेत्यत्र स इत्यध्याहार्यः ।

मन्त्रैश्च मन्त्रसिद्धिस्तु जपहोमार्चनाद्भवेत् ।

आराधितैरिति शेषः ।

अतश्च जपादिना पूर्वमेव ये साधिता मन्त्रा अङ्गब्रह्माद्याः–

पूर्वोक्तरूपकध्यानात्सिद्ध्यन्त्यत्र न संशयः ।।२७३।।

एषां पूर्वमेव ध्यानं साधनफलं चाग्रे भविष्यति ॥२७३॥

ज्योतिर्ध्यानात्तु योगीन्द्रो योगसिद्धिमवाप्नुयात् ।

ज्योतिर्बिन्दुः । योगसिद्धिरतीतादिज्ञानम् ।

योगप्रकर्षात्त–

तन्मयत्वं यदाप्नोति योगिनामधिपो भवेत् ।।२७४।।

यह ध्यान रखने की बात है कि, शिव का ध्यान चिदानन्दघन के रूप में ही करना चाहिये । यदि यह ध्यान विग्रह और भुवन रूप आकार का हुआ, तो इसका परिणाम अनुकूल नहीं हो सकता ।

ब्रह्मा, विष्णु आदि कारण रूप देव शक्तियों के ध्यान रूपी साधना में संलग्न साधकों को भी साकार ध्यान करने पर ब्रह्म-विष्णवादि तन्मयता ही प्राप्त हो सकती है । यह बात आसन निर्णय के सन्दर्भ में कही गयी है ॥२७२॥

मन्त्रों की साधना से मन्त्रों की सिद्धि होती है । इसके लिये जप करना चाहिये, मन्त्र के अधिष्ठाता देवता की पूजा की जानी चाहिये और इसी के उपलक्ष्य में होम भी आवश्यक है, तभी मन्त्रों की सिद्धि होती है । इसलिये मन्त्रों की आराधना अत्यन्त आवश्यक है । इसलिये जप आदि से पहले ही जो विद्याङ्ग और ब्रह्म आदि मन्त्र साधित किये जाते हैं, वे भी ध्यानादि प्रक्रिया द्वारा निःसन्देह सिद्ध हो जाते हैं । इसलिये जप, अर्चन और होम के पहले ही ध्यान का भी प्रयोग आवश्यक है ॥२७३॥

इसी तरह मात्र ज्योति का ध्यान करने से भी योगीन्द्र पुरुष, योग सिद्धियों को प्राप्त करते हैं । ज्योति बिन्दु का पर्यायवाची शब्द है । योग सिद्धि से यहाँ तात्पर्य अतीत आदि के ज्ञान से लेना चाहिये । इस योग विद्या में प्रकर्ष अर्थात् प्रकृष्ट उन्नति हो जाने से जब बिन्दु आदि का तादात्म्य प्राप्त हो जाता है,

---

१. ख. पु. ध्यानं कृत्वेति पाठः ।

अधिप इति भगवदीश्वररूपः ॥२७४॥

शब्दध्यानाच्च शब्दात्मा वाङ्मयापूरको भवेत् ।

शब्दो नादः ।

स्पर्शध्यानाच्च स्पर्शात्मा जगतः कारणं भवेत् ॥२७५॥

स्पर्श आनन्दात्मा शक्तिगतस्तस्याधस्तनजगत्कारणत्वाज्जगतः कारणमित्युक्तम् ॥२७५॥

व्यापिनीपदे तु–

शून्यध्यानाच्च शून्यात्मा व्यापी सर्वगतो भवेत् ।

समनाध्यानयोगेन योगी सर्वज्ञतां व्रजेत् ॥२७६॥

एवं स्थूलस्थूलतरादिभावापेक्षया सिद्धीः प्रतिपाद्यः–

'सूक्ष्मोऽत्यन्तं परो भावः' (स्व. ४-२६९)

तो योगियों का भी स्वामित्व उसे अनायास ही उपलब्ध होना स्वाभाविक है । यह स्वामित्व एक तरह का ईश्वरत्व ही होता है ॥२७४॥

शब्द का ध्यान करते हुए जब शब्द से भी तादात्म्य सिद्ध हो जाता है, तो समस्त वाङ्मय मात्र का वह अधिकारी हो जाता है । शब्द नाद का ही पर्याय मान्य है । इसी प्रकार स्पर्श के ध्यान करते हुए स्पर्श का तादात्म्य उपलब्ध हो जाता है । ऐसे लोग जगत् के हेतु कर्त्ता हो जाते हैं । स्पर्श वस्तुतः आनन्द का मूल हेतु माना जाता है । आनन्द शक्ति स्वातन्त्र्य की ही प्रतीक मानी जाती है । शक्ति से ही जगत् की निर्मिति होती है । जगत् के मूल में शाक्त उल्लास ही मुख्य कारक है । अतः जगत का कारण कहना उचित ही है ॥२७५॥

नाद-नादान्त के ऊपर शक्ति और शक्ति के ऊपर व्यापिनी का क्षेत्र आता है । व्यापिनी पद को शून्य पद भी कहते हैं । शून्य का ध्यान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ध्यान माना जाता है । इससे ध्यान कर्त्ता शून्य से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है । शून्य व्यापक होता है । व्यापकता में प्रवेश हो जाने पर साधक व्यापी हो जाता है । व्यापी होने पर सर्वत्र गति हो जाती है । सर्वत्र गति होने पर ही व्यक्ति सर्वगत कहलाता है । सर्वगत व्यक्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है । ऐसे लोग समाज की श्रद्धा के पात्र होते हैं ।

व्यापिनी के ऊपर समना पद की प्रतिष्ठा है । इसके ध्यान से योगी सर्वज्ञ हो जाता है । वस्तुतः समना में महालक्ष्मी, ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्री और चामुण्डा नामक शक्तियाँ वर्णमाला के वर्ण, क्रम से अधिष्ठित होती हैं । ये वाङ्मय की शक्तियाँ हैं । इनके ध्यान से सर्वज्ञता स्वाभाविक है ॥२७६॥

इत्यादिप्रतिपादित[1]दृशात्यन्तसूक्ष्मोन्मनापरतत्त्वध्यानं मुक्तिप्रदमित्यादिशति-

उन्मन्या[2] तु परं सूक्ष्ममभावं भावयेत्सदा ।

उन्मन्या[3] समवायिन्या शक्त्या सह परं पूर्वोक्तशिवतत्त्वरूपमभावं भावयेत् । अभावं व्याचष्टे-

सर्वेन्द्रियमनोतीतस्त्वलक्ष्योऽभाव उच्यते ।।२७७।।

सर्वाणीन्द्रियाणि मनश्चातीतोऽतिनिष्क्रान्तः समनापदादूर्ध्वस्य वेदित्रेकरूपत्वात्, अत एवालक्ष्यः, अतश्च न विद्यन्ते वेद्यादिरूपा भावा यत्रेति व्युत्पत्त्याभाव उच्यते, वस्तुतस्त्वसौ चिदानन्दघन एव ॥२७७॥

ननु यद्ययमीदृशस्तत्कथमुक्तम् 'अभावं भावयेत्सदा' इत्याशङ्क्याह

अभावं भाव्यं भावेन भावं कृत्वा निराश्रयम् ।

इस प्रकार स्थूल और स्थूलतर आदि भावों की अपेक्षा सिद्धियों की स्तरीयता का प्रतिपादन कर यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि, 'सूक्ष्म अत्यन्त परावस्था का भाव होता है ।' क्रमशः सूक्ष्मता की ओर आरोह करते हुए साधक उन्मना के स्तर पर परतत्त्व के ध्यान में रम जाता है । यह ध्यान मुक्तिप्रद होता है, यह ध्रुव सत्य तथ्य है । इसी तन्त्र के ४/२६९ कथन के अनुसार सूक्ष्मता की परभावमयता का भी प्रतिपादन किया गया है ।

इसके बाद उन्मना के सम्बन्ध में कुछ विशेष निर्देश देते हुए कह रहे हैं कि, उन्मना पद पर आरूढ़ साधक सूक्ष्मता की आत्यन्तिक अवस्था में जिसे हम 'अभाव' कह सकते हैं, उसी का भावन करना चाहिये । यह अभाव भी शिवतत्त्व रूप ही माना जाता है । उन्मनापद समवाय रूप से शिव से नित्य अवियुक्त है । उसे अभाव कहना उन्मना की परात्मक सूक्ष्मता का ही समर्थन करता है ।

अभाव भाव का अभाव नहीं वरन् समस्त इन्द्रियों से मन से भी जो अतीत पद है, जो शाश्वत है, अलक्ष्य है और पर भाव है, यह सर्वातीत, इन्द्रियों से अगोचर, मन और वाणी से भी अतीत, समना पद से ऊर्ध्व में प्रतिष्ठित वेदितृरूप होने के कारण अवेद्य और अलक्ष्य पद है । वहाँ वेद्य भाव होता ही नहीं । इसी आधार पर उसे अभाव की संज्ञा से विभूषित करते हैं । इसलिये उसे दूसरे शब्दों में चिदानन्दघन तत्त्व कहते हैं । इसीलिये इसे शिव पद ही मानते हैं ॥२७७॥

यहाँ एक नया प्रश्न उपस्थित होता है । अभी अभी सर्वेन्द्रिय मनोऽतीत इस भाव को चिदानन्दघन कहा गया है । यदि यह उक्त अवस्था चिदानन्दघन रूप है, इसे फिर अभाव क्यों कहा गया है ? साथ ही साथ यह देशना भी दी गयी है कि,

---

१. ख.पु. दिशेति पाठः । २. ग.घ.ङ.पु. उन्मनेति पाठः ।
३. ख.ग. उन्मनेति पाठः ।

न विद्यन्ते भावा यस्मिंस्तदभावरूपं पदं भावेन परसत्तात्मना चिन्मयेन रूपेण भाव्यं भावनीयम् । ननु चित्तत्त्वं भावकं तत्कथं भाव्यमुच्यते भावं कृत्वा निराश्रयमिति । भवतीति भावः सदाशिवादिः क्षित्यन्तः, तं निराश्रयं निरालम्बनं प्रशान्तरूपतया शक्तिधामानुप्रवेशेन [1]तन्मयीकृत्य ।

इत्थं च-

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तमभावं लभते पदम् ।।२७८।।

उपसंहरति-

एष ते[2] कारणत्यागः

अभाव का ही सदा भावन करना चाहिये । क्यों ? अभाव के भावन का तात्पर्य क्या हो सकता है ? इन बातों पर गहरायी से विचार करना चाहिये ।

सर्व प्रथम 'अभाव' पर विचार करें । जिसमें भाव की विद्यमानता न हो, भाव की सत्ता ही न हो, वही अभाव कहा जा सकता है । श्लोक कहता है कि, इस अभाव को भाव से अर्थात् परसत्तात्मक रूप से भावित करना चाहिये । इस ऐसे परसत्तात्मक रूप का हम चिन्मय रूप कह सकते हैं । इस रूप में उसे भावि करना चाहिये ।

यहाँ एक नया प्रश्न उठ खड़ा होता है । स्वाध्याय शील श्रोता पूछता है- गुरुवर ! चित्तत्त्व तो भाव्य नहीं, भावक माना जाता है ? आप उसे भाव्य क्यों कह रहे हैं ? गुरुदेव प्रसन्न भाव से शिष्य को समझा रहे हैं । उनका कहना है कि, वत्स ! तुम जो कह रहे हो, यह ध्रुव सत्य है । फिर भी अपने प्रश्न पर पुनर्विचार करो । सोचो भाव किसे कहते हैं ? भाव का विग्रह वाक्य है, भवतीति भावः । इसके अनुसार सदाशिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त के ३४तत्त्व भाव ही कहे जा सकते हैं । इस भावसद्भाव को निराश्रय कर, कहीं से भी कोई आलम्बन न देकर प्रशान्तरूप से ३५वें तथा ३६वें तत्त्व में तन्मय करना ही भाव्य करना माना जाता है । इस तन्मयता में अभाव दशा की ही भव्यता का उल्लास होता है । इसीलिये यह बात सिद्धान्त रूप से प्रतिपादित है कि, सभी सामान्य विशेष उपाधियों से विनिर्मुक्त दशा ही अभाव की दशा होती है । जो साधक भाव मात्र को शक्तिमान् शिव को अर्पित कर देता है, वह अभाव से ही भावित हो जाता है ।।२७८।।

इस विषय का उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि, वस्तुतः इन ३४तत्त्वों का एक एक का ऊपर में परित्याग कर उसी उसी में तन्मय करते हुए ३५वें शक्तिधाम में अनुप्रवेश करा देना ही हमारा, तुम्हार कारण त्याग है । गुरुदेव शिष्य से कहते हैं कि, वत्स ! यही प्रक्रिया यदि तुम अपनाओ तो, यह तुम्हारा भी कारण त्याग माना जायगा ।

---

१. ख.ग. उन्मनीकृत्येति पाठः । २. क.ख. मे इति पाठः ।

कारणत्यागेऽर्थाक्षिप्तं कालत्यागमाह–

कालत्यागं निबोध मे ।

स च–

तुटिषोडशसंयुक्तः प्राणस्तु समुदाहृतः ।।२७९।।

तस्य च–

तुटिद्वयं समाश्रित्य एकैको भैरवः स्थितः ।

द्वितीयावरणनिष्ठः कपालीशभैरवादिः ।

अस्मिंश्च–

अहोरात्रविभागेन कुर्वन्त्युदयमेव ते ।।२८०।।

यथाह्नि प्राणेऽष्टावुद्यन्त्येवं रात्रौ अपानेऽपि ॥२८०॥

इस सन्दर्भ में यह ध्यान रखना अनिवार्यतः आवश्यक है कि, क्रमशः कारणों के त्याग में काल का भी त्याग हो जाता है । इसलिये इसी क्रम में भगवान् के अनुसार कारण के त्याग के साथ ही कालत्याग पर भी ध्यान देना चाहिये । भगवान् कहते हैं कि, काल त्याग के सम्बन्ध में बताने जा रहा हूँ । तुम इसे ध्यान से सुनो, और गुनो ।

वत्स ! यह 'चार' जिसे प्राणचार कहते हैं, यह सोलह तुटियों वाला होता है । अर्थात् प्राण जहाँ से चलकर जहाँ तक जाता है, यह दूरी १६तुटियों में विभक्त मानी जाती है । 'तुटि' शब्द माप वाचक परिभाषिक शब्द है ॥२७९॥

तुटियाँ १६ होती हैं । भैरव आठ होते हैं । अतः एक एक भैरव के स्थान के रूप में दो दो तुटियाँ आती हैं । द्वितीय आवरणनिष्ठ कपालीश भैरव आदि आते हैं । इसमें ये भैरव दिन और रात के विभाग की अवस्था में उदित होते रहते हैं । आठ भैरव कपालीश, शिखिवाहन, क्रोधराज, विकराल, मन्मथ, मेघराज, सोमेश्वर और विद्याराज आठ बार दिन में उदय लेते हैं और यही आठों रात में भी आठ बार उदित होते हैं । यह ध्यान देने की बात है कि, उक्त दिन और रात शब्द एक ही श्वास के प्राणचार के जाने और आने के क्रम को कहते हैं । श्वास का शरीर से बाहर निकलकर चिति केन्द्र (आमावस्य केन्द्र) तक जाना दिन कहलाता है क्योंकि, प्राण सूर्य होता है । अतः प्राणचार सूर्य का दिन का समय है । चिति केन्द्र से अङ्कुरित अपान रूप सोम तत्त्व मुख्यरूप से मातृकेन्द्र में (पौर्णमास केन्द्र) नाभि में प्रवेश करता है । यहाँ पूरी पूर्णिमा होती है । पूर्णिमा रात में ही होती है । यह प्राण तत्त्व सूर्य तत्त्व की प्रधानता में दिन और सोम तत्त्व रूप अपान चन्द्र की मुख्यता में रात होती है । एक श्वास प्रश्वास में दिन रात का यही क्रम शास्त्र सम्मत है ॥२८०॥

एषां व्यापकः–

नवमस्तु परो देवः

पर इत्यष्टानां पूरको व्यापकः प्रकृष्टश्च श्रीस्वच्छन्दनाथः ।

एतदीयान्महाप्रकाशात्मनो व्यापकात्–

तेजसस्तूदयन्ति ते ।

तद्भित्तावेव स्फुरन्तीत्यर्थः । अतश्च प्राणोदये तदविनाभाविनि बाह्यान्तरनील-सुखादिज्ञाने तद्विकल्पनेऽपि वा परभैरवविकासमया एव महायोगिनो न तु कदाचित् क्वचिदपि खण्ड्यन्ते; प्रत्युत स्वात्मविकासेन सततं मण्ड्यन्त इति सरहस्यार्थोऽत्र कटाक्षितः ।

एवं स्थिते सति

सर्वं कालं त्यजेत्प्राणे यथावत्कथयामि ते ।।२८१।।

इस भैरवाष्टक में व्यापक भाव से अधिष्ठित नवम भैरव देव को ही परभैरवदेव कहते हैं । इन्हीं का प्रचलित और प्रसिद्ध नाम स्वच्छन्द भैरव है । व्यापक और पूरक होने के कारण इन्हें सबसे प्रकृष्ट स्थान दिया जाता है । इनका प्रकर्ष सर्वोपरि है ।

इसी व्यापक और महाप्रकाशमय परम भैरव के तेज से ये आठ भैरव, उसी परभैरव भित्ति पर ही उदित और स्फुरित होते हैं । इसीलिये प्राण के उदय होने पर ही बाह्याभ्यन्तर भाव से नील पीत सुख दुःख आदि ज्ञान भी होते हैं । प्राणोदय और इस प्रकार के ज्ञानों का अविनाभाव सम्बन्ध माना जाता है । प्राणोदय के विना नील पीतादि की जानकारी हो ही नहीं सकती । ज्ञान होने या उनके विकल्पन के प्रकल्पन की दशा के साक्षी पर भैरव विकास के तादात्म्य विज्ञान के साधक महायोगी ही होते हैं । आज तक इनका या इनकी अनुभूतियों का खण्डन किसी के द्वारा करने का साहस नहीं किया गया है । चूँकि एतद्विषयक इनका विज्ञान स्वतः साक्ष्य होता है । अतः यही प्रमाण माने जाते हैं । स्वात्म विकास के ये स्वतः प्रमाण हैं । अतः सभी इन्हें मण्डित ही करते हैं । इन बातों का ध्वनन इस कथन में व्यक्त हो रहा है ।

इस स्थिति में साधक को पहुँचना चाहिये । साधक अपनी स्वात्म चेतना की स्फूर्त्तियों का साक्षी हो जाता है । साधक योगी प्राणोदय में इन भैरवाष्टकों की तुटियों से मानो तादात्म्य सम्बन्ध बना लेता है । इस अवस्था में कलना कलित 'काल' को उसी प्राण में विसर्जित करता रहे, इस तरह प्राण के प्राणना व्यापार में काल की कलना भी अर्पित हो जाती है । साधक इस साधना के द्वारा कालजयी बन जाता है ।।२८१।।

तत्र–

तुटयः षौडशैवोक्ताः कालस्य करणं तु ताः ।
तदादिः संस्थितः कालः सर्वं चरति वाङ्मयम् ।।२८२।।

करणं तु ता इति प्राणारम्भद्वारेण ताभिः सर्वस्य कालस्योत्थापनात् । तदादिरिति

'क्षणद्वयं तुटिः प्रोक्ता.......।' (स्व. ११-१९९)

इति भाविनीत्या यद्यपि क्षणादिः कालस्तथापि–

'मानुषाक्षिनिमेषस्याष्टमोऽशः क्षणः ।' (११-२००)

इति भाविवाक्येनैव लक्ष्यस्यानुमेयत्वमुक्तमिति न तस्य सावधानैरपि तुटिवत् स्फुटसंवेद्यत्वमित्येवमुक्तं सर्वं चरति वाङ्मयमिति प्राणोच्चारोच्चरन्मातृकाव्याप्तिद्वारेण समस्तं वाचकराशिं तद्द्वारेण च वाच्यनियममपि व्याप्नोति ॥२८२॥

वास्तव में ऊपर कही गयीं तुटियाँ ही जिनकी संख्या सोलह कही गयी है, ये ही काल की करण मानी जाती हैं । प्राण के प्रारम्भ से ही ये तुटियाँ ही काल की कलना को जन्म देती हैं । इधर तुटि में प्राण प्रवर्तित हुआ और उधर काल की कला आरम्भ हुई । तुटि की परिभाषा इसी ग्रन्थ के ११/१९९ में लिखी गयी है कि,

दो क्षणों के संयोग को तुटि कहते हैं । दो क्षणों के यापन काल के एक कृष्टल को तुटि मानते हैं । दो क्षणों का काल योग प्राणचार में आठ बार आता है । इस प्राणचार में काल का त्याग साधक कर देता है । इसी तरह ११/२०० में क्षण को भी परिभाषित किया गया है । मनुष्य के आखों की पलकें निरन्तर उठती गिरती रहती हैं । इन्हें निमेष कहते हैं । निमेष के आठवें भाग के बराबर एक क्षण और दो क्षणों की एक तुटि होती है । आँख के निमेष अनुभव सिद्ध होते हैं । शास्त्र की भाषा में इसे पक्ष्मसंकोच कहते हैं । यह अनुभव प्रतीति के द्वारा ही प्रकल्पित होता है ।

पलक गिरने के काल की जानकारी के लिये सावधान पुरुष भी स्फुट रूप से इस काल को नहीं जान पाते । इसीलिये इसे अनुमेय माना गया है । वहीं तुटियाँ स्फुट संवेद्य होती हैं । क्योंकि साधक उसी क्रम में मातृका के वर्णों का भी प्राणोच्चार के साथ ही उच्चार करता ऊपर बढ़ता है । प्राणोच्चार और वर्णोचार एक साथ होता चलता है । इसी आधार पर यह कहा गया है कि, काल सारे वाङ्मय मात्र को 'चरति' अर्थात् मातृका-वर्ण-व्याप्ति के माध्यम से समस्त वाचक राशि को और वाच्य नियमों को भी स्वात्मसात् करता रहता है । इस तरह वाङ्मय काल और प्राण में व्याप्त होता रहता है ॥२८२॥

तदादिरित्युक्तं विभजति–

तुटिर्लवो निमेषश्च काष्ठा चैव कला तथा ।
मुहूर्तश्चाप्यहोरात्रः पक्षोः मास ऋतुस्तथा ।।२८३।।
अयनं वत्सरश्चैव युगं मन्वन्तरं तथा ।
कल्पश्चैव महाकल्पः

'तुट्यादयः षोडशः' इति, वक्ष्यमाणौ च द्वौ एकादशपटले निर्णेष्यन्ते ।

'महाकल्पस्य पर्यन्ते ब्रह्मा याति परं लयम् ।' (११-२६०)

इति एषोऽत्र महाकल्पो न [1]ग्राह्योऽसंगतेः; अपि तु सदाशिवजीवितावध्यात्मा परम-महाकल्पः ।

काल को परिभाषित करने वाले शब्दों को श्लोक २८२ में तदादि अर्थात् तुटि आदि शब्दों के द्वारा संकेतित किया गया है । इस श्लोक में वही व्यक्त किया गया है । वे तुटि आदि शब्द इस प्रकार हैं–

१–तुटि, २–लय, ३–निमेष, ४–काष्ठा, ५–कला, ६–मुहूर्त्त, ७–अहोरात्र, ८–पक्ष, ९–मास, १०–ऋतु, ११–अयन, १२–वत्सर, १३–युग, १४–मन्वन्तर, १५–कल्प और १६–महाकल्प । ये सोलह काल कला के मापक वाचक शब्द हैं । ग्यारहवें पटल में इनके अतिरिक्त दो और कालखण्डों का विवेचन किया गया है । और उन्हें परिभाषित किया गया है । उसी पटल में ११/२६४ द्वारा महाकल्प के विषय में कहा गया है कि, ''महाकल्प के अन्त में ब्रह्मा महाप्रलय में लीन हो जाते हैं ।

महाकल्प के विषय में आचार्य क्षेमराज की एक अलग सम्मति है । वे कहते हैं कि, उक्त ग्यारहवें पटल में परिभाषित महाकल्प का यहा ग्रहण असंगति पूर्ण है । वस्तुतः काल की कलना सदाशिव की जीवितात्मिका अवधि पर्यन्त ही मान्य है और यही कलना उचित है । इसीलिये इसे परममहाकल्प कहा जा सकता है ।

सदाशिव पर्यन्त जीवन की अनुभूति होती है । इसमें पार्थक्य प्रथा का प्रोच्छलन स्वाभाविक है । शक्ति में समस्त अव्यक्तों का समावेश हो जाता है । परित्यजेत् क्रिया विधि का निर्देश करती है । साधक पृथिवी से सदाशिव तक का परित्याग इसी शक्त्यन्त बिन्दु पर करे और शिव शक्ति सामरस्य के शाश्वत शाम्भव समावेश में समाविष्ट होने के लिये अग्रसर हो । यही सन्देश भगवान् भैरव हमें दे रहे हैं । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, साधक साधना के उच्च शिखर पर चढ़ते

---

१. क.पु. कार्य इति पाठः ।

यदाह–

शक्त्यन्ते तं परित्यजेत् ।।२८४।।

शक्त्यन्तर्भावानुप्रवेशान्ते सूक्ष्मदृशा सदाशिवान्तकारणपञ्चकोपसंहारी कालः प्रशाम्यतीत्यर्थः ।।२८४।।

अथ–

व्यापिन्यन्ते परः काल स तदङ्गी

स परममहाकल्पोऽङ्गमवयवः तेनाङ्गी पर इति साम्याख्यः । यद्वक्ष्यति–

'स कालः साम्यसंज्ञो वै........।' (११-३०४)

इति ।

त्यजेत्तु तम् ।

तं च समनानुभवदशायां परित्यजेत् ।

हुए जब शक्ति में अन्तर्भाव प्राप्त करता है, उस बिन्दु पर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव रूप कारण पञ्चकों का उपसंहार हो जाता है । यही पाँच काल की कलना के आश्रय हैं । इसी पञ्चक के परित्याग की देशना 'परित्यजेत्' क्रिया में निहित है । इसी बिन्दु पर काल का प्रशमन हो जाता है । साधक अकाल कलित अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।।२८३-२८४।।

इस अकालकलित अवस्था के पूर्णरूप को 'व्यापिनी' कहते हैं । इस अवस्था में भी काल रहता है । इसे 'साम्य' काल कहते हैं । कह सकते हैं कि, काल है भी और नहीं भी है । व्यापिनी वृत्त शक्ति और समना के मध्य में अवस्थित है । यथा नाम तथा गुण की उक्ति के अनुसार व्याप्ति इस व्यापिनी का गुण है । व्यापिनी को अति-क्रान्त करने वाला साधक जब इसकी सीमा को तोड़ता है, उसी के फटते ही उसमें से एक अङ्कुर उन्मिषित हो उठता है । इस अङ्कुर का नाम 'तत्समापत्ति' है । यही उन्मेष समना की समापत्ति करा देता है ।

व्यापिनी में अन्तर्भाव होने पर यह ज्ञात हो जाता है कि, उक्त महाकल्पकाल व्यापिनी में व्याप्त काल का अङ्ग है । इस अङ्ग रूप काल का अङ्गी 'साम्य' नामक परममहाकल्प होता है । 'तत्समापत्ति' की अनुभूति दशा में इस परममहाकल्प को भी योग युक्त साधक छोड़ देता है । पहले कहे गये महाकल्प की अपेक्षा इसे सत्रहवीं काल-कला कहते हैं ।

पूर्वप्रकारापेक्षया च–

स च सप्तदशो ज्ञेयः

ततोऽपि–

परार्धपरतः स्थितः ।।२८५।।

सोऽपि चाष्टादशो देवि समनान्ते तु तं त्यजेत् ।

समनानुभवपर्यन्ते उन्मनान्तर्भावे त्यजेत् प्रशमयेत् ॥२८५॥

एवमेक[१]प्राणोच्चारेणैव बहिर्विततमपि परार्धान्तं कालं गुरुप्रवरः प्रशमय्य अकालकलिते पदे स्थितिं बध्नीयात् । तदाह–

सर्वकालं तु कालस्य व्यापकः परमोऽव्ययः ।।२८६।।

उन्मन्यन्ते परे योज्यो न कालस्तत्र विद्यते ।

कालस्येति परार्धान्तस्य, सर्वकालं नित्योदितत्वेन व्यापकः, अत एव परमोऽव्य-

---

इस परममहाकल्प के अतिरिक्त अठारहवाँ काल खण्ड भी माना जाता है । समना के अन्त में जब साधक उन्मना में प्रवेश करता है, उसी समय इस काल कला का भी परित्याग कर देना चाहिये । सर्वत्र परित्याग का अर्थ प्रशमित कर देना ही होता है । उन्मना परावस्था है । इसमें पराबीज उल्लसित होता है । जिस तरह मयूराण्ड में सभी रङ्ग उल्लसित रहते हैं, उसी तरह पराबीज में अव्यक्त विश्वप्रसार अव्यक्त रूप से उसमें निहित रहता है । यहाँ काल प्रसुप्त रहता है । अकाल पुरुष पराबीज में पञ्चपिण्डनाथ के रूप में शास्त्रों में स्वीकृत है ॥२८५॥

गुरुदेव शिष्य के उत्कर्ष में सदा निरत रहते हैं । वे शिष्य के एक प्राणोच्चार में बाहर वितत-व्याप्त काल की असीमता को जो तुटि से परार्ध पर्यन्त अठारह खण्डों में यहाँ परिभाषित है, उसे प्रशान्त करा देते हैं । परिणामतः शिष्य अकाल कलित दशा में परानन्द निष्यन्द सुधा से सराबोर रहते हुए शैवतादात्म्य के महाभाव से भावित हो जाता है । शिष्य इस परावस्था के परानन्द में बँध सा जाता है । यह सब गुरु के अनुग्रह का ही चमत्कार है । इसी तथ्य को व्यक्त कर रहे हैं कि,

परार्धान्त इस काल में नित्य व्याप्त परमतत्त्व परमात्मा परमशिव स्वयं विश्व की कलना का कर्त्ता है । फिर उसकी कलना कोई नहीं कर सकता । परमशिव इस उन्मना भूमि में शक्ति शक्तिमद् सामरस्यावेशमयं भाव से भरित रहकर साधक को धन्य बना देता है । साधक को इस सामरस्य के आनन्द की अनुभूति के उल्लास में यह प्रत्यभिज्ञात हो जाता है कि, मैं काल की कलना को अतिक्रान्त कर अकाल पुरुष की कृपा का पात्र बन गया हूँ । शैव साक्षात्कार के इस वैलक्षण्य का वह स्वयं साक्षी

---

१. ख.पु. एवमेव प्राणेति पाठः ।

यश्च उन्मन्यन्ते परे शक्तिशक्तिमदनुभवावेशे योज्यः सामरस्येन प्रत्यभिज्ञेयः । तत्र च कलनात्मा कालो नास्ति तस्यैव विश्वकलनाकारित्वान्न तं कश्चित्कलयतीत्यर्थः ॥२८६॥

अत एवासौ–

नित्यो नित्योदितो व्यापी

नित्योदित इति न केनचिदाच्छादित इत्यर्थः ।

तं च सर्वोपरिवर्तित्वात्–

आदिरूपं न संत्यजेत् ।।२८७।।

तमेव दृढावष्टम्भयुक्त्या श्रयेत् ।

एवञ्च सति–

तं च नित्योदितं प्राप्य तन्मयो जायते सदा ।

योगीन्द्र इति शेषः ।

एवञ्च कारणत्यागानन्तरीयकः कालत्यागो निर्णीत इत्याह–

कालत्यागो भवेदेवं

उद्देशक्रमायातः–

शून्यभावस्त्वथोच्यते ।।२८८।।

शून्यो रूपो भावः पदार्थः परशून्यपदप्राप्त्युपायभूत इत्यर्थः ॥२८८॥

बन जाता है । वहाँ कलनात्मक काल समाप्त रहता है । विश्वप्रसार की कलना वहाँ नहीं रहती । वहाँ कलना करने वाला भी अब नहीं होता ॥२८६॥

इस तरह परमशिव अकाल पुरुष है और शक्ति शक्तिमत्सामरस्य में शाश्वत रूप से रमण करता है, यह सिद्ध हो जाता है । इस विवेचन से यह भी व्यक्त हो जाता है कि, वह नित्य, नित्योदित और सर्वत्र व्याप्त है । वह किसी से आच्छादित नहीं होता । वह सर्वोपरि वर्त्तमान परमाहेश्वर सर्वदा आदि रूप में उल्लसित है । उस रूप का कभी भी परित्याग नहीं करता । दृढ अवष्टम्भ पूर्वक वह उसी का आश्रय ग्रहण करता है ॥२८७॥

इस प्रकार की स्थिति में उस परमशिव के साक्षात्कार का स्वयं साक्षी योगीश्वर इस परमपुरुष परमेश्वर को स्वात्मसात् ही कर लेता है । यह स्वयम् उस नित्योदित भाव का प्रतीक बन जाता है । सदा तन्मय-तादात्म्य निरत हो जाता है । यह काल त्याग की अवस्था कारणत्याग के बाद ही आती है । इसीलिये आचार्य क्षेमेन्द्र कारणत्यागानन्तरीयक मानते हैं । कालत्याग की यह पूरी क्रमिकता है ।

यह ध्यान देने की बात है कि, त्याग के बाद वहाँ कुछ भी शेष नहीं रहता । इसीलिये कालातीत और कारणातीत इस अवस्था को शून्य कहते हैं । यह शून्य रूपी जो भाव है, यह परमशून्य पद की प्राप्ति का उपाय रूप भी है ॥२८८॥

तमाह–

ऊर्ध्वशून्यमधःशून्यं मध्यशून्यं तृतीयकम् ।

'चतुर्थं व्यापिनीशून्यं............।' (४-२८९)

इति वक्ष्यमाणत्वात् ऊर्ध्वशून्यमत्र नादान्तान्तनिःशेषपाशप्रशमभूः शक्तिपदम्, अधःशून्यमनुल्लसितप्रपञ्चं हृत्क्षेत्रम्, मध्यशून्यं तु क्रमेणाधस्तनप्रमेयप्रशमात्मकं कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटमूर्धरन्ध्रात्मकम् ।

इत्थं च–

शून्यत्रयं चलं ह्येतत्तदधो मध्य ऊर्ध्वतः ।।२८९।।

तदेतत् क्रमेणाधो मध्य ऊर्ध्वतः स्थितं शून्यत्रयमापेक्षिकत्वाद्धेयमित्यर्थः ।।२८९।।

यहाँ अर्थात् इस उच्चार-साधना यात्रा में साधक को कई शून्यों के अनुभव होते हैं । १–ऊर्ध्व शून्य,(पाश प्रथम भूमि रूप शून्य), २–मध्य शून्य और ३–अधः शून्य । व्यापिनी शून्य को यह शास्त्र चतुर्थ शून्य कहता है । पाठकों और स्वाध्याय शील अध्येताओं तथा साधकों को इस क्रम पर सावधानता पूर्वक विचार करना चाहिये । यहाँ जिसे ऊर्ध्व शून्य बनाया गया है, वह किस दृष्टि से ऊर्ध्व है ? यह एक रहस्यमय पूर्ण चिन्तन का बिन्दु है । वस्तुतः जीव पाशबद्ध पशु होता है । विश्व का सारा प्रसार पाशों से जकड़ा हुआ है । इन पाशों से मुक्ति का प्रयत्न ही साधना है । इसी जीवन में पाशों को शिथिल बनाकर इनसे छुटकारा की छटपटाहट साधना में प्रवृत्त करती है । तब परमेश्वर के अनुग्रह से जीव जीवन्मुक्त हो जाता है ।

साधक साधना और उपासना के सन्दर्भों को अतिक्रान्त करता हुआ इस समय निरोधिका के निरोध को तोड़ते हुए, नाद, नादान्त को पार कर शक्तिकेन्द्र पर अवस्थित है । शक्ति ऐसा ही महत्त्व पूर्ण केन्द्र है, जहाँ अशेष पाशराशि ध्वस्त हो जाती है । इसीलिये उसे निःशेष पाशों की प्रशमभूमि कहते हैं । इसके अवरोह क्रम में मूलाधार अन्तिम पड़ाव है । शरीर की संरचना में पाश प्रशम की दृष्टि से शक्ति केन्द्र ही सबसे ऊपर है । चूँकि यह अव्यक्त अनामय शून्य पद है । इसलिये इसे 'ऊर्ध्वशून्य' की संज्ञा से विभूषित कर इसके महत्त्व का ही प्रतिपादन यहाँ किया गया है । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि, शक्तिपद ही 'ऊर्ध्वशून्य' है ।

इसके बाद मध्य शून्य का क्रम आता है किन्तु इस क्रम के विपरीत अधः शून्य पर विचार कर रहे हैं । अधःशून्य को समझ लेने के बाद मध्यशून्य को समझना सरल हो जायेगा । वास्तव में अधः किसे कहा जाय ? अधः सबसे निचला केन्द्र होता है ।

शरीर का वह कौन सा केन्द्र है, जिसे निचला कहा जाय ? आदि भैरव भट्टारक इस विषय में मौन हैं । आचार्य क्षेमराज इसे अर्थात् अध:शून्य 'हृत्' क्षेत्र को मानते हैं । 'हृत्' सामान्यतया हृदय को कहते हैं । इस दृष्टि से यह अनाहत चक्र का क्षेत्र होना चाहिये । इसकी एक और विशेषता की सूचना यहाँ दी गयी है । जैसे वह अनुल्लसितप्रपञ्च क्षेत्र है । अत: यह हृत् क्षेत्र ही अध:शून्य है ।

इस बिन्दु पर कुछ और विचार अपेक्षित है । वस्तुत: हृदय शब्द का प्रयोग 'सा स्फुरता महासत्ता हृदयं परमेष्ठिन:' इस उक्ति के अनुसार परमेष्ठी ब्रह्मा का हृदय अर्थात् केन्द्र मूलाधार चक्र है । दूसरी बात जो मुख्य रूप से ध्यातव्य है, वह है कि, नाभिकेन्द्र ही परमेष्ठी परमेश्वर रुद्र का हृदय है । प्राण का उदय नाभि-नाल से होता है । नाल, गर्भ में माता की नाभि से मिला हुआ होता है । जन्म के बाद शिशु नाल को मातृनाल से काट देते हैं । उसी नाल से गर्भस्थ शिशु प्राणवन्त होता है । नाभि को मातृकेन्द्र भी कहते हैं । अत: इस दृष्टि से नाभि का मणिपूर चक्र ही अध:शून्य है । श्वास लेने पर शिशु का पेट फूलते देखा जा सकता है । अत: नाभिकेन्द्र ही हृत्क्षेत्र अर्थात् परमेश्वर शिव का मुख्य निचला केन्द्र बिन्दु है । यहाँ हृदय का अर्थ केन्द्र है ।

मेरी दृष्टि से अध:शून्य चक्र नाभिकेन्द्र को ही मानना चाहिये । प्राणापानवाह का निचला केन्द्र नाभि ही है । मणिपूर चक्र का बीज मन्त्र 'रुद्रबीज' माना जाता है । यह केन्द्र ही अनुल्लसित प्रपञ्च हृत्क्षेत्र है । शरीर के भू:, भुव: और स्व: तीन भाग हैं । भू भाग में स्वाधिष्ठान और मूलाधार दो क्षेत्र हैं । इनसे प्राणोदय नहीं होता । यह सभी जानते हैं और शास्त्र भी कहते हैं, तथा विज्ञान भी मानता है कि, भुवर्लोक में ही सोमसूर्य का संचार होता है । सूर्य भुवर्लोक में ही उदय अस्त की भूमिका का निर्वाह करता हुआ दीख पड़ता है । सूर्य ही प्राण और अपान ही चन्द्र है । अत: मणिपूर चक्र ही प्राण के उदय के कारण निचला शून्य अध:शून्य है । यह सिद्ध होता है ।

अब मध्य शून्य पर विचार करें । शक्ति और नाभि दोनों ऊर्ध्वाध:शून्यों के मध्य में अवरोह क्रम से चलने पर नादान्त, नाद (शब्द) निरोधिनी, अर्धचन्द्र, बिन्दु (ज्योति) ब्रह्मरन्ध्र, ललाट, भ्रूमध्य, कण्ठतालु, विशुद्ध और अनाहत क्षेत्र आते हैं । ये सभी ऊर्ध्व 'शक्ति' और अध:क्षेत्र नाभि के मध्य में आते हैं । आरोह क्रम में क्रमश: एक एक को त्यागते हुए ऊपर चढ़ते हैं । यही क्रम है ।

आरोह क्रम में नाभि रूप अध:केन्द्र से ऊपर के इन सभी मध्यशून्यों का परित्याग करते हुए शक्ति शून्य रूप ऊर्ध्व शून्य में प्रवेश करते हैं । इस आधार पर क्रमश: १-अध:शून्य, २-मध्यशून्य और तीसरे ऊर्ध्वशून्य की परिकल्पना करते हैं । यह मात्र परिकल्पना नहीं, अपितु शास्त्र की देशना भी यही है । इसी के बाद

किञ्च–

चतुर्थं व्यापिनीशून्यं समनायां च पञ्चमम् ।
उन्मनाया तथा षष्ठं

अत्रापि आपेक्षिकत्वाच्चलं ह्येतदिति योज्यम् ।

अतश्च–

षडेते सामयाः स्थिताः ।।२९०।।

आमयपदेनात्र हेयत्वमुपलक्ष्यते, तेन चलत्वाद् एते हेया इत्यर्थः । उन्मनाया अपि परतत्त्वापेक्षया किञ्चिच्चलत्वमस्ति । परतत्त्वस्यैव तु अविचलत्वादुपादेयत्वम् ।।२९०।।

चौथे व्यापिनी शून्य की बात आती है कि, तीन शून्यों का परित्याग करते हुए व्यापिनी नामक चौथे शून्य पर साधक पहुँच पाता है । अत: ये सिद्ध है कि, यह तीन शून्य हैं । ये चल हैं । अध:शून्य, मध्यशून्य और ऊर्ध्वशून्य यही इनके नाम और काम हैं । चल कहने का तात्पर्य निचले शून्य का उपरले शून्य में समाहित होना है । साधक आरोह क्रम में साधना के जिस शून्य में अवस्थित होता है, निचले का उसके लिये कोई भी महत्त्व नहीं रह जाता । इसीलिये आपेक्षिक रूप से निचला शून्य हेय हो जाता है । यही इसका चल होना है ।।२८९।।

इन तीनों के ऊपर चौथे शून्य का क्रम आता है । उसे अर्थात् शक्तिशून्य के ऊपर वाले शून्य को व्यापिनी शून्य कहते हैं । व्यापिनी शून्य का परित्याग कर सबसे पहले ऊपर की ओर पड़ने वाला शून्य समना शून्य है । यह सहस्रार चक्र में सुशोभित माना जाता है । यह पाँचवाँ शून्य है । इससे भी ऊपर उठने पर छठाँ शून्य उन्मना शून्य आता है । यह छठाँ सबसे ऊपर का शून्य है ।

एक बहुत ही विचारणीय और साधकों की सावधानी के लिये अत्यन्त महत्त्व पूर्ण बात यहाँ कह रहे हैं । भगवान् भैरव देव के अनुसार ये छहों शून्य 'सामय' होते हैं । आमय का अर्थ रोग होता है । रोग सर्वथा हेय होते हैं । ये छहों शून्य यदि सामय हैं, तो सभी हेय श्रेणी में ही परिगणित करने योग्य हैं । कोई साधक यह गर्व न कर बैठे कि, मैं उन्मना में पहुँच गया हूँ । अतएव सिद्ध हो गया हूँ । इस प्रकार के अशुद्ध 'अहम्' से सर्वदा सावधान रहना चाहिये ।

इसी उद्देश्य से भगवान् ने इन्हें 'सामय' कह कर साधकों को, मनीषियों और विचारकों को भी यहाँ सावधान किया है । कोई साधक यह प्रश्न न करे कि, उन्मना तो सर्वोत्तम भाव है । वह सामय कैसे हो सकता है ? वस्तुत: परतत्त्व की अपेक्षा इसमें भी हेयत्व और चलत्व है । उसकी अपेक्षा इसमें विच्चलद्भाव है । उपादेयता तो मात्र परतत्त्व में ही है ।।२९०।।

अत एवैते–

तत्त्वेनाधिष्ठिताः सर्वे सामया अपि सिद्धिदाः ।

तत्त्वं परमशिवः अधिष्ठितिर्व्याप्तिः । सिद्धिरत्र परयोगिनः पूर्णानन्दघनात्मैव इतरस्य तु तत्तत्स्वप्न[1]पदोचिता ।

अत एव–

षट् शून्यानि परित्यज्य सप्तमे तु लयं कुरु ।।२९१।।

कोई साधनारत साधक या उपासक निराश न हो जाय, इस तत्त्ववाद की तात्त्विकता में प्रवेश के पहले ही निराश न हो जाय, इस दृष्टि से भगवान् आशावादी दृष्टि अपनाने पर जोर देने तथा इस दिशा में भी प्रौढ़तया प्रयत्नशील रहने के लिये आश्वस्त करते हुए कह रहे हैं कि, जिन्हें मैंने आपेक्षिक रूप से सामय कहा है, वे भी वस्तुतः परतत्त्व से अधिष्ठित होते हैं । इनमें परतत्त्व की अधिष्ठिति अर्थात् व्याप्ति है । सामय होने पर भी ये छहों साधक को उत्कर्ष की ओर अग्रसर करते हैं, शिवशक्ति सामरस्य रस से अभिषिक्त करते हैं और सुफल प्रदान करते हैं, अतः सिद्धि प्रद माने जाते हैं ।

क्या सिद्धि को भोग रूपा सिद्धि माना जाय ? इसका उत्तर आचार्य क्षेमराज ने अपने उद्योत भाष्य में दिया है । उनके अनुसार परपथ में प्रविविक्षु साधक को पूर्णानन्दघन परमेश्वर की तादात्म्यानुभूति-सुधा के स्वारस्य का रस उन्हें मिलता रहता है । इस दृष्टि से इसे सिद्धि रूप से ही स्वीकार करना चाहिये । चिदानन्द घनानन्द मकरन्द सुधारस से सराबोर रहना किसी सिद्धि से बढ़कर ही माना जा सकता है । यह भी कहा जा सकता है कि, पूर्ण योगी परतत्त्व में प्रवेश कर पूर्णानन्दघनात्मता को पा लेता है । परसुषुप्ति रूप चिति में भी व्याप्त हो जाता है । वहीं साधक योगी अभी स्वप्न में ही परसुषुप्ति का आनन्द लेने के प्रयास करता रहता है ।

यहाँ अब सिद्धान्त का निरूपण कर रहे हैं । उनकी यह शास्त्रीय देशना है । सभी योगियों के लिये आचरणीय है और मननीय है । भगवान् कहते हैं– 'षट्-त्यागात् सप्तमे लयः' अर्थात् 'इन ऊपर कहे गये छहों शून्यों को परित्यक्त कर सप्तम परतत्त्व में लय करो' । कुरु क्रिया आज्ञा की बोधक है । अर्थात् ऐ साधको ! इन छहों के व्यामोह में ही साधना करने के आनन्द को सब कुछ यही है, मानकर सन्तोष मत कर लेना अपितु सातवें शून्य में अपने को लीन कर लो, जिससे तुम्हें चिदानन्द घनत्त्व स्वयम् उपलब्ध हो जाय ॥२९१॥

---

१. ग.पु. प्रचोदितेति पाठः ।

यतः–

तच्छून्यं तु परं सूक्ष्मं सर्वावस्थाविवर्जितम् ।

परं सूक्ष्ममिति निर्णीतं प्राक् । उन्मनाया अपि–

'.......शैवी मुखमिहोच्यते ।' (वि. भै. श्लो. २०)

इति न्यायात् परमपदप्रविविक्षुर्योग्या (क्षुयोग्या)शयेन परतत्त्वानुप्रवेशोपायत्वाद् अवस्था-त्वमस्तीति कृत्वा सर्वावस्थाविवर्जितमवस्थात्रयैकरूपं परमेव तत्त्वम् ।

एवं चेत् कथं शून्यमित्याह–

अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते ।।२९२।।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः ।

यदेतच्छून्यमित्युक्तं तद्वस्तुतोऽशून्यं चिदानन्दघनपरमशिवतत्त्वम् । अत्र हेतुः शून्यमिति । चो ह्यर्थे । यस्मात् शून्यमभाव उच्यते, अभावश्च न विद्यते भावः सर्वः प्रमेयादिप्रपञ्चो यत्रेति व्युत्पत्त्या इह चित्तत्त्वमे[1]वोद्दिष्टं तस्मादशून्यमेव युक्तमुक्तम् ।

इसी तथ्य को दृढ़ता प्रदान करते हुए कह रहे हैं कि, वस्तुतः परतत्त्व रूप शून्य सर्वोच्च सूक्ष्म शून्य है । वह अवस्था है, जहाँ सारी अवस्थायें स्वयं विगलित हो जाती हैं । वह सर्वावस्था-विवर्जित परम धाम है । छः शून्यों में सर्वोच्च शून्य उन्मना है । यह उन्मना से भी परे है । उससे परशून्य है । वह सामय है, तो इसे निरामय ही कहा जा सकता है ।

विज्ञानभैरव में श्लोक २० के द्वारा कहा गया है कि, 'इह अर्थात् आगमों में इसे शैवीमुख कहते हैं' । वस्तुतः 'मुख' उपाय को कहते हैं । निर्विभाग, निरामय परतत्त्व में प्रवेश के लिये शाक्तबल सम्पन्न साधक जब उस अवस्था में प्रवेश करता है, तो वह स्वयं शिव रूप हो जाता है । इस प्रवेश के उपाय के रूप में उन्मना शक्ति ही उपाय बनती है । शिवरूप में प्रवेश के लिये शक्ति ही उपाय बनती है ।

इसीलिये परतत्त्व में प्रवेश के उद्देश्य से उपाय के रूप में उन्मना शक्ति का आश्रय लिया जाता है । इसलिये इसे एक अवस्था मानते हैं । प्रविविक्षा भी एक अवस्था है । इसके बाद परतत्त्व में प्रवेश की अवस्था है । इन तीनों अवस्थाओं का एक रूप ही अवस्थात्रयैक्य रूप परतत्त्व है ।

यहाँ एक बात और विचारणीय है । जहाँ हम उन्मना को शून्य कहते हैं, वहीं उसे शक्ति रूप भी म ानते हैं, तो 'वदतोव्याघात' दोष उत्पन्न होता है । यह दोष न हो, इसलिये कहते हैं कि, अशून्य को ही शून्य कहते हैं । शून्य को अभाव भी कहते

---

१. ख.पु. निर्दिष्टमिति पाठः ।

अत एव तत्–

सत्तामात्रं

महासत्तारूपं प्रकाशात्मैव हि सर्वेषां भावाभावानां सत्ता ।

निःशेषभेदप्रशमात्तु–

परं शान्तं तत्पदं किमपि स्थितम् ।।२९३।।

लोकोत्तरमित्यर्थः ।।२९३।।

हैं । अभाव भी उसी अवस्था को कहते हैं, जहाँ भाव क्षयत्व प्राप्त करते हैं अर्थात् जहाँ भाव की सत्ता ही नहीं रहती, वह अभाव की अवस्था मानी जाती है । सच्ची बात तो यह है कि, शून्य भी शून्य नहीं होता । वह शक्ति की व्याप्ति से युक्त होता है । शून्य की देवी शक्ति को 'शून्यसाक्षिणी' कहते हैं । उसे चिदानन्दघनत्त्वमय ही मानते हैं । शून्यता ही इस उक्ति की हेतु है । वहाँ प्रमेयादि प्रपञ्च रूप भाव हो ही नहीं सकते ।

इसलिये जहाँ प्रमेयादि प्रपञ्च का भाव नहीं होता, उसे 'अभाव' कहना ही उचित है । शून्य को अभाव कहने का यही कारण है । हमें यह जानना ही नहीं; मन में धारण भी करना चाहिये कि, जहाँ ये भाव-प्रपञ्च अपने इस स्थूल रूप में नहीं होते, वहाँ 'चित्' तत्त्व की ही व्याप्ति होती है । इस श्लोक से यह भाव ही पुष्ट होता है । इसी आधार पर यह भी कह सकते हैं कि, शून्य भी अशून्य होता है और अशून्य भी शून्य होता है ।

ऐसी अवस्था को शून्य-अशून्य, भाव-अभाव आदि के शब्द-जाल में न डाल कर सामान्यतया केवल सत्तामात्र की कहना उचित है । इसी अनुभूति का समर्थन कर भगवान् भैरव कहते हैं कि, उसे सत्तामात्र अवस्था कहना ही वास्तविक सत्य है । ईश्वर प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की यही देशना है । वहाँ कहा गया है कि,

'सा स्फुरत्ता महासत्ता हृदयं परमेष्ठिनः' । अर्थात् वह शून्य जिसमें प्रमेयादि प्रपञ्च का स्थौल्य नहीं है, तथा मात्र चेतना ही 'चित्' तत्त्व ही स्फुरित हो, वह महासत्ता ही है । यह महासत्ता प्रकाशात्मक होती है । इस विषय का मर्म यह है कि, कारण सत्ता में सूक्ष्म सत्ता और सूक्ष्म सत्ता में स्थूल सत्ता निहित है अर्थात् वह महासत्ता ही सूक्ष्म स्थूल सत्ताओं की आधार है । भाव और अभाव, शून्य और अशून्य सब कुछ वही है ।

वहाँ सारे भेदभाव का प्रशमन है । इसलिये उसे परमशान्त 'किमपि' अर्थात् अनिर्वचनीय तत्त्व कहना या मानना ही आत्म कल्याण के लिये श्रेयस्कर है । उस लोकोत्तर तत्त्व के आलोक में इस तथ्य का निर्धारण करना चाहिये ।।२९२-२९३।।

न च विश्वोत्तीर्णरूपमेव एतद्यावद्विश्वमयमपीत्याह–

यत्र यत्र च नादादिस्थूला अन्येऽपि संस्थिताः ।
तत्र तत्र परं शून्यं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितम् ।।२९४।।

नाद आदिर्येषां बिन्द्वादीनां नादस्य चादयः शक्तिव्यापिन्याद्याः यत्र यत्र लला[1]टादिक्षेत्रे अन्येऽपि स्थूला नादादिवाच्याः सदाशिवाद्यास्तदधिष्ठिताश्च तत्तत्तत्त्वभुवनादयो यत्रान्तर्बहिर्वा संस्थिताः, तत्र सर्वत्र परं सत्तामात्ररूपं सर्वमिदं शर्करारसवत् तिलशोंऽशमंशं व्याप्य विचित्रेण रूपेणावस्थितम् ॥२९४॥

व्यापकमेव च व्याप्यात्मतया स्फुरति न तु व्याप्यं नामान्यदित्याह–

तदेव भवति स्थूलं स्थूलोपाधिवशात्प्रिये ।

महाप्रकाशात्मा श्रीस्वतन्त्र[2]नाथः स्वस्वातन्त्र्येणैव यतः स्थूलाभासतया स्फुरति[3] ततस्तदुपाधिवशात् स्थूलमुच्यत इत्यर्थः ।

इत्थं च–

स्थूलसूक्ष्मप्रभेदेन तदेकं संव्यवस्थितम् ।।२९५।।

इसी मान्यता के आधार पर हम इसे केवल विश्वोत्तीर्ण तत्त्व नहीं कहते, वरन् इसे विश्वमय भी कहते हैं । यह शास्त्र भी यही कहता है कि, जहाँ जहाँ नाद आदि स्थूल रूप सम्यक् भाव से अवस्थित हैं, वहाँ वहाँ शून्य ही है । वहाँ सबमें व्यापक रूप से सबकी उपस्थिति है । आप स्वयम् अनुभव करें । मस्तिष्क के अन्तरिक्ष रूप ब्रह्मरन्ध्र में नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समनादि सभी स्थूल सूक्ष्म हैं, इन सबमें शून्यरूप से सत्तामात्र शून्य भी व्याप्त है । तिलों में तेल की तरह और दूध में घी की तरह व्याप्त परमतत्त्व की अवस्थिति का अनुभव स्वाध्यायशील साधक आप स्वयं में करें । साक्षात् करें । तभी इस विचित्र अवस्थिति के चमत्कार आपकी चेतना को चिति में परिणत कर सकते हैं ॥२९४॥

व्यापक तत्त्व भी व्याप्यरूप से स्फुरित होता है । इसलिये व्याप्य तत्त्व व्यापक से पृथक् नहीं माना जा सकता । इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, वही व्यापक परम सूक्ष्म अव्यक्त तत्त्व स्थूल उपाधि के कारण स्थूल संज्ञा से विभूषित हो जाता है । इसे यों भी कह सकते हैं कि, महाप्रकाश रूप श्री स्वतन्त्र (स्वच्छन्द भैरव भट्टारक) नाथ शिव अपने स्वातन्त्र्य के बल पर ही स्थूलाभास रूप से स्फुरित होता है । इसी लिये स्थूलोपाधि के कारण स्थूल कहा जाता है ।

इस प्रकार सूक्ष्म और स्थूल भेद से एक व्यापक तत्त्व व्यवस्थित है, इस सिद्धान्त की स्थापना हो जाती है । दन दोनों में केवल उपाधि का ही अन्तर है ।

---

१. ख.ग.पु. लयादीति पाठः । २. ख.पु. स्वच्छन्देति पाठः ।
३. ख.ग. सरति इति पाठः ।

अत एव यस्येयतीं धारामारूढा संविन्महायोगिनः स-

तत्प्राप्य तन्मयत्वं च लभते नात्र संशयः ।

प्राप्येति दृढप्रतिपत्त्यावलम्ब्य न संशय इति तत्त्वमेवैतन्मन्तव्यं न तु [1]जडजनसुलभः संशयोऽत्र कार्यः । यस्त्वियति रहस्येऽर्थे न समाश्वस्तस्तदपेक्षया कारणत्यागाद्युक्तम् ।

शून्यमुपसंहृत्यैतदुचितानुक्रमं समरसमवतारयति-

शून्यभावः समाख्यातः सामरस्यं निबोध मे ।।२९६।।

समो रसो यस्मिन् स समरसो लोलीभावः[2] ।।२९६।।

इस औपाधिकता की गहराई से समीक्षा करन पर सर्वैक्य सिद्धान्त की ही पुष्टि होती है ।।२९५।।

जिस महायोगी की संवित्सुधा की धारा इसी ज्ञान प्रवाह में प्रवाहित होती है तथा इसी धारा में आरूढ हो जाती है, वह महायोगी उस व्यापक तत्त्व का तन्मयत्त्व प्राप्त कर लेता है । इस तादात्म्योपलब्धि में कोई संशय नहीं रह जाता । इसके लिये वैचारिक प्रौढ़ता की अपेक्षा होती है । यह उपलब्धि किसी पदार्थ की उपलब्धि के समान नहीं होती वरन् संवित्स्वातन्त्र्य में प्रौढ़ निश्चयात्मकता की प्रतिपत्ति मात्र ही होती है । इस विषय में अज्ञजनों की तरह संशयात्मिका स्थिति नहीं होनी चाहिये । जो इस रहस्यात्मकता के अन्तराल में इस तरह व्यवस्थित नहीं होता, वह कारणत्याग वाली सक्रियता में अनवरत लगा रहे, इसी में उसका कल्याण है । साधना में सावधानी पूर्वक प्रवेश होना चाहिये और इसमें श्रद्धा के साथ अटल विश्वास की भी आवश्यकता होती है ।

साधक को यह ध्यान रखना चाहिये कि, भाव-अभाव, शून्याशून्य स्थूल-सूक्ष्म के शब्दजाल से ऊपर उठकर सार्वात्म्य के सिद्धान्त में स्थिर होकर अकिञ्चित् चिन्तन में खो जाय अर्थात् अभावात्मक प्रकाश की महासत्ता के संस्फुरण का साक्षी बन जाय । यह स्थिति ही शून्य भाव है । इसे दूसरे शब्दों में सामरस्य कह सकते हैं । यही समरस भाव है, सामरस्य है, जिसमें रस समरूप से स्फुरित रहता है, वही समरस सत्ता है । इसे ही लोलीभाव भी मानते हैं ।।२९६।।

---

१. ख.पु. मूढ इति पाठः

२. ख.पु. लोलीभाव इति, ग.पु. समरसस्तद्भाव इति पाठः ।

तद्भेदानुद्दिशति–

आत्मन्येकः समरसो [1]मन्त्रे ज्ञेयो द्वितीयकः ।
तृतीयं नाडिगं कुर्याच्छक्तौ कुर्याच्चतुर्थकम् ।।२९७।।
व्यापिन्यां पञ्चमं प्रोक्तं समनायां तु षष्ठकम् ।
तात्त्वः समरसो देवि सप्तमस्तु विधीयते ।।२९८।।

एतान्यथोद्देशं लक्षयति–

शिष्यात्मानं तु संगृह्य पूर्वोक्तविधिना क्रमात् ।
पश्चादात्मनि संयोज्य लोलीभूतं विचिन्तयेत् ।।२९९।।

आत्मानं पुर्यष्टकसंविदं पूर्वोक्तविधिनेति ताडनच्छेदनादिपूर्वमात्मनि चैतन्यमात्रे संयोज्याविकल्पं विमृश्य तद्विश्रान्त्यैव समरसीकुर्यात् ॥२९९॥

सामरस्य के अनेक भेद हैं । ये भेद क्या हैं, मात्र वृत्तियों के तादात्म्यमय लास्य हैं फिर भी उन भेदों पर विचार करना ही चाहिये । ये भेद इस प्रकार हैं–

१–आत्म में स्वात्मैक्य विमर्श, २–मन्त्र सामरस्य, ३–नाडी सामरस्य, ४–शक्तिसामरस्य, ५–व्यापिनी सामरस्य, ६– समना सामरस्य और ७–तात्त्व सामरस्य ॥२९७-२९८॥

इन पर अलग अलग विचार करना आवश्यक मानकर भगवान् भैरव इन कारिकाओं का प्रवर्त्तन कर रहे हैं–

१. स्वात्मसामरस्य–

गुरु पूर्वोक्त विधि से शिष्य के स्वात्म को संगृहीत कर निज स्वात्म से समायोजित करें । इन दोनों को ऐक्य सामरस्य रूप लोली भाव के रूप में प्रौढ़तया एक रसकर स्वात्म में अवस्थित हो जाय । यही आत्म सामरस्य माना जाता है । इसमें शिष्य की पुर्य्यष्टक संविदा का स्वात्म चैतन्य में अविकल्प संयोजन एवम् अविकल्प विमर्श आवश्यक है ।

२. मन्त्रसामरस्य–

मन्त्र में समरसता ही मन्त्रसामरस्य कहलाता है । जैसे गायत्री मन्त्र का प्रथम एकाक्षर ओम् है । इसके उच्चारण के साथ ही अ-उ-म को पारकर उसके बिन्दु और अर्धचन्द्र की समस्त वर्ण व्यवस्थिति के रहस्य में प्रवेश के माध्यम से आत्मैक्य की अनुभूति हो जाती है । मान लिया कि, अ वर्ण में प्रवेश करना है । वहाँ रौद्री, वामा, ज्येष्ठा और अम्बिका शक्तियों के उल्लासात्मक स्फुरण की अनुभूति में रमते हुए उन्मेष बीज आदि के क्रम से अर्न्ध चन्द्र तक समाहित

---

१. ख.पु. मन्त्रः इति पाठः ।

अत्रैवेति[१]कर्तव्यतांशं पूरयन्नाडिमन्त्रसामरस्ये निर्दिशति तत्र शिष्यात्मनो ग्रहणार्थम्–

पूरकं कुम्भकं कृत्वा समानेन निरोधयेत् ।

कुम्भकप्रकर्षाल्लब्धबलेन समानेन निरोधयेदित्याक्रामेदर्थात्सर्वनाडीः ।

यदाह–

यावत्यो नाडयो देवि तिर्यगूर्ध्वमधःस्थिताः ।।३००।।
समानेन समाकृष्टा एकीभूता भवन्ति ताः ।

तदित्थं कुम्भकप्रकर्षेऽवस्थितस्य–

तासु ये वायवस्तेऽपि प्राणे समरसीगताः ।।३०१।।
नाडयस्तु सुषुम्नायामेकीभूता व्यवस्थिताः ।

भवन्तीति शेषः ।।३०१।।

होकर ओम् मय विश्व का और स्वात्म का सन्दर्शन और इसी प्रकार पूरे गायत्री मन्त्र से समरस होना । मन्त्र सामरस्य प्राणसम होता है । यह महत्त्वपूर्ण साधना है ।

३. नाडी सामरस्य–

शिष्य की आत्म परिग्रहता के लिये पूरक और कुम्भक की प्रक्रिया अपनाकर समान प्राण वायु से सभी नाडियों का निरोध कर देते हैं । समान प्राण वायु का महत्त्व इस प्रक्रिया में सर्वाधिक है । प्राण और अपान का सामान्य कार्य श्वास निःश्वास में सभी अनुभव करते हैं । उदान वायु से तालुरन्ध्र से आज्ञा के माध्यम से समना की ओर आगे ऊपर बढ़ते हैं । किन्तु समस्त नाडीचक्र को आक्रान्त करने के लिये समान प्राण का ही प्रयोग करते हैं ।

शरीर में ७२हजार नाडियाँ हैं । उनमें भी दश मुख्य हैं । इनमें भी इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना ही मुख्य हैं । इन्हीं तीनों के माध्यम से पूरक कुम्भक कर समान प्राणवायु को उत्तेजित कर सभी नाडियों को आक्रान्त किया जाता है । नाडियाँ चाहे तिर्यक् वक्र हों, ऊर्ध्व प्रवाहमयी ऊपर वाली हों अथवा निम्न प्रवाह वाली अधः भाग में संरचित हों, सभी समान वायु से आकृष्ट करने पर सुषुम्ना में एकीभूत हो जाती हैं । उन नाडियों में जो वायु संचरित रहते हैं, वे सभी इस दशा में मुख्य प्राण में एकीभूत हो जाते हैं । वह एक एक अवस्था होती है, जिसमें सभी प्राण प्राण में और सभी नाडियाँ सुषुम्ना में सामरस्य भाव में अवस्थित हो जाती हैं । इस प्रकार एक ही सामरस्य भाव में आत्म सामरस्य, नाडी सामरस्य और मन्त्रसामरस्य भी सिद्ध हो जाते हैं ।।३००-३०१।।

---

१. क.पु. कर्तव्यांशमिति पाठः ।

इत्थं नाडिसामरस्यपूर्वं मन्त्रसामरस्यं भवति ।

तदाह–

ततो वै उच्चरेन्मन्त्रः

उदित्यूर्ध्वमव[१]हितस्य चरेत् स्वयमेव प्रसरेत् ।

उच्चरन्तं च तं सादाख्ये पदेऽव्यक्तध्वन्यात्मनि–

नादे लीनं विचिन्तयेत् ।।३०२।।

उपसंहरति–

मन्त्र आत्मा तथा नाडी एवं समरसीभवेत् ।

वामदक्षिणमध्ये तु

युगपदेवेत्थं मन्त्रादिसामरस्ये वृत्ते–

ततो नादं प्रमोचयेत् ।।३०३।।

इस प्रकार नाडी सामरस्य का और मन्त्रसामरस्य का सहकार समझने का विषय है । ऊपर मन्त्र में प्रवेश के माध्यम से जिस सामरस्य की चर्चा मैंने की है, वह स्वानुभूति-सिद्ध तथ्य है । उस समय स्वाभाविक रूप से पूरक कुम्भक सभी समरस हो जाते हैं । रेचक नहीं होता, उल्टे अश्विनी मुद्रा द्वारा कुम्भक में भी पूरक होता रहता है । इस मन्त्र सामरस्य के विषय में भगवान् भैरव स्वत: स्पष्टतया इस का प्रवर्त्तन करते हुए कह रहे हैं—

तत: अर्थात् नाडी सामरस्य के अनन्तर मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये । इसमें एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं । उनका कहना है कि, ऊर्ध्व की ओर अवहित और सावधान रहना इस साधना में आवश्यक है । इस तरह मन्त्र का प्रवाह स्वयं प्रसरित होने लगे, इस तथ्य का साधक स्वयं साक्षी बन जाय ।

मन्त्र का प्रवाह ऊर्ध्व की ओर उदानवायु और आज्ञाचक्र के माध्यम से होता है । अश्विनी क्रिया होती रहनी चाहिये । अवधान ऊर्ध्व की ओर रहे । सादाख्य पद से ओङ्कारबीज वर्णों को अतिक्रान्त करते हुए अव्यक्त नाद ध्वनि में मन्त्र लीन होता हुआ लगता है । इसी का उस समय चिन्तन करे । इस प्रक्रिया में निरोधिका टूट जाती है, रास्ता मिल जाता है और अव्यक्त में लीन होने की स्थिति आ जाती है ॥३०२॥

इस अवस्था में पहुँचना साधक के लिये सौभाग्य का विषय माना जाता है । इसमें मन्त्र, आत्मा और नाडियों का अर्थात् इन तीनों का सामरस्य हो जाता है ।

---

१. ख.पु. वस्थितेति पाठ: ।

सेतुबन्धं च तं मार्गं यत्र गत्वा न जायते ।

शक्तिव्यापिनीसमनोन्मनारूपसेतुबन्धात्मकं मार्गं सर्वाध्वपारवर्तिशिवपदप्रापकं पन्थानं नादं मोचयेद् गमयेत् । तद्गतौ च सत्यां न संसरति । मुचेर्गत्यर्थविवक्षया द्विकर्मता ।

अत्र च कारणसामरस्यमर्थसिद्धमित्याह–

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरः शिव एव च ।।३०४।।
एतेऽत्र समतां यान्ति

यदा त्वकारोकाराद्युच्चा[१]रैर्हृत्कण्ठादौ विश्रान्तिस्तदा–

वामनाडी इडा और दक्षनाडी के मध्य अर्थात् उस समय सुषुम्ना समरूप से वाहित रहती है । इस प्रकार सबके एक साथ सामरस्य हो जाने पर नाद का भी परित्याग कर देना चाहिये ।।३०३।।

नाद का परित्याग कर पुनः ऊर्ध्व की ओर अवधान पहले की तरह बना रहना चाहिये । सावधानी हटी कि दुर्घटना घटी । वृत्ति पटरी पर से उतर जाती है । इस ऊर्ध्व की ओर चढ़ने के मार्ग को शास्त्र की भाषा में सेतुबन्ध मार्ग कहते हैं । सेतु दोनों किनारों को मिलाता है, वहाँ से अर्थात् नाद से शिव पर्यन्त पहुँचने के इस सेतु के शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना रूप चार खम्भे हैं । यह सेतु नश्वर से अविनश्वर में, मृत्यु से अमृतत्त्व में, सामान्य से असामान्य में और तमस् से प्रकाश में पहुँचा देने में समर्थ होता है । अध्वा से निरध्व अर्थात् अध्वपारवर्त्ती क्षेत्र में पहुँचा देता है । नाद रास्ते का पहला किनारा है और शिवशक्ति सामरस्य दूसरा किनारा है । इस सेतुबन्ध के अतिरिक्त दूसरा कोई पुल ऐसा प्रभावशाली नहीं होता । उस पार पहुँचने वाले की मुक्ति हो जाती है । आवागमन के बन्धन से छुटकारा हो जाता है ।

यह साधना की अतिसंवेदनीय समरस अवस्था मानी जाती है । इसमें आत्मा, नाडी, और मन्त्र सामरस्य की तरह कारण सामरस्य भी स्वाभाविक रूप से हो जाता है । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव शारीरिक अस्तित्त्व के और जीवन के कारण तत्त्व माने जाते हैं । उक्त साधना में संलग्न साधक के ये कारण तत्त्व भी समरस हो जाते हैं । इनके कार्य अब अयत्न साध्य रूप से अभेद अद्वय भाव में ही सम्पन्न होने लगते हैं अर्थात् सम हो जाते हैं ।।३०४।।

---

१. ग.पु. उच्चारे इति पाठः ।

अन्यथा तु पृथक् पृथक् ।

समनन्तरोक्तसेतुगतौ सामरस्यान्तराणि स्थितानि लक्षयति–

तस्मिन्समुच्चरेन्नादं यावच्छक्तौ लयं गतः ।।३०५।।
शक्तिमध्यगतो नादः शक्त्यात्मा तु विधीयते ।
सर्वं शक्तिमयं तत्र सर्वं समरसीभवेत् ।।३०६।।

तस्मिन्निति पूर्वोक्ते सेतुबन्धे सर्वमिति नादे समरसीभूतमात्ममन्त्रनाडिकारण-रूपम् ।

जिस बिन्दु पर अकार, उकार आदि के उच्चार से हृदय और कण्ठ आदि में विश्रान्ति होती है, उस अवस्था में पृथक् पृथक् सामरस्य के स्वरूप लक्षित होते हैं । यहाँ साधक को ध्यान देना चाहिये कि, अकार, उकार आदि का उच्चार ब्रह्मरन्ध्र में आज्ञाचक्र के ऊपर होता है । उस समय हृदय कण्ठ आदि से विशुद्ध चक्र के नीचे के मूलाधार तक के सारे चक्र अत्यन्त शान्ति के क्षेत्र हो जाते हैं । जिस अवस्था में कारण तत्त्वों की विश्रान्ति नहीं होती है, उस समय ये तत्त्व पृथक् पृथक् ही रहते हैं ।

सेतुबन्ध के इस मार्ग की यात्रा में साधक बिन्दु, चन्द्रबिन्दु और निरोधिका को पार कर नाद क्षेत्र में प्रवेश कर गया है । वहाँ उसे नाद और नादान्त का भी मोचन करना है । वह सजग और सावधान है । उसी समय उसे गुरुदेव कहते हैं–नाद का समुच्चार करते हुए शक्ति में प्रवेश करो । इस प्रस्तुत श्लोक में गुरुदेव की उसी आज्ञा का उल्लास है । नादान्त से होते हुए शिष्य तत्काल शक्ति में प्रवेश कर गया । यह उच्चार रहित अवस्था की तरह की शाक्त विश्रान्ति मानी जाती है । शाक्तसमावेश की परिभाषा यही कहती है–'उच्चार रहितं वस्तु चेतसैव' इत्यादि ।

४. शक्ति सामरस्य–

शक्ति के मध्य में प्रवेश कर गया नाद अब शक्त्यात्मक हो जाता है । वहाँ का सारा उल्लास शक्त्यात्मक हो जाता है । इसे हम सर्वथा शाक्त सामरस्य दशा मानते हैं । शास्त्र यही कहता है । 'तत्र सर्वं समरसी भवेत्' । शक्तिसामरस्य सिद्ध साधक आत्म, नाडी और मन्त्र आदि कारण तत्त्वों को अतिक्रान्त कर जाता है । परमानन्दमय शक्ति के सामरस्य में सब कुछ समरस हो जाता है । यह मात्र अनुभूति का ही विषय है ॥३०५-३०६॥

तदेतच्छक्त्यैक्यमाप्य–

तदूर्ध्वं व्यापिनीं प्राप्य सर्वं तन्मयतां व्रजेत् ।

सर्वं प्राप्तव्यापिन्यभेदम् ।

समन्ताद्व्याप्नुयाद्यस्माद्व्यापिनीत्यभिधीयते ।।३०७।।

ततश्च–

तदूर्ध्वं समनां व्याप्य तन्मयत्वं व्रजेत्पुनः ।

तत्र च–

सा च सर्वगता ज्ञेया सामरस्येन संस्थिता ।।३०८।।

चशब्द एवार्थे, सैव तत्र सर्वगता सर्वावबोद्धव्येत्यर्थः । गमिरत्र ज्ञानार्थः ।।३०८।।

---

५. व्यापिनी सामरस्य–

यह शक्त्यैक्य दशा कही जा सकती है । परन्तु ध्यान रहे, इस आनन्द समुद्र का सन्तरण अभी करना है । इसको अतिक्रान्त कर व्यापिनी वृत्त में प्रवेश करने में साधक तत्पर होता है, एवं अपने सफल प्रयास से व्यापिनी को उपलब्ध हो जाता है । यह व्यापिनी में अभेदानुभूति का साधनात्मक आनन्द है । सामान्यतया यह प्रश्न सामने आता है कि, इसे व्यापिनी क्यों कहते हैं ? व्यापिनी का अर्थ होता है, जो सबको व्याप्तकर अवस्थित हो । इस सर्वत्र व्याप्त होने की क्षमता वाले व्यापिनी वृत्त से 'समना' में प्रवेश पाना सरल हो जाता है । इस व्यापिनी तत्त्व से जिस भावना का उल्लास या उन्मेष होता है, उसे 'तत्समापत्ति' कहते हैं । 'तत्समापत्ति' संज्ञा से भी 'समना' की सम्प्राप्ति की आशा और प्रबल हो उठती है ।

६. समना सामरस्य–

'समना' सहस्रार चक्र की चैतसिकता का चमत्कार स्थल है । सहस्रदल कमल के पत्रों पर वर्णमाला ५० अक्षर २०वृत्तों के अनुसार न्यस्त होते हैं । उनमें परावाक् की वैद्युतिक ऊर्जा का उद्वलन होता है । वहाँ की ऊर्जा शब्दब्रह्म के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्ममयी अर्थात् सार्वात्म्य को आत्मसात् करने वाली होती है । साधक उसमें पूरी तरह तन्मय हो जाता है और स्वात्म में सर्व का अनुभव करने लगता है । इसी रहस्य का उद्घाटन शास्त्र कर रहा है और अपने शब्दों में कह रहा है कि, समना सर्वगत है, यह जानना चाहिये और यह दृढ़धारणा करनी चाहिये कि, इस सर्वगत शब्द में शक्ति समरस भाव से भी अवस्थित है' । सर्वगत शब्द में गति ज्ञानार्थ में ही प्रयुक्त है ।।३०७-३०८।।

तदित्थम्–

षष्ठं समरसं त्यक्त्वा सप्तमं तु ततो व्रजेत् ।

उन्मनाशक्त्यनुप्रवेशेन प्राप्नुयात् ।

तं प्राप्य तन्मयत्वं हि नात्र कार्या विचारणा ।।३०९।।

यश्चेत्थं प्राप्तपरसामरस्यः–

स च सर्वेषु भूतेषु भावतत्त्वेन्द्रियेषु च ।
स्थावरं जङ्गमं चैव चेतनाचेतनस्थितम् ।।३१०।।
अध्वानं व्याप्य सर्वं तु सामरस्येन संस्थितः ।

स चेति स एव स्थावरमचेतनं जङ्गमं सचेतनं चेति संक्षेपेण द्विधा स्थितं षड्विधमध्वानं [१]व्याप्य तदन्तर्वर्तिषु सर्वेष्विति देवयोन्यादिषु चतुर्दशसु भूतेषु भावेषु धर्मा-दिषु घटादिषु च तत्त्वेषु पृथिव्यादिषु भोगसाधनेषु चेन्द्रियेषु सामरस्येन स्थितः सर्वास्व-वस्थासु अविलुप्तपरभैरवसमापत्तिः । एषैव निर्व्युत्थानसमाध्यात्मा महारहस्यभूता ।

---

७. तात्त्व सामरस्य–

यह ध्यान देने की बात है कि, सामरस्य की जो छठवीं स्थिति मानी जाती है, 'षट्त्यागात् सप्तमे लयः' के सिद्धान्त के अनुसार साधक इस सामरस्य स्थिति का भी परित्याग करता है । तत्पश्चात् वह सातवें सामरस्य में लीन हो जाता है । यह सातवीं सामरस्यभूमि समना से ऊर्ध्व स्थिता 'उन्मना' होती है । उन्मना को उपलब्ध होना सौभाग्य का विषय माना जाता है । साधना की यह सर्वातिशायिनी अवस्थिति मानी जाती है । इसको उपलब्ध हो जाने वाला साधक सर्वमय हो जाता है । इस विषय में किसी तर्क के या शङ्का के लिये कोई अवकाश नहीं है ।।३०९।।

इसी श्लोक का उपवृंहण आगे के श्लोक में भगवान् कर रहे हैं । उनका कथन है कि, इस सामरस्य की परानुभूति में रम रहने वाला वह साधक समस्त भूतमात्र (भूमि, जल, अनल, अनिल और निखिल ख) में, समस्त भाव जगत् में, समस्त तत्त्वों और सारी ऐन्द्रियिक सक्रियता की शाक्त परानुभूति में व्याप्त हो जाता है । इतना ही नहीं, वह स्थावर और जङ्गम में चर और अचर अर्थात् चराचर में, जड़ और चेतन में भी व्याप्ति का अनुभव कर लेता है ।।३१०।।

भूत स्थावर जङ्गमादि उभयात्मा सर्ग की व्याप्ति के अतिरिक्त पर सामरस्य प्राप्त साधक के विषय में विशेष रहस्य की स्थिति का भी उद्घाटन भगवान् भैरव कर रहें हैं । उनके अनुसार वह समस्त वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व और भुवन रूप अध्वा वर्ग को अधिकार पूर्वक व्याप्त कर लेता है । इस अध्वावर्ग की व्याप्ति का

---

१. ख.ग.ङ.पु. प्राप्येति पाठः ।

अध्यासितसमाधिषु तु–

प्रसह्य चञ्चलीत्येव योगिनामपि यन्मनः ।।३११।।

कुटिलं चलति भोगाभिलाषेण व्युत्थानमेव धावति नाभीष्टं पदमवष्टभ्नाति, यदिति यस्मादेवम् ।।३११।।

ततः–

यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः ।
मनो न चलते तस्य सर्वावस्थागतस्य तु[१] ।।३१२।।

ज्ञेयं च यथा व्याख्यातं परतत्त्वम्, भाव आशयः, स्थिरो निश्चलः; पूर्णो निराकाङ्क्षः, समन्ततः सर्वसर्विकया, तुरप्यर्थे ।।३१२।।

तात्पर्य यह होता है कि, इसके अन्तर्गत आने वाली समस्त देवयोनियों में भी वह आत्मवत् व्याप्त हो जाता है । इसमें चौदहों भुवन और भुवनस्थित प्राणियों में भी प्रभावी हो जाता है । भावात्मकता, धर्म की धारणात्मकता, तत्त्वों की तात्त्विकता, भोग साधक भूतसर्ग की भौतिकता और इनकी ग्राहिका रूप इन्द्रियादि में भी इसकी व्याप्ति हो जाती है । इन सब में समरस भाव से वह अवस्थित हो जाता है । तात्पर्य यह कि, सभी अवस्थाओं में नित्योदित भैरव भाव का तादात्म्य उसे उपलब्ध हो जाता है । यह महारहस्यमयी निर्व्युत्थान समाधि की दशा मानी जाती है ।

इसके विपरीत अध्यास के आधार पर उपलब्ध समाधि में मन के ऊपर जितना दबाव डाला जाता है, प्रतिक्रिया स्वरूप मन उसमें चञ्चल ही होता जाता है । वहाँ भी भोगाभिलाष पीछा नहीं छोड़ता । यह व्युत्थान की दशा ही कही जा सकती है । इसमें भी 'मनमानी' ही प्रधान बन कर योगी को अभीष्ट से वञ्चित करने में ही चरितार्थ हो जाती है ।।३११।।

इस स्थिति में निष्कर्ष रूप से यह सिद्धान्तित किया जा सकता है कि, जिस साधक का भाव या मन ज्ञेय पदार्थों में ही रमा या लगा रहता है, वह भोगासक्त होकर ही रह जाता है । किन्तु इसके विपरीत जिसका परमज्ञेय भाव चारों ओर से स्थिर हो जाता है, भले ही विष से विषम या आकर्षक सुखकर परिस्थितियाँ आ जाँय, उसका मन विचलित नहीं होता, यही प्रमाण है, साधना की सिद्धि का । साधक ने परतत्त्व रूपी ज्ञेय में स्थिति प्राप्त कर ली है । इसका मन निश्चल हो गया है । गीता के शब्दों में वह स्थितप्रज्ञ हो गया है । उसके मन में कोई आकांक्षा शेष नहीं रह गयी है । कहा जा सकता है कि, सर्वात्मना सर्वसर्विका भाव से वह स्वात्म में अवस्थित है ।।३१२।।

---

१. ग.पु. चेति पाठः ।

ईदृशस्य महायोगिनः–

यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत् ।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ।।३१३।।

मन एव परतत्त्वैक्यभावना[1]वासितं कर्तृ यथोक्तं ज्ञेयं सर्वत्र चिन्तयत्येव । तदुक्तं महागुरुभिः–

'शिवभावनयौषध्या बद्धे मनसि संसृतेः ।
काष्ठकुड्यादिषु क्षिप्ते रसवच्छिवहेमता ॥' (शि. दृ. ७-४८)

इति ॥३१३॥

एतदेव द्रढयति–

विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितः ।

ऐसा साधक 'महायोगी' कहलाता है । उसका मन जहाँ जहाँ जाता है । उस उस स्थान पर ज्ञेय तत्त्व का ही वहाँ चिन्तन करता है । इससे किसी प्रकार के स्खलन का भय नहीं रहता । यह सत्य है कि, कोई भी चलकर कहाँ जा सकता है ? सर्वत्र शिव की ही व्याप्ति है । परिणामतः जहाँ जहाँ मन जाता है, वहाँ वहाँ सर्वत्र शैव व्याप्ति के कारण साधक का मन परमज्ञेयतत्त्व में ही सर्वात्मना रहने से उसके स्खलन का भय नहीं रह जाता है । जब मन ही परमज्ञेय तत्त्व से वासित हो जाय तो फिर तो सर्वत्र शिवतत्त्व ही चिन्तन मनन का विषय बन जाता है, इसमें सन्देह का लेश नहीं रह जाता । योगी सर्वदा उसी चिन्तन में रत होते हुए रमा रहता है । इस विषय में परम गुरुजनों की यह उक्ति ध्यातव्य है—

'शिव रूप भावनात्मक परम ओषधि के प्रभाव से जब मन भावित हो जाता है, तो संसृति रूपी लौह की परिणति अग्नि सम्पुट से निष्पन्न शिव-स्वर्णरूपता में हो जाती है' । शिव दृष्टि (७-४८) ॥३१३॥

इस तथ्य का दृढतापूर्वक समर्थन कर रहे हैं—

सभी विषयों में अर्थात् समस्त इन्द्रियार्थों में रहते हुए भी वह साधक जहाँ विषय रूप का निरूपण करने की स्थिति में होता है, वहाँ वहाँ वह शिव का ही दर्शन करता है । विश्वविस्तार में उसके लिये कुछ भी अशिव नहीं दीख पड़ता । उसे सब कुछ शिव ही दृष्टिगत होता है ।

---

१. ख.पु. भावितमिति पाठः ।

यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित् ।।३१४।।

इन्द्रियाणि चार्थश्चैन्द्रियकं प्रयोजनं विषयोपभोगस्तेषु स्थितो योगिवरो यो निरूप्येत विचार्येत यत्र कुत्रापि नास्याशिवमस्ति सर्वस्यास्य प्रकाशमानतया प्रकाशघनशिवैकात्म्यात् ।।३१४।।

एवं समरसं ज्ञात्वा नासौ मुह्येत् कदाचन ।

मितयोगिनो व्युत्थाने मुह्यन्त्येवेति कदाचनपदस्याशयः ।

अतश्च–

यस्यैवं सर्वतो भावः सोऽपि सर्वगतो भवेत् ।।३१५।।

शिवस्तावत्सर्वगत इति नास्त्यत्र विमतिः, यस्य त्वेवं शिवैक्येन भावं आशयः सर्वगतः सोऽपि सर्वगतो भवेत् महाव्याप्तिमनुभवत्येव ।

इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों में ही प्रवृत्त होती हैं । विषयोपभोग ही इसका एक मात्र प्रयोजन है । सारा संसार इसी में निरत है । यह प्रत्यक्ष सत्य है । जहाँ तक योगयुक्त साधक का प्रश्न है, वह भी इस इन्द्रियार्थ सम्पर्क में ही शरीर प्रक्रिया और व्यवहारवाद का निर्वाह करता है । ऐसी अवस्था में भी वह विचार के स्तर पर किसी इन्द्रियार्थ में और उसकी सत्ता में अशिव का दर्शन नहीं करता । अशिव उसे कभी भी दीखता ही नहीं । सबका प्रकाशक वह शिव ही है । इसलिये प्रकाश घन शिवैक्य का ही दर्शन उसे होता है ।।३१४।।

इस समरस भाव का ऐसा साधक सच्चा जानकार होता है । इस सामरस्य की परानुभूति से सतत भावित रहता है । वह इसका अनुभविता और साक्षी होता है । ऐसी अवस्था में इस सामरस्य से स्खलित होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । जो मित योगी होते हैं, वे व्युत्थान दशा में विमुग्ध हो जायँ, यह सम्भव है, किन्तु ऐसे साधक के लिये यह सम्भव नहीं है । नितान्त असम्भव है ।

इसलिये जिस साधक का ऐसा समरस भाव हो जाता है, वह शिवमय हो जाता है । शिव सर्वव्यापक तत्त्व है । अतः सर्वगत माना जाता है । इसलिये शिष्य भी सर्वगत हो जाता है । इस बात में किसी में कोई मतभेद नहीं है कि, शिव सर्वत्र व्याप्त तत्त्व है । जिस साधक का ऐसा दृढ भाव जागृत हो जाता है, वह शिव के सर्वगत होने के कारण वह भी सर्वगत हो जाता है । शिव की महाव्याप्ति में वह भी समाहित हो जाता है ।।३१५।।

एतदुपसंहृत्य एतत्पूर्वकक्ष्याभावि अनुद्दिष्टमपि विषुवत्स्वरूपं निरूपयति–

एवं समरसः प्रोक्तो विषुवत्तु निबोध मे ।

तद्विभजति–

प्रथमं प्राणविषुवन्मान्त्रं ज्ञेयं द्वितीयकम् ।।३१६।।
तृतीयं नाडिविषुवत्प्रशान्तं च चतुर्थकम् ।
पञ्चमं शक्तिविषुवत्षष्ठं वै काल उच्यते ।।३१७।।

विषुवत् विज्ञान–

महाव्याप्ति की अनुभूतियों की परावस्था की चर्चा यहाँ की गयी है । इसी सन्दर्भ में कथनीय किन्तु अब तक अनुक्त विषय की प्रक्रिया सम्बन्धी कुछ विज्ञान की बातों की ओर अध्येता का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि, यहाँ तक हमने समरस भाव पर प्रकाश डाला । अब मैं विषुवत् के सम्बन्ध में वास्तविकता का ज्ञापन करूँगा । इसको निष्ठापूर्वक बोध का विषय बनाओ । व्याप्त्यर्थक विष्ऌ धातु से यह 'विषु' शब्द निष्पन्न होता है ।

'प्राण विषुवत्' प्रथम विषुवत् माना जाता है । दूसरा विषुवत् 'मान्त्र विषुवत्' है । तृतीय विषुवत् 'नाडि विषुवत्' होता है । चौथा 'प्रशान्त विषुवत्', पाँचवाँ 'शक्ति विषुवत्' और छठाँ 'काल विषुवत्' होता है । सातवें विषुवत् को 'तत्त्व विषुवत्' कहते हैं । 'विषुवत्' एक पारिभाषिक शब्द है । विषु का अर्थ होता है साम्यरूपा व्याप्ति । जो इस व्याप्ति के योग्य होता है, वही विषुवत् होता है । यदि आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में विचार करें, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि, साम्य संविद्बोध की व्याप्ति ही 'विषु' कहलाती है । विषु से अन्वित ही विषुवत् हो सकता है ।

ज्योतिर्विज्ञान की विषुवत् रेखा पर दिन और रात बराबर होते हैं । यही साम्य व्याप्ति का रहस्य है । वह 'विषुवद् वासर' संज्ञा से विभूषित किया जाता है । आचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य ने विषुवद् विज्ञान की चर्चा (१५/२१२) करते हुए यह स्पष्ट किया है कि, इस ब्रह्माण्ड के मध्य में विभु परमेश्वर की ज्ञान शक्ति का प्रतीक सूर्य प्रकाशघन वृत्तिमानता के कारण मेष राशि के संक्रमण के समय पूर्वपश्चिम दिग्विभाग की निष्पत्ति करता है । सूर्य रूप शिव की सात रश्मियों के प्रतीक रूप ही विषुवत् भाव से सात विषुवत् बन जाते हैं ।।३१६-३१७।।

सप्तमं तत्त्वविषुवत्

विषुं साम्यरूपां व्याप्तिमर्हतीति विषुवत् ।

एवं विभक्तस्यास्य-

प्रविभागस्त्वथोच्यते ।

प्रकर्षेण विभज्यतेऽन्यपरिहारेण व्यवस्थाप्यते वस्तु येन स प्रविभागो लक्षणम् ।

तत्र-

आत्मानं च मनः प्राणे संयोज्य विषुवद्भवेत् ।।३१८।।

शिष्यसत्कमात्मानमात्मीयं च मनः प्राणे मध्यवाहिनि सम्यगित्युक्तवक्ष्यमाण-करणयुक्त्या योजयित्वा प्राणविषुवद्भवति ।।३१८।।

यह सात रूपों में विभक्त विषुवत् का रहस्य है । इस विभाग को भी पूरी तरह हृदयङ्गम करना चाहिये । विभाग की परिभाषा भी यही है कि, प्रकर्ष पूर्वक दूसरे से अपनी स्वतन्त्र सत्ता में पृथक् पृथक् व्यवस्थित कर दिया जाता है । यही प्रविभाग कहलाता है । इस दृष्टि से पहला प्रविभाग 'प्राण विषुवत्' माना जाता है ।

१. प्राण विषुवत्-

प्राण विषुवत् को परिभाषित करने के पहले अध्येता को अपने मन में यह बिठला लेना चाहिये कि, क्रियायें गुरुदेव नित्य सम्पन्न करते हैं । साथ ही साधनारत को शिक्षित भी करते रहते हैं । मान लीजिये वे शिष्य को सिखा रहे हैं । उस समय वे जो बता रहे हैं, वही भगवान् भैरव यहाँ कह रहे हैं । गुरु कहते हैं-वत्स ! तुम अपनी स्वात्मसत्ता का विचाार करो । पहले अपने आप रूप का ध्यान कर लो । फिर अपने मन को निश्चल कर लो । अब अपने आत्मरूप को और अपने मन को इन दोनों को 'प्राण' में संयोजित कर दो । इस अवस्था में आत्म और प्राण मिलकर प्राणवाह में युक्त हो जाते हैं । गुरु कहते हैं-वत्स ! तुम्हारा प्राण भी इस समय इडा पिङ्गला को आत्मसात् कर सुषुम्ना में चलना चाहिये । यह प्राण की साम्यव्याप्ति में स्वात्म और मन दोनों का विलीनीकरण है । समरसता है । वहाँ जिस सामरस्य में प्राण का संचार होता है, वही 'प्राण विषुवत्' की अनुभूति है । यह विशुद्धचक्र के ऊपर की साधना का प्रथम सोपान है ।।३१८।।

एवं

प्राणे विषुवदाख्यातं

अथ–

मान्त्रं विषुवदुच्यते ।

मन्त्रमुच्चारयेत्तावद्यावन्नान्यमना भवेत् ।।३१९।।

परापरविभागेन मन्त्रात्मा तु तदुच्यते ।

मन्त्रं श्रीनिष्कलम्, परापरेति नादान्तमपरम् उन्मनान्तं तु परम् ।

मान्त्रं विषुवदित्युक्तं

मन्त्रोच्चाराश्रयो नाडिरतः–

नाडिस्थं तन्निबोध मे ।।३२०।।

सर्वासामेव नाडीनां मध्ये या संव्यवस्थिता ।

सुषुम्ना नाम सा ज्ञेया नाभेः शक्त्या शिवं गता ।।३२१।।

---

२. मान्त्र विषुवत्–

मान्त्र सामरस्य की चर्चा पहले (श्लो० २९७) की जा चुकी है । श्लोक २५७ में मन्त्र और प्राण के सम्बन्ध में विचार किया गया है । यहाँ उस विचार की प्रक्रिया को नादान्त से उन्मना तक की केवल मान्त्रिकता से समरसता की परिणति मात्र की ओर ही हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है । भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, देवि ! भैरवि ! मन्त्र का इस प्रकार उच्चारण किया जाये कि, वह साधक मन्त्रमय ही हो रहे । उस समय वह अन्यमना न रह जाये । वह पर अर्थात् निष्कल परमन्त्र मय भैरव में समायोजित हो जाये । इस तरह नादान्त से चल कर उन्मना रूप अपरभाव को भी अतिक्रान्त कर निष्कलता से संयुक्त होकर समरसता में समा जाये । मान्त्र विषुवत् के बाद नाडि-विषुवत् का वर्णन कर रहे हैं ।।३१९-३२०।।

३. नाडि विषुवत्–

सभी नाडियों के मध्य में सबसे मुख्य रूप से सुव्यवस्थित एक नाडी है । उसे सुषुम्ना कहते हैं । वह नाभि के मातृकेन्द्र से होती हुई उदान वायु के क्षेत्र से गतिशील शक्तिचक्र से मिलती हुई शिव में समाहित हो जाती है । अर्थात् परतत्त्व का स्पर्श कर उसी में सामरस्य प्राप्त कर लेती है । सुषुम्ना जिस समय नादक्षेत्र से ऊर्ध्व की ओर गतिशील होती है, उसी समय उसमें नाद को प्रवहमान कर देते हैं । आज्ञा चक्र से अकार, उकार के क्रम से नाद का उपक्रम प्रारम्भ हो जाता है । यह ध्वनि अव्यक्त रूप से प्रवहमान होती है । सुषुम्ना में अव्यक्त नाद प्रवाह की यह प्रक्रिया जब नाडी में साम्य भाव से उल्लासित होती है, तभी वह नाडि-विषुवत् कहलाती है ।।३२१½।।

आ नाभेः नाभेरारभ्य शक्त्या शक्त्यानुभवानुप्रवेशेन शिवं गता, परं तत्त्वं [१]प्राप्ता ।

एवं स्थिते–

तत्र प्रवाहयेन्नादम्

नादमव्यक्तध्वनिरूपं प्रकर्षेण वाहयेदकारादिसंयोगेन ऊर्ध्वं प्रापयेत् । तदेतत्सर्व-नाडीसाम्यात्मकम् ।

नाडीविषुवदुच्यते ।

उच्यते उक्तमित्यर्थः ।

क्रमप्राप्तं तु–

प्रशान्तं विषुवच्चैवमधुना कथयामि ते ।।३२२।।

तदाह–

अयने[२] षडङ्गुलश्चारः कारणान्यङ्गुलेऽङ्गुले ।
तान्यधस्तात्परित्यज्य कारणानि षडेव तु ।।३२३।।
सप्तमे तु प्रशान्तं वै प्रशान्तेन्द्रियगोचरम् ।

विषुवदिति शेषः । षट्त्रिंशदङ्गुले चारे कालाधिकारस्थित्या हृदयात्प्रभृति मकरादिराशिसंचाररूपेषु अयनेषु प्रत्येकं षडङ्गुलश्चारः, तत्र च प्रतिषट्कं षट्कारणान्यङ्गुलेऽङ्गुले इति षष्ठे षष्ठे इति यावत् । एवं यानि प्रपञ्चव्याप्त्या षट्कारणानि अधस्तात् स्थितानि तानि त्यक्त्वा सप्तमे परमकारणे कारणानां साम्यावस्थितिरूपात् प्रशमात्[३] प्रशान्तविषुवद्भवतीति विशेषः ।

---

४. प्रशान्त विषुवत्–

क्रम प्राप्त प्रशान्त विषुवत् की चर्चा कर रहे हैं । प्रशान्त एक पारिभाषिक शब्द है । जहाँ कारणों की साम्य स्थिति होती है और सर्वकारण भाव का प्रशम हो जाता है । इसी कारण प्रशम के आधार पर इसे प्रशान्त विषुवत् कहते हैं । इसके सम्बन्ध में कारण विषयक कुछ विचार करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है । वस्तुतः साधना-संलग्न साधक इस प्रक्रिया में प्राणापानवाह पर विशेष ध्यान देता है ।

वस्तुतः मकर से प्रारम्भ कर राशियों का संचार जिस गतिक्षेत्र में होता है, उसे अयन कहते हैं । प्रति राशि का छः अङ्गुल से ३६ अङ्गुल का एक श्वासचार सिद्ध होता है । इसमें दो बातें सामने आती हैं । १– कारण क्या 'अङ्गुले अङ्गुले' उक्ति के अनुसार १-१ अङ्गुल में रहते हैं या प्रत्येक छः अङ्गुल के ही क्षेत्र में रहते है ? आचार्य क्षेमराज ने छः छः अङ्गुल का ही अर्थ स्वीकार किया है । और यही ठीक भी है ।

---

१. क.पु. व्याप्तेति पाठः । २. ख.पु. अयं षडिति पाठः । ३. ख.पु. प्रथमादिति पाठः ।

प्रशान्तं व्याचष्टे–

प्रशान्तः स्तिमितो ज्ञेयः स्तिमितो निश्चलः स्मृतः ।।३२४।।

निश्चलो निस्तरङ्गश्च स्थिरः पूर्णः समन्ततः ।

भेदतरङ्गशान्त्या चिद्घनतैव प्रशान्त इति निस्तरङ्गपूर्णपदाशयः ।

एवंभावं समास्थाय दीक्षा कार्या तु दैशिकैः ।।३२५।।

प्रशान्तविषुवति विश्रम्येत्यर्थः ।

एतत्प्रशान्तविषुवत्

अथ–

शक्त्युपाधिं निबोध मे ।

शक्तिमध्यगतो नादो नादोर्ध्वं च चरेद्यदा ।।३२६।।

कुछ लोग प्रथम पक्ष को भी स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार जैसे एक दिन में भी सातों दिनों का भोग सीताराम झा जैसे ज्योतिषी मानते हैं, उसी तरह छः अङ्गुलों में भी एक एक अङ्गुल पर छहों कारणों का प्रभाव रहता है । जो कुछ हो, इन छहों कारणों का प्रसार जो शरीर के भुवः भाग में है, इनका विलयन सप्तम मूल कारण में कर देना चाहिये । सातवाँ परमकारण अर्थात् कारणों का भी कारण माना जाता है । वह एक प्रकार की साम्यभावस्थिति होती है । इसे ही प्रशान्त विषुवत् कहते हैं । यही पक्ष सर्वथा मान्य है ॥३२२-३२३॥

इस परम अवस्था को प्रशान्त स्तिमित (निश्चल) दशा कहते हैं । निश्चल भी निस्तरङ्ग अवस्था की ही संज्ञा है । यह पूरी तरह पूर्ण और स्थिर दशा मानी जाती है । ध्यान देने की बात यह है कि, तरङ्गें ही भेदभाव की निश्चायक होती हैं । दैशिक आचार्यों और गुरुजनों क यह उत्तरदायित्व है कि, शिष्य को इस अवस्था में दक्षता प्रदान करने के अनन्तर ही दीक्षा प्रदान करने की कृपा करें ॥३२४-३२५॥

५. शक्ति विषुवत्–

प्रशान्त विषुवत् के विश्लेषण के बाद अब शक्ति विषुवत् का क्षेत्र आता है । यह पञ्चम विषुवत् है । निरोधिका की लक्ष्मणरेखा को पार कर स्वर्लोक के ब्रह्मरन्ध्र में नाद और नादान्त क्षेत्र में योगी लोग प्रवेश करते हैं । शब्द ब्रह्म का ध्यान इसमें किया जाता है । फिर भी यह ध्यातव्य है कि, यह शक्ति विषुवत् के ही अन्तर्गत आता है । इसीलिये इसे शक्त्युपाधि कहते हैं ।

तावत्तु शक्तिविषुवत्

शक्तिमध्यगतो मध्यधामारूढः, नादोऽव्यक्तध्वनिः, नादात्सदाशिवपदादूर्ध्वं शक्तिस्थानं यदा चरेत्, यदा मध्यस्थस्तदा शक्तिविषुवत् ।

कालाख्यं तु निबोध मे ।

तदर्थमाह–

तुटिः षोडशका या तु प्राणान्ते संव्यवस्थिता ।।३२७।।
कालो भ्रूक्षेपमात्रस्तु तत्रान्ते कीर्तितो मया ।
तं परापर[1]भागेन पुनरेव त्रिधा कुरु ।।३२८।।

प्राणस्यान्ते या षोडशी तुटिः, तत्र तस्यामन्तेऽर्धतुटिरूपे भ्रूक्षेपमात्रोऽन्यन्तसूक्ष्मसाष्टभागाङ्गुलचारसंचारात्मा यः कालः, तमेकं त्रिधा अपरेण परेण परापरेण[2] च भागेन कुरु तुटेरर्धीकृतायाः त्रिधा विभजनमिति पुनःशब्दार्थः ।।३२८।।

नाद शक्ति के मध्य में आरोह को प्राप्त करता है । यहाँ से वह पुनः ऊर्ध्व की ओर गतिशील होता है । उसी समय शक्ति विषुवत् प्रारम्भ हो जाता है । ऊर्ध्व की ओर गतिशीलता शक्ति की सीमा के स्पर्श के साथ ही चलती है । मध्य में पहुँचने पर ही शक्ति विषुवत् की पूर्णता होती है । शक्ति विषुवत् की यह अवस्था शक्ति वृत्त के बाह्य रेखा पर समाप्त हो जाती है । वहीं से काल विषुवत् का प्रारम्भ होता है । इसके आगे काल विषुवत् का विश्लेषण कर रहे हैं ।।३२६।।

६. काल विषुवत्–

श्वास जहाँ से अङ्कुरित होता है, वहाँ प्रतिप्रदा तिथि होती है । अङ्कुरण के समय को आधी तुटि कहते हैं । यह आधी तुटि आमावस्य केन्द्र में और आधी पौर्णमास केन्द्र में होती है । आधी तुटि श्वास के स्फुरण और आधी श्वास के विलीनीकरण को मिलाकर एक तुटि और १५ तिथि तुटियों को मिलकर १६ तुटियों की गणना एक श्वास में की जाती है । ३६ अङ्गुल के प्राणसम श्वास में २¼ अङ्गुल की एक तुटि सिद्ध होती है । (३६÷१६=२¼) प्राणान्त में वही षोडशी तुटि मानी जाती है । यह वहीं व्यवस्थित रहती है । इसका समय भ्रूक्षेप मात्र माना गया है । इस अल्पकाल को भी तीन भागों में बाँटने का आदेश शास्त्र दे रहा है । एक भाग को अपर, मध्य भाग को पर और तीसरे भाग को अपर भाग कहते हैं ।।३२७-३२८।।

---

१. ग.पु. भावेनेति पाठः । २. क.ग.पु. परात्परेति पाठः ।

तत्र–

अपरः षोडशो यावत्

षोडशः पूर्वोक्तो महाकल्पाख्यो यावदपरः स्थूलः ।

कालः सप्तदशः परः ।

पराख्ययैव पूर्वं निर्दिष्टः ।

परापरस्तु यः कालः स प्रियेऽष्टादशः प्रभुः ।।३२९।।

परापर इति परादपि परः अष्टादशः परार्धाख्यः प्रभुः सर्वकालावयव-व्यापी ।।३२९।।

तदित्थम्–

प्राण एवं त्रिधा कालं कृत्वा चैव त्यजेत्पुनः ।

प्राणं प्राणीयोर्ध्वतुट्यार्धे पूर्वं वर्णैः कारणत्यागावसरेऽनुनिष्पादितयाष्टादशावयव-कलात्यागो मन्त्रोच्चारयुक्त्योक्तः । इदानीं तु योगक्रमेण प्राणचारस्थित्या सप्तदशावयवं कालं यत्नेन त्यक्त्वाष्टादशे कालविषुवति विश्रमितव्यमिति पुनःशब्दार्थः ।

त्रिधा विभक्तस्य कालस्य पूर्वोक्तं स्थानविभागं स्मारयति–

यह ध्यान देने की बात है कि, सोलहवीं महाकल्प नाम की तुटि ही अपर, सत्रहवीं तुटि 'पर' और अट्ठारहवें क्रम की तुटि ही परापर तुटि होती है । यह परापर शब्द पर+अपर अर्थ नहीं देता । पर से परे रहने वाला पर से परम परमात्मा के सूक्ष्म स्वरूप का ही वाचक माना जाता है ।।३२९।।

इस सम्बन्ध में गम्भीरता पूर्वक समझाते हुए भगवान् भैरव देव कह रहे है कि, अट्ठारहवाँ काल परार्ध काल होता है । यह सर्वकाल खण्डों में व्याप्त काल परमेश्वर रूप ही होता है । यह अठारहवाँ त्रिधा काल का तीसरा खण्ड ही है । मन्त्रोच्चार करते हुए साधक अपना मन्त्र इसमें ही समाप्त कर लेता है । अर्थात् सत्रहवें काल खण्ड के मन्त्र के साथ साधक इसी में विश्रान्त हो जाता है । यह विश्रान्ति समस्त काल विश्रान्ति होती है । काल साम्य की स्थिति को कालाभाव की अवस्थिति कह सकते हैं ।

अपरः शक्तिमूर्धस्थो व्यापिन्यां च द्वितीयकः ।।३३०।।
तृतीयः समनास्थाने तत्कालविषुवत्स्मृतम् ।

यस्तृतीयस्तत्कालविषुवदिति सम्बन्धः । तदूर्ध्वं हि–

'.........न कालस्तत्र विद्यते ।'

इत्युक्तम् ॥३३०॥

तदित्थम्–

एतत्षष्ठं समाख्यातं

अथ–

सप्तमं तात्त्वमुच्यते ।।३३१।।

तदाह–

उन्मना परतो देवि तत्रात्मानं नियोजयेत् ।
तस्मिन्युक्तस्ततो ह्यात्मा तन्मयश्च प्रजायते ।।३३२।।

परत इति समनाया य एवात्मन उन्मनायोगः ॥३३२॥

तदेव–

तत्त्वाख्यं विषुवद्देवि सर्वेषां परतः स्थितम् ।

उपसंहरति–

विषुवदेवंविधं ज्ञात्वा को न मुच्यते बन्धनात् ।।३३३।।

इसे और भी स्पष्ट कर रहे हैं । उक्त त्रिधाविभक्त काल में प्रथम भाग को मूर्धस्थशक्ति काल कहते हैं । दूसरे पर भाग को व्यापिनीस्थ काल कह सकते हैं और परापर भाग को समना काल की संज्ञा दी जा सकती है । इसी समना रूप अठारहवें काल की विश्रान्ति को काल विषुवत् कहते हैं । इससे ऊपर काल भी कलना नहीं होती । उन्मना में प्रकाश का विमर्श होता है । शिवाभिमर्शिणी विद्या का योगी लोग यहीं जप करते हैं ॥३३०॥

७. तत्त्व विषुवत्–

सातवें विषुवत् को 'तत्त्व विषुवत्' काल कहते हैं । तत्त्व विषुवत् का क्षेत्र उन्मना का शाक्त क्षेत्र है । उन्मना में स्वात्म का विनियोजन होता है । उन्मना भाव में युक्त योगी पञ्चपिण्डनाथ से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है । परतत्त्व के तादात्म्य में 'तत्त्व विषुवत्' चरितार्थ होता है । यह अवस्था सर्वातिशायिनी परावस्था होती है । अन्त में यह कहा जा सकता है कि, विषुवत् की इस बोधात्मकता को प्राप्त योगी के समस्त बन्धन स्वत एव ध्वस्त हो जाते हैं । विषुवत् साधना में क्रिया योग एक प्रकार से समाहित हो जाता है ॥३३१-३३३॥

विषुवत्ते समाख्यातं

इदानीं परम्पराविनाभूतान्पञ्चपदार्थांल्ल[1]ङ्घयितुमुद्दिशति–

पदार्थभेदनं शृणु ।

त्यागं चानुभवं चैव योजनं च परे पदे ।।३३४।।

पदानि वक्ष्यमाणप्रमाणकानि हृदादिस्थानानि, तत्र तत्तत्कारणानुभवकारित्वेनार्थ्यन्त इति पदार्था अकारादिसमनान्ता एकादश, तेषामेव भेदनमनुभवयुक्त्या स्ववशीकरणम्, यथा भेदिता माण्डलिका भूभुज इति । अत्र चावश्यमधराधरत्यागे सति उत्तरोत्तरपदार्था-

---

पदार्थ भेदन प्रक्रिया–

पद हृदयादि प्रमाणरूप स्थान को कहते हैं । हृद्ग्रन्थि चतुरङ्गुला मानी जाती है । इसमें २४ तत्त्वों के साथ ब्रह्मा अधिष्ठित हैं । इसी तरह कण्ठकला भी एक स्थान है, तालुमूल है । योगी लोग तालुरन्ध्र से होकर ही उदान के आधार पर भ्रूमध्य का मार्ग पूरा करते हैं और वहाँ पहुँचते हैं । इस तरह ये स्थान कारण मान लिये जाते हैं । इन कारण रूप स्थानों से ऊपर ऊपर के स्थानों की अनुभूति की प्राप्ति होती है । साधक वर्ग इसकी प्रार्थना भी करता है कि, हमें अव्यक्त, अज्ञात और अदृश्य स्थान चक्रों का और उनकी अनुभूतियों का भी ज्ञान हो जाय । पद की अभ्यर्थना होने के कारण इन्हें पदार्थ भी कहते हैं । ये पदार्थ ग्यारह होते हैं । वे क्रमशः इस प्रकार हैं । १–'अ'कार, २–'उ'कार, ३–'म'कार, ४–बिन्दु, ५–अर्धचन्द्र, ६–निरोधिका, ७–नाद, ८–नादान्त, ९–शक्ति, १०–व्यापिनी और ११–समना ।

इन्हीं को अपनी साधना से, अपनी अनुभूतियों से, गुरु देव द्वारा उक्त युक्तियों से और अपने प्रयोग से अपने वश में करते हैं । यह इनका 'भेदन' माना जाता है । अकारादि समना पर्यन्त ग्यारह स्थान, प्रमाण और पदार्थ रूप सोपानों का भेदन पदार्थ भेदन होता है । उदाहरण रूप से एक राज्य को लिया जा सकता है । उसके सामन्तों को मिला लेने पर राज्य अपने अधिकार में आ जाता है । इन पदार्थों का भेदन कर लेने से स्वःक्षेत्र रूप मस्तिष्क राज्य पर साधक का अधिकार हो जाता है ।

एक एक अधर में अवस्थित 'अ' कार 'ई'कार आदि को छोड़कर ऊपर ऊपर के उत्तरोत्तर पदार्थों का अनुभव होने लगता है । ऊपर ऊपर तभी बढ़ा जा सकता है, जब नीचे के पदार्थों का पूर्णतया साक्षात्कार हो जाये । इस प्रक्रिया क्रम में एक एक पद का संयोग अवश्यंभावी है । जैसे पर्यटक पर्यटन क्रम में एक एक दर्शनीय स्थान की पूरी जानकारी लेकर आगे बढ़ जाता है । उसी तरह साधक ऊपर उठते हुए

---

१. ख.पु. लक्षयितुमिति पाठः ।

नामनुभवोऽस्ति[१], स एव च पूर्वं सम्यग्योगरूपः संयोग इत्युद्दिष्टः, भेदनपर्यन्ते च परे पदे योजनमवश्यभावि, तच्च पूर्वं सर्वोर्ध्वभावनात्मत्वात्[२] पदेनोद्दिष्टम् ।

तत्र-

पदार्थैकादशी ज्ञेया

या च पूर्वं निर्णीता ।

तत ऊर्ध्वं तु-

उन्मनान्तः परो भवेत् ।

पदार्थ इत्यर्थः ।

अतस्तत्रावस्थितये तां पदार्थैकादशीम्-

भेदयेज्ज्ञानशूलेन

बिन्दु के ज्योतिर्ध्यान, नाद के शाब्दज्ञान को प्राप्त करता हुआ समना में पहुँचता है । हर जगह का योग भी होता है और अधर अधर का त्याग भी होता है । यह योग ही संयोग है । पदार्थ भेदन पर्यन्त यह चलता रहता है । अन्त में सर्वोर्ध्व स्थिति की प्राप्ति हो जाती है । इसी तथ्य को त्याग, अनुभव, ऊर्ध्व योजन और पदे पदे योजन से श्लोक में व्यक्त किया गया है । यह क्रम जानकर ही साधक आगे बढ़ता है ॥३३४॥

एकादश पदों की चर्चा ऊपर की गयी है । इनके नामों का क्रमिक उल्लेख भी किया गया है । सबसे ऊपर का पद समना है । समना तक ही पदार्थैकादशिका की सीमा है । जब साधक समना को पार कर आगे बढ़ता है, तो वह एक नये आयाम में प्रवेश होता है । इस उन्मना का जिस बिन्दु पर अन्त होता है, वहीं से पर (शिव) की आध्यात्मिक भूमि का श्री गणेश होता है । साधक पदार्थैकादशिका का साक्षात्कार करने के उपरान्त इस उच्च भूमि की ओर अग्रसर होता है ।

उन्मना से परे उस भूमि में प्रवेश करने के लिये उन्मना का ज्ञानशूल से भेदन छेदन करना पड़ता है । यहाँ यह जानना आवश्यक है कि, ज्ञान को शूल क्यों कहा गया है ? वस्तुतः ज्ञान के प्रकाश चक्र में इच्छा, और क्रिया शक्तियों की ऊर्जा भरी रहती है । उस ऊर्जा से निकलने वाली अरारूप रश्मियाँ अत्यन्त तीक्ष्ण होती हैं । वे किसी भी ऐसे अव्यक्त बिन्दु का भी भेदन करने में समर्थ होती हैं, जहाँ से रहस्य के चमत्कार का उत्सर्जन हो सकता है । उन्मना एक ऐसा ही रहस्य चक्र है,

---

१. ख.ग.पु. भवतीति पाठः ।

२. ख.पु. भवनात्मवपदेति पाठः, ग.पु. भवनार्थत्वादुद्भवपदेति पाठः ।

समनन्तरनिर्णेष्यमाणपरशक्तिस्फारप्रकाशरूपं यज्ज्ञानं तदेव समरसीभूतेच्छादि-शक्तित्रयसंवृता (रा) रूपतोन्मीलितातितैक्ष्ण्येन भेदकत्वात् शूलम् ।

न केवलमेतद्भेदकं यावत्–

ज्ञानं ज्ञेयस्य ज्ञापकम् ।।३३५।।

ज्ञेयमिह परं तत्त्वम् ।

अत एवास्य–

ज्ञापकं बोधमतुलं

परशक्तिप्रथात्मकं न तु विषयानुभवरूपं बोधमिति स्थिति (द्वितीया) निर्देशश्छान्दसः ।

अत्र हेतुः–

दीपवद्द्यो[1]तनं ततः ।

जिसका बीज पञ्चपिण्डनाथ का प्रतीक है । वह रहस्यों का कोश है । उसका भेदन करना साधनात्मक असाधारण अध्यवसाय का ही फल होता है ।

इस ज्ञान शूल के विषय में एक और महत्त्वपूर्ण बात बतला रहे हैं । वस्तुतः ज्ञान की ही वह अदम्य शक्ति होती है, जिसके द्वारा ज्ञेय (परम ज्ञातव्य परमतत्त्व) का ज्ञापन हो पाता है । पर को जानने और जानकर तन्मयत्व की उपलब्धि के लिये ज्ञान शूल ही सर्वाधिक उपयोगी तत्त्व है ।।३३५।।

यहाँ यह विचारणीय है कि, ज्ञापक किस ज्ञान को कहते हैं ? ज्ञप्ति एक क्रिया है । ज्ञापन उसका फलितार्थ या निहितार्थ होता है । ज्ञान सांसारिक भौतिक पदार्थों को उनके उसी रूप का ज्ञापन करता है, जिसका वस्तुतः कोई मूल्य नहीं होता किन्तु वही ज्ञान जब उस पदार्थ के मार्मिक रहस्य का उद्घाटन कर देता है, तो उसे बोध कहते हैं । यह स्वबोध का व्यापार ही पदार्थ का मौलिक ज्ञापन कर सकता है । सांसारिक ज्ञान भी एक प्रकार का ज्ञान ही होता है । श्लोक में प्रयुक्त बोध का द्वितीयान्त रूप छान्दस प्रयोग मात्र है ।

दीप क्या करता है ? मात्र अपनी उद्दीप्त रश्मियों का ही प्रक्षेप करता है । उनकी किरणों के प्रभास में बाहर स्थित पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं । ऐसा ही बोध होता है । बोधक चैतन्यात्मक प्रकाश में सर्व का साक्षात्कार हो जाता है । वास्तविकता यह है कि, पदार्थ की विश्रान्ति प्रकाश में ही होती है ।

---

१. ख.पु. द्योतकमिति पाठः ।

एतत् स्फुटयन् ज्ञानौपयिकं ज्ञेये विश्राम्येदित्याह–

दीपहस्तो यथा कश्चिद्द्रव्यमालोक्य चाहरेत् ।।३३६।।
एवं ज्ञानेन च ज्ञेयं तस्मिन् कुर्यात्तु संस्थितिम् ।

दीपज्ञानयोरंशमात्रेण दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः ।

न तु दीपवत् ज्ञानं ज्ञेयाद्भिन्नमित्याह–

ज्ञानं वै लक्षणं प्रोक्तं ज्ञेयतत्त्वस्य सुव्रते ।।३३७।।

न च कमण्डलुनेव छात्रो ज्ञानेन परं तत्त्वं लक्ष्यते इत्याह–

लक्षणं गुण आख्यातः

असाधारणस्तत्त्वव्यवस्थापको हि धर्मो लक्षणम् ।

इसी तथ्य को दूसरी तरह समझा जा सकता है । एक व्यक्ति के हाथ में दीपक है । उस दीपक के प्रकाश में जिस द्रव्य का दर्शन करता है, उसे गृहीत कर लेता है, उस पदार्थ का आहरण करता है और उसके उपयोग में स्वतन्त्र होता है । आंशिक रूप से दीपक और ज्ञान में दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक भाव लिया जा सकता है । बोध सिद्ध साधक अपने बोध के प्रकाश में ज्ञेय का वास्तविक साक्षात्कार करता है । यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि, ज्ञेय भाव उसी ज्ञाता में विश्रान्ति प्राप्त करता है ।।३३६।।

आंशिक रूप से दीपज्ञान का दृष्टान्त है, यह पहले कहा गया है । इसमें जो अन्तर है, उस पर विचार कर रहे हैं । दीप से जैसे पदार्थ भिन्न है, उस तरह की भिन्नता ज्ञान और ज्ञेय में नहीं है । वस्तुतः ज्ञान तो ज्ञेय का लक्षण ही है । कमण्डलु लेकर छात्र चल रहा है । कमण्डलु से यह ज्ञात होता है कि, कमण्डलुवाला बालक छात्र है । सन्ध्यावन्दन करके आ रहा है । वहीं ज्ञान से परम अव्यक्त तत्त्व भी परिलक्षित होता है । इसी आधार पर यह कहा गया है कि, लक्षण ही उसका गुण माना जाता है । लक्षण की परिभाषा ही यही है । तत्त्व व्यवस्थापक असाधारण धर्म ही लक्षण कहलाता है ।।३३७।।

इसलिये मनीषी वर्ग यह सिद्धान्त स्थापित करता है कि, कला ही तत्त्व की लक्षण है । तत्त्व का विग्रह है कि, तस्य भावस्तत्त्वम् । परम प्रत्यभिज्ञेय परमशिव के भाव ही तत्त्व हैं । यह कला सर्वदा मानी जाती है । सर्वदा का अर्थ होता है–सर्वं ददाति या सा सर्वदा कला । यह सब कुछ देती है । इसलिये सर्वदा है । कला रूप स्वतन्त्रता शिव का शिवत्वव्यवस्थापक असाधारण धर्म है । यह विश्व का सृजन भी करती है और संहार भी । यह परम शिव की असाधारण धर्म है । अतः उनसे नित्य

अत एव तत्–

कला तत्त्वस्य सर्वदा ।

तत्त्वस्य प्रत्यभिज्ञेयस्य परमशिवस्य सर्वं ददाति द्यति चेति व्युत्पत्त्या विश्वसर्ग-संहारकारिणी स्वातन्त्र्याख्या सर्वदा च नित्यावियुक्ताः कला शक्तिरेव लक्षणम् । उक्तं च श्रीविज्ञानभैरवे–

'यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य वा ।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः श्रितः ।। इति ।।

(वि. भै. श्लो. २१)

एतादृक्छक्त्यात्मना–

न गुणेन विना तत्त्वं न तत्त्वेन विना गुणः ।।३३८।।

शिवशक्त्योर्नित्यलोलीभाव इत्यर्थः ।

एवमपि–

गुणं गृह्णन्ति सर्वत्र न तत्त्वं गृह्यते क्वचित् ।

धर्ममुखेनैव शिवो धर्मी[1] प्रथते विशेषतः परमशिवात्मा तस्मिन्विश्वनिर्भरे शक्त्युपायं विना स्वतोऽनुप्रवेशायोगात् ।

अवियुक्त है । शिव से इसके पृथक् होने का कोई प्रश्न ही नहीं है । धर्म धर्मी से पृथक् नहीं हो सकता । शिवरूप परमप्रत्यभिज्ञेय से उनकी स्वतन्त्रता रूप गुणवत्ता कभी पृथक् रह भी नहीं सकती ।

विज्ञान भैरव श्लोक संख्या २१ में कहा भी गया है कि, '' जैसे दीप के आलोक से या सूर्य की रश्मियों से समस्त दिशाओं, उनके विभागों और पदार्थों आदि की जानकारी निश्चित रूप से होती है, उसी तरह शक्ति के शाक्त चैतन्य पर समग्र शिवोल्लास का साक्षात्कार आश्रित है ।''

यही शाक्त प्रभाव दीप के आलोक और भास्कर की किरणों में भी उल्लसित होता है । इस आधार पर हम यह सिद्धान्त निर्धारित कर सकते हैं कि, गुण के बिना किसी तत्त्व और तत्त्व के बिना किसी गुण का अस्तित्व नहीं होता । दोनों में एक तरह का अविनाभाव सम्बन्ध है । यही शिवशक्ति का नित्य लोलीभाव है ।।३३८।।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यातव्य है कि, सर्वत्र गुणों से ही गुणी का ग्रहण होता है । लक्षण से तत्त्व का ज्ञान होता है । लक्षण रूपी धर्म के द्वारा ही शिव रूप धर्मी का ज्ञान होता है । यही शिव का प्रथन व्यापार है । परमशिव को साधक इसी धर्म रूपी लक्षण से साक्षात्कृत करता है ।

---

१. क.ख. सर्वं इति पाठः ।

युक्तं चैतदित्याह–

गृह्यते ह्यनुमानेन प्रत्यक्षानुभवेन च ।।३३९।।
अर्थिप्रत्यर्थिभावेन आगमेन तु लभ्यते ।

तत्त्वादेर्विश्वस्य सन्निवेशविशेषवत्त्वात् तत्तत्कर्तुरनुमानं तावद्विश्वज्ञत्वकर्तृत्वमुखेनैव प्रत्यक्षानुभवोऽपि योगिनां प्रोक्तशक्तिद्वारक एव । यथोक्तम्–

'तदास्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः ।' (स्प. १-१०)

इति । अर्थी प्रष्टा, प्रत्यर्थी संशयच्छेदको वक्ता तयोर्भावोऽनुग्राह्यानुग्राहकत्वात्मा तेन यः प्रवृत्त आगमस्तेनापि शब्दनरूपेण नियतशक्तिद्वारकमेव तत्तत्त्वं लभ्यते ।

विश्वात्मा में विश्व निर्भर है । समाहित है, आश्रित है । उसके साक्षात्कार का एक मात्र उपाय शक्ति है, कला है, धर्म है, लक्षण है । बिना इनके उनमें अनुप्रवेश असम्भव है ।

यह बात पूरी तरह सत्य है । यह विश्व तत्त्वमय है । तत्त्वों का इसमें विशेष सन्निवेश है । विश्वात्मा, विश्व और विश्वधर्म इनका परस्पर जो संग्रथन है, जो अभिनवोल्लास है, इनमें परस्पर ऐक्य है, आकर्षण है, द्वैत में अद्वय का उद्वलन है, इन्हें देखकर इसके रचनाकार की रचना चातुरी का अनुमान स्वभावतः होने लगता है ।

इस प्रक्रिया का प्रत्यक्ष साक्षात्कार योगी लोगों को भी हो जाता है । तत्त्व भाव में अनुप्रवेश द्वारा वे विश्वज्ञता से विभूषित हो जाते हैं । विश्वामित्र की तरह उनमें सृष्टिकर्तृत्व शक्ति का भी विकास हो जाता है । इस तरह प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है । इन सबके मूल में मात्र शक्ति की ही कारणता है ॥३३९॥

स्पन्द कारिका में कहा गया है कि, "शिव का अकृत्रिम अर्थात् स्वाभाविक धर्म क्या है ? इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि, ज्ञत्त्व और कर्तृत्व ही उसके विशेष धर्म हैं ।"

जहाँ तक अर्थी और प्रत्यर्थी का प्रश्न है, यहाँ ध्यान देना चाहिये कि, अर्थी कुछ जानना चाहता है । वह प्रष्टा है । प्रत्यर्थी प्रश्न का उत्तर देकर उसके संशयों का उच्छेदन करता है । यह संशय शमन करने वाला वक्ता है । अर्थिप्रत्यर्थि भाव का तात्पर्य प्रश्नकर्त्ता जिज्ञासु जानने का अभिलाषी है । अनुग्राह्य है । प्रत्यर्थी अनुग्राहक है । अनुग्राह्य शिष्य है, देवी परमाम्बा शक्ति रूपा हैं और अनुग्राहक स्वयं गुरु हैं, शिव हैं । इस प्रकार देवी और शिव के संवाद से आगमों का प्रवर्त्तन हुआ है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है ।

उक्तयोगिप्रत्यक्षैकयोगक्षेमतामागमस्य कथयति–

आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः ।।३४०।।

अनन्ताः शास्त्रकोटयो यः पारमेश्वर आगमस्तज्ज्ञानं परशक्तिस्फाररूपमित्युक्तम् । आ समन्ताद्गमयति अभेदेन विमृशति पारमेशं स्वरूपमिति कृत्वा परशक्तिरेवागमस्तत्प्रतिपादकस्तु शब्दसन्दर्भस्तदुपायत्वात् शास्त्रस्य ।।३४०।।

कथं परशक्त्यात्मत्वमित्याह–

शास्त्रं शब्दात्मकं सर्वं शब्दो हंसः प्रकीर्तितः ।

इस सिद्धान्त द्वारा भी यह तथ्य समझ में आ जाता है कि, प्रश्नोत्तर के शब्दन व्यापार में भी नादशक्ति का ही सर्वप्रथम उल्लास हुआ और शिव रूप परम तत्त्व का सार्वत्रिक प्रकाश प्रसरित हुआ । इसलिये योगी आगम को ज्ञानरूप ही मानते हैं । मनीषी लोग आगम को ज्ञान ही कहते हैं और ज्ञान अनन्त और करोड़ों शास्त्रों में स्वतः समुल्लसित है । पारमेश्वर आगमों की संख्या करोड़ों में है । ये आगम परशक्ति के स्फार हैं । आगम आ+गम भाग में बाँट कर यह अर्थ निकाला जाता है कि, आ अर्थात् चारों ओर से अर्थात् पूर्ण रूप से यह परमेश्वर के अभेद अद्वय भाव को अवगम का विषय बना देता है । पारमेश्वर दर्शन का तत्त्विक साक्षात्कार करा देने का कारण है । संस्कृत में इसे इस तरह कहते हैं– 'आ समन्तात् गमयति अभेदेन पारमेश्वरं रूपं विमृशति ज्ञापयति इत्यागमः ।'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, पराशक्ति का नादात्मक उल्लास ही आगम है । इसी आगम के प्रतिपादक शास्त्र हैं । अर्थात् सब कुछ शास्त्र रूप शब्दों का सन्दर्भ ही है । यह शब्द सन्दर्भ ही आगम है । समस्त तत्त्वज्ञान का उपाय है । इसीलिये त्रिधा ज्ञानं भवति सिद्धान्त में पहला उपाय गुरु और दूसरा उपाय 'शास्त्र' ही माना जाता है । तीसरा उपाय 'स्वतः प्रयास' है । साधनात्मक अध्यवसाय का यही स्वरूप है ।।३४०।।

परमशक्तिरेगमः उक्ति से आगम और परशक्ति का तादात्म्य प्रतीत होता है । इस सम्बन्ध में गहन विचार की आवश्यकता है । यह तो सभी मानते हैं कि, आगम सारा का सारा शब्दात्मक है । आगम शास्त्र भी हैं क्योंकि ये जीवन पद्धति का अनुशासन भी करते हैं । ये अनुशासनात्मक शास्त्र शब्दात्मक भी हैं । यहाँ यह भी पूछा जा सकता है कि, शब्द किसे कहते हैं ? शास्त्रकार इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि, मातृका पचास वर्णों से समन्वित है । यह राशि ही 'हंस' मानी जाती है । 'हंस' रूप अजपाजाप मन्त्र के उच्चार में परशक्ति नित्य अवियुक्त भाव से उल्लसित है । हंस मन्त्र से परशक्ति के अनुभवों का उल्लास होता है ।

यत् किञ्चित् क्वचिच्छासनाच्छास्त्रं तच्छब्दात्मकं पञ्चाशद्वर्णशब्दराशिसतत्त्वं शब्दराशिश्च हंसोच्चारात्मा हंसोच्चारश्च परशक्त्यनुभवस्फारसार इति ।

निर्णीतमेतदित्याह–

हंसयोगः पुराख्यातः

तेन सर्वप्रमाणानां शक्तिविषयत्वात् शक्तिमद्रूपमप्रमेयमेवेति युक्तमुक्तं गुणं गृह्णन्ति सर्वत्र इति संगतिः ।

भेदयेत् ज्ञानशूलेनेत्युपक्रम्य भेदयेन्मन्त्रशूलेनेति प्रतिपादयिष्यति । अतो ज्ञानसतत्त्वं वर्णमन्त्रोच्चारकालं तेन च वाच्यवाचकयोर्वर्णदेवतयोः सन्बन्धं तद्वाच्यदेवताश्रयहृदयादिस्थानपरिमाणं च वक्तुमासूत्रयति–

मात्रासंख्या त्वथोच्यते ।।३४१।।

मात्रायोगो यथा चास्य प्रमाणं हृदयादिषु ।

मात्रा अकारादिवर्णोच्चारकालः । अस्येति भेदकस्य मन्त्रोच्चारात्मनो हंसोच्चारस्य यथा मात्राभिर्योगो यथा चोच्चारणास्पदानां हृदानीनां प्रमाणं तत्सर्वमुच्यत इत्यर्थः ।

'हंस' समायोग के विषय में मन्त्रैकादशिका के प्रसङ्ग (श्लोक २५४-२६०) में स्पष्ट किया गया है । इसके साथ ही पहले यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि, शरीर के सारे प्रमाण भी शक्ति से प्रमाणित है । शक्ति के ही विषय ये माने जाते हैं । शक्ति का अप्रमेय शक्तिमद्रूप का योग ही हंसयोग में चरितार्थ होता है । यह गुण है और गुण से ही अप्रमेय शिव की शिवात्मकता का ग्रहण होता है । ये उक्त सारी बातें स्पष्ट कर दी गयी हैं ।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि, वर्णात्मक मन्त्रोच्चार के साथ ही साथ ज्ञान का बोधात्मक प्रकाश मिलना प्रारम्भ हो जाता है । वाच्य देवता और वाचक वर्ण का अविनाभाव स्पष्ट प्रतीत है । वाच्य देवताओं के हृदयादिस्थानों के विषय में भी पहले कहा गया है । वहाँ यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, यह स्थान रूप प्रमाण पर आधृत है कि, वाच्य वाचक सम्बन्ध मात्र से शक्ति में कितना वर्चस्व बढ़ जाता है । इसके लिये मन्त्र वर्णोच्चार की मात्र संख्या का ज्ञान आवश्यक है ।।३४१।।

अकार आदि वर्णों के उच्चार काल को मात्रा कहते हैं । मन्त्र के उच्चार में हंसोच्चार का मात्राओं से योग होता है । साधक मन्त्रोच्चार करता है । यही हंसोच्चार भी कहा जाता है । इसमें मन्त्र के वर्ण बोले जाते हैं । बोलने में समय की मात्रा का काल लगता है । जैसा उच्चार होगा, उतनी मात्रा का योग होगा । साथ उच्चार के हृदय आदि जो स्थान हैं, उनका एक अलग महत्त्व है । इस बात को और भी स्पष्ट कर रहे हैं ।

तत्र प्रमाणं तावदाह–

नाभेरूर्ध्वं वितस्त्यन्ते कण्ठाधस्तात्षडङ्गुले ।।३४२।।

हृदयं मध्यदेशे तु चतुरङ्गुलसंमितम् ।

वितस्तिः द्वादशाङ्गुलानि तदन्ते कण्ठाधस्तात्षडङ्गुले अवधिभूते क्षेत्रद्वये यो मध्यदेशस्तत्र चतुरङ्गुलो हृद्ग्रन्थिः इति सम्बन्धः ।

अत्राधिष्ठातारमाह–

चतुर्विंशतितत्त्वैस्तु ब्रह्मा तत्र व्यवस्थितः ।।३४३।।

सहार्थे तृतीया, प्रकृत्यन्तमधिष्ठाय ब्रह्मात्र स्थित इत्यर्थः ।

तदूर्ध्वम्–

कण्ठमष्टाङ्गुलं विद्धि विष्णुस्तत्र व्यवस्थितः ।

तत्त्वषट्केन संयुक्तः

पुमादिकलान्तेन ।

तदूर्ध्वं चतुरङ्गुलम् ।।३४४।।

तत्र च–

मायातत्त्वं समाश्रित्य रुद्रस्तालुतले स्थितः ।

तदूर्ध्वम्–

अङ्गुलद्वयमानं तु भ्रुवोर्मध्यं प्रकीर्तितम् ।।३४५।।

नाभिकेन्द्र जिसे मातृकेन्द्र भी कहते हैं, उसके ऊपर १२ अङ्गुल और कण्ठ-देश से नीचे ६ अङ्गुल पर जो मध्य देश वृत्त या द्वादशदल कमल है, वही भाग हृद्ग्रन्थि भाग का अधिष्ठान है। ये चौबीस तत्त्व पञ्चमहाभूत+पञ्चतन्मात्रायें एकादश इन्द्रियाँ+१ बुद्धि+१ अहङ्कार और १ प्रकृति=५+५+११+१+१+१ प्रकृति=२४ तत्त्व होते हैं ॥३२४-३४३॥

इस हृद् ग्रन्थि के आठ अङ्गुल ऊपर कण्ठ देश है । इसमें विष्णु का अवस्थान है । विष्णु छः तत्त्वों के साथ यहाँ स्वयम् अधिष्ठित हैं । पुरुष, नियति, काल, राग, विद्या और कला ये पुरुष से कला पर्यन्त छः तत्त्व हैं । ये विष्णु के साथ कण्ठ में ही निश्चित रूप से व्यवस्थित हैं ।

कण्ठ देश के ऊपर चार अङ्गुल मात्र तालुमूल भाग है । मायातत्त्व के साथ यहाँ रुद्र आधिष्ठित हैं । इसके भी ऊपर २ अङ्गुल पर भ्रूमध्य देश आता है । इसमें स्वयं ईश्वर दो तत्त्वों के साथ अधिष्ठित हैं । इन दो तत्त्वों में एक तो स्वयं शुद्धविद्या है । और दूसरे तत्त्व स्वयं ईश्वर ही हैं ॥३४४-३४५॥

तत्रेश्वरः स्थितो देवि तत्त्वद्वयसमन्वितः ।

तत्त्वद्वयं शुद्धिविद्येश्वराख्यम् ।

ततोऽपि

एकादशाङ्गुले चैवमूर्ध्वं देवः सदाशिवः ।।३४६।।

तत्त्वद्वयसमायुक्तो यावद्ब्रह्मबिलं गतः ।

सदाशिवतत्त्वशक्तितत्त्वाभ्यां युक्तः । एवं च वदन् अर्धचन्द्रादिनादान्ते श्रीसदाशिवोऽधिष्ठाता इति शिक्षयति, तत्त्वव्यवस्थया तु निरोध्यन्तमीश्वरतत्त्वस्य नादान्तान्तं सदाशिवतत्त्वस्येति वक्ष्यमाणनीत्या तत्त्वव्याप्तेरन्यैवेयमीश्वरसदाशिवाख्यदेवताव्याप्तिः ।

तदूर्ध्वैकाङ्गुला शक्तिः शिवस्तत्र व्यवस्थितः ।।३४७।।

शक्तिर्ग्रन्थिस्थानमित्यर्थः । अनाश्रिताख्यः ॥३४७॥

इससे ऊपर का भाग शिरोभाग है । इसमें इससे ११ अङ्गुल के भाग तक में सदाशिव देव का स्थान माना जाता है । इसके भी साथ दो शक्तियों का ही समावेश मानते हैं । इन दो तत्त्वों एक तो स्वयं सदाशिव और दूसरी इनकी शक्ति । इस विषय में योगियों में बड़ा मतभेद है । भ्रूमध्य से एकादश अङ्गुल गणना के क्षेत्र में सदाशिव ही यदि मान लिये जायेंगे, तो शक्ति व्यापिनी समना उन्मना के लिये ब्रह्मबिल में कितना स्थान बचेगा ?

आचार्य क्षेमेन्द्र एक अपनी बात रख रहे हैं । वे कहते हैं कि, अर्धचन्द्र से नादान्त पर्यन्त के ही अधिष्ठाता सदाशिव देव हैं । श्लोक ३४ के अनुसार भ्रूमध्य में ईश्वर ही अधिष्ठित हैं । ईश्वर से ११ अङ्गुल की गणना में अर्धचन्द्र से नादान्त का क्षेत्र बहुत कम है ।

दूसरी बात ब्रह्मबिल की है । आज्ञा चक्र के ऊपर की जितनी क्रियाओं को योगी सम्पन्न करता है, यह सभी ब्रह्मबिल में ही सम्पन्न होती हैं । हमें यह प्रतीत होता है कि, भ्रूमध्य से लगभग तेरह अङ्गुल ऊँची खोपड़ी उस समय होती रही होगी । उसी समय श्लोक २४६ की उक्ति घटित होती रही होगी ।

तत्त्व व्यवस्था की दृष्टि से इस विषय में एक दूसरी मान्यता भी प्रचलित है । इसके अनुसार निरोधिका पर्यन्त ईश्वर तत्त्व और नादान्त के अन्त तक सदाशिव तत्त्व अधिष्ठित हैं । इस नियम के अनुसार तत्त्व व्याप्ति का एक दूसरा ही चित्र सामने आता है । यह कथन इसी ग्रन्थ पर आधृत है । कहा गया है कि, सदाशिव तत्त्व के ऊपर एक अङ्गुल के क्षेत्र में शक्तितत्त्व अर्थात् शक्तिग्रन्थि का स्थान है । इसी शक्ति के साथ अनाश्रित शिव तत्त्व भी उल्लसित है ॥३४६-३४७॥

अत्रैव चाङ्गुले–

त्वक्छेषे व्यापिनी प्रोक्ता समना च

सापि भूः शिवेनैवाधिष्ठितेत्यर्थः । शक्तिव्यापिनीसमनाख्याः शिवतत्त्वभूमयः शिवाख्यकारणाधिष्ठिता इत्यर्थः । एवं च वदन्नापादाद्बाह्यमानेन यत्षण्णवत्यङ्गुले मुण्डान्तस्थानं तदेवेह द्वादशान्तमान्तरव्याप्त्याहावधे[1]स्तावतः षट्त्रिंशदङ्गुलत्वेन विभजनादिति ध्वनति । अन्यत्र दृश्यमानोर्ध्ववाहिधूमलेखान्तं बाह्यमानेनाष्टोत्तरशताङ्गुलान्तं तदुच्यते मुण्डान्तात्प्रभृति च निरावरणता इत्युभयथा प्रतिपादनेऽपि न किञ्चित्प्रमेयवैषम्यं बिन्द्वादिसमनान्तप्रमेयसोपानमालिकायाः सर्वत्र स्थानसाम्येनाभिधानात् ।

इस तत्त्व के अर्थात् शिवशक्तिमय इस यामल अनाश्रित तत्त्व के ऊपर त्वचा के अन्तिम ऊर्ध्व स्पर्श तक के क्षेत्र में व्यापिनी और समना के दोनों वृत्त शिर में अवस्थित हैं । यह ध्यान देने की बात है कि, उक्त ये तीनों भूमियों अर्थात् शक्ति व्यापिनी और समना भूमियाँ भी शिवतत्त्व की ही भूमियाँ हैं ।

शास्त्र यह कहता है कि, शरीर को बाहर से नापने पर ९६ अङ्गुल का मान मुण्ड के ऊपर तक होता है । यह मुण्डान्त स्थान ही ऊर्ध्व द्वादशान्त माना जाता है । हाँ यह ऊर्ध्व द्वादशान्त आन्तर व्याप्ति में अवस्थित माना जाता है । हृद्ग्रन्थि से मुण्डान्त का यह भाग आन्तर व्याप्ति में ३६ अङ्गुल का माना जाता है । छानबे में से ३६ निकालने पर हृदय पैर तक का मान ६० अङ्गुल का रह जाता है ।

यहाँ एक नयी प्रक्रिया का उपमान प्रस्तुत कर रहे हैं । यह अनुभव के आधार पर निर्धारित मान है । अगरबत्ती या कोई भी धूमक वस्तु भूतल पर जलने पर १०८ अङ्गुल की ऊँचाई तक ही धूम पहुँच पाता है । शरीर भी ९६ अङ्गुल का होता है । पर जब इसमें मध्य द्वादशान्त का १२ अङ्गुल मान जोड़ देते हैं तो शरीर का मान भी १०८ अङ्गुल का हो जाता है । इस तरह ८४ अङ्गुल का शूद्र शरीर, ९६ अङ्गुल का क्षत्रिय शरीर और १०८ अङ्गुल का ब्राह्मण शरीर हो जाता है । इस मान में किसी को किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये । आचार्य क्षेमराज इस गणना में किसी प्रकार के प्रमेय वैषम्य से इन्कार करते हैं । दैहिक ज्योतिर्ध्यान के आधार भूत ओङ्काराङ्ग 'बिन्दु' से समना पर्यन्त प्रमेय सोपान मालिका के क्रम में योगयुक्त साधक को स्थान वैषम्य का कभी अनुभव नहीं होता ।

---

१. क.ग.पु. च वधेरिति पाठः ।

एवं कारणषट्कास्पदस्थानषट्कप्रमाणमुक्त्वा निष्प्रमाणकं सप्तमं पदं परमशिवाधिष्ठितमित्याह–

उन्मना ततः ।

तत्परं तु परं तत्त्वं प्रमाणपरिवर्जितम् ।।३४८।।

पदार्थभेदनाङ्गतया–

मात्रासंख्या च योगश्चाधुना हंसस्य कथ्यते ।

हंसस्येति तदभिन्नस्य निष्कलस्य । यद्यपि–

'मात्रासंख्या त्वथोच्यते ।

मात्रायोगो यथा चास्य..........।' (४-३४२)

इति पूर्वमेवोद्दिष्टं तथापि ब्रह्मादिकारणाधिष्ठितहृदादिप्रमाणमुक्त्वा यदिदानीं निर्णीयते, तद्युक्तमेव स्थानाश्रयणक्रमेणैव हि वाचकवर्णकलाकालविश्रान्त्या वाच्यदेवताप्त्यनुभवरूपं पदार्थभेदनं भवति ।

इसे कारण षट्क भी कहते हैं । कारण षट्क के इन स्थानों की ही संज्ञा १–बिन्दु, २–नाद, ३–नादान्त, ४–शक्ति, ५–व्यापिनी और ६–समना है । ये छः प्रमाण भी माने जाते हैं । यहीं 'षट् त्यागात् सप्तमे लयः' का प्रसङ्ग भी उपस्थित होता है । इन छः प्रमाणों से निष्प्रमाण भूमि की प्राप्ति होती है ।

प्रमाण रहित इस भूमि पर उन्मना शूलाब्ज ग्रन्थि आती है । उन्मना शूलाब्ज को ही आधार मान कर प्रमाण परिवर्जित शिवव्याप्तिक शिवाभिमर्शतत्त्व वृत्त उपस्थित होता है । साधक की वह उत्सङ्ग भूमि है, जिसमें शिशु की तरह वह खिलखिला उठता है । उसे जीवन के सारे प्राप्तव्य प्राप्त हो जाते हैं ॥३४८॥

इसके बाद शास्त्रकार 'हंस' रूप निष्कल परमेश्वर की मात्रा संख्या और योग के सम्बन्ध में नियामकता का निर्धारण कर रहे हैं । यद्यपि श्लोक सं० ३४१ में इसकी चर्चा आयी हुई है फिर भी यहाँ पदार्थ भेदन के अङ्ग के रूप में चर्चा की जा रही है । ऊपर का कथन कारण तत्त्वों की हृदादि क्षेत्रों में प्रमाणात्मक स्थिति से ही सम्बन्धित है ।

वास्तविकता यह है कि, स्थानाश्रय क्रम की दृष्टि से विचार करने पर वाचक वर्ण, कला और काल का भी ध्यान आवश्यक होता है । वर्णों के वाच्य देवता की व्याप्ति की अनुभूतियाँ भी वहाँ अनिवार्यतः स्वतः स्फुरित होती रहती हैं । पहला मात्रा योग का कथन आदि स्थानाश्रय प्रमाणात्मक है और यहाँ मात्रा भेद वाच्य देवता व्याप्ति की अनुभूतियों से सम्बन्धित है । अनुभूतियाँ पदार्थ का भेदन करती है अथवा

तत्र–

अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकतः स्थितौ ।।३४९।।

विभक्तिर्नानयोरस्ति मारुताम्बरयोरिव ।

अकारोऽनुत्तरशक्तिविमर्शात्मा हकारश्च शाम्भवविमर्शनस्वरूपः[1] शिवशक्त्योश्चाभेदात् । एतौ खवायुवदेकत्र ऐक्येन स्थितौ विश्वामर्शिनः स्वयमुच्चरतोऽनच्कहकारस्य शिरोरेखारूपाकारकलानुप्रवेशात् ।

एकमात्रः स विज्ञेयो हृदयात्संप्रवर्तते ।।३५०।।

स इत्यकारयुक्तो हकारः केवलस्त्वनुच्चार्यत्वादकालकलित एव ।।३५०।।

अनुभव रूप ही पदार्थ भेदन होता है, यह कहा जा सकता है । वाच्य देवता व्याप्ति की दृष्टि से सर्वप्रथम ब्रह्मा और अकार पर विचार करना है । इसी सन्दर्भ में 'अ' वर्ण और 'ह' वर्ण की स्थिति उस प्रमाण परिवर्तित अवस्था में कैसी है, कितनी महत्त्व पूर्ण है । इसकी चर्चा कर रहे हैं । अकार और हकार कहने के लिये तो दो वर्ण हैं किन्तु वे वस्तुतः एक ही में अवस्थित हैं । जैसे आकाश और वायु । ये दोनों भी ऐक्य भाव में ही अवस्थित रहते हैं । गहराई से विचार करने पर एक दूसरी दृष्टि भी इनकी एकता का समर्थन करती है । अकार अनुत्तर शक्ति विमर्शक वर्ण है । वही हकार शाम्भव भाव का विमर्शक है । चूँकि शिवशक्ति में कोई अन्तर नहीं माना जाता । इसलिये अकार और हकार इन वर्णों में विभेद नहीं माना जा सकता ।।३४९।।

इसी दृष्टि को सामने रखकर शास्त्रकार इन्हें ऐक्य भाव से अवस्थित कहते हैं, और यह घोषित करते हैं कि, इन दोनों में कोई विभक्ति नहीं की जा सकती । हकार जब अनच्क अर्थात् स्वर रहित होता है, तो विसर्ग रूपता की अवस्था में विश्व का विमर्शक माना जाता है । उस समय उसके ऊपर जो शिरोरेखा दी जाती है, वह अकार की कला का उसके ऊपर अनुप्रवेश मात्र ही माना जाता है । इसीलिये इसे एक मात्रक ही मानते हैं ।

उस रूप में भी वह अर्थात् अकार कला युक्त होकर भी वह अभी अनुच्चार्य ही रहता है । यह केवल अकाल कलित परमेश्वरवत् हकार रूप में स्वात्म में प्रतिष्ठित रहता है । हंसोच्चार रूप से हृदय से प्रवर्त्तित होता है ।।३५०।।

---

१. ख.ग.घ.ङ.पु. स्वरूपविमर्शनेति पाठः ।

ऊकारस्तु द्विमात्रो वै कण्ठस्थाने समुच्चरेत् ।

त्रिमात्रस्तु मकारो वै तालुमध्यगतश्चरेत् ।।३५१।।

त्रिमात्रत्वं गीतिकाक्षरस्वरमध्येऽक्षरशून्यपदोच्चारवत् ॥३५१॥

प्लुतोच्चारयुक्त्या मात्राभेदं स्थूलस्थित्योक्त्वा, सूक्ष्मस्थित्याप्याह–

बिन्दुश्चैवार्धमात्रस्तु

अनुस्वारोच्चाररूपः ।

कुत इत्याह–

मात्रार्धं हि स उच्यते ।

वक्ष्यमाणयुक्त्या भेदितग्रन्थेर्योगिनो मात्रार्धमेव तदुच्चारो भवतीति ।

अस्य स्थानमाह–

भ्रुवोर्मध्ये स उच्चारस्तस्य देवि विधीयते ।।३५२।।

भेदितग्रन्थिभिर्योगिभिः ॥३५२॥

ब्रह्मा की स्थिति के बाद विष्णु की वाच्य देवता की अनुभूति सामने आती है । जहाँ हकार एक मात्रक है, वहीं ऊकार द्विमात्रक कहलाता है । इसका उच्चारण स्थान कण्ठ है । कण्ठ से ही द्विमात्रक उच्चार ऊकार का होता है । कण्ठ में विष्णु व्यवस्थित हैं, यह श्लोक ३४४ में कहा जा चुका है । ऊकार के बाद रुद्र देवता का वाच्य स्थिति में मकार का संदर्भ आता है । मकार त्रिमात्रक होता है । यह तालु मध्य में अपने प्रभाव को विकीर्ण करता है । त्रिमात्रता की स्थिति तो गाते समय जहाँ अक्षर शून्यता आती है, वहीं स्वर मात्रा के बढ़ जाने से ही होती है । उसी तरह मकार के बाद अक्षर शून्यता से इसमें त्रिमात्रता हो जाती है ॥३५१॥

मात्राओं की एकमात्रिक, द्विमात्रिक और प्लुतोच्चार अवस्था का स्थूलदृष्टि से वर्णन करने के बाद यहाँ सूक्ष्मस्थिति का वर्णन कर रहे हैं । ग्रन्थकार के अनुसार 'बिन्दु' अर्धमात्रिक होता है । यह सभी जानते हैं कि, बिन्दु अनुस्वार रूप में ही उच्चरित होता है । इसका कारण यह है कि, यह मात्रा के अर्धकाल में ही उच्चरित होता है । इस तथ्य का अनुभव उन योगसिद्ध पुरुषों को होता है, जो ग्रन्थि भेद में दक्ष होते हैं । इसका उच्चारण स्थान भ्रूमध्य ही है । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! इसकी अनुभूति भी भेदितग्रन्थि योगीराज पुरुषों को ही होती है ॥३५२॥

अथास्यैव विगलद्विभागध्वन्यात्मनोऽनुनिर्ह्रादरूपः-

तच्छेषाच्चार्धचन्द्रस्तु पादमात्रस्त्वसौ भवेत् ।

मात्राया इत्यर्थात् ।

निरोधी चार्धपादस्तु

सोऽयमर्धचन्द्रो निरोधीयमन्त्रैकदेशः ।

ललाटान्ते समुच्चरेत् ।।३५३।।

ललाटाग्रतदग्रभागात्मन्यन्तद्वये द्वावुच्चरत इत्यर्थः ।।३५३।।

अत ऊर्ध्वम्-

नादः षोडशकांशस्तु मूर्धान्तं यावदुच्चरेत् ।

नादस्य नादान्तः पल्लवप्राय इति पृथङ्नोक्तः ।

अत ऊर्ध्वम्-

द्वात्रिंशदंशा शक्तिस्तु षट्त्रिंशान्ते समुच्चरेत् ।।३५४।।

प्राणचारस्य यत्षट्त्रिंशदङ्गुलं तल्लक्षणान्ते सम्यक् शान्तभेदस्पर्शमात्रानुभवात्मतया उच्चरेत् । इह एकत्रैव षट्त्रिंशदङ्गुलरन्ध्रान्ते शक्तिः, त्वक्शेषे व्यापिनी, केशदेशे समनेति स्थितिः ।।३५४।।

अर्धचन्द्र के सम्बन्ध में भी भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! पार्वती ! अर्धचन्द्र के उच्चारण में एक मात्र का ¼ भाग ही लगता है । जहाँ तक निरोधिनी वृत्त का प्रश्न है, इसमें अर्धपाद अर्थात् ½ मात्रा का समय लगता है । योगी लोग कहते हैं कि, अर्धचन्द्र निरोधिनी शक्ति का ही एकदेश मात्र है । इसका उच्चार ललाट के अन्तिम ऊपरी सीमा के नीचे ही होता है । ललाट की ऊपरी सीमा रेखा के नीचे अर्धचन्द्र तथा ऊपरी सीमा के ठीक ऊपर निरोधिनी का उच्चार चलता है ।।३५३।।

इसके ऊपर नाद का क्षेत्र आता है । नाद के एक अंश नादान्त का यहाँ पृथक् उल्लेख इसलिये नहीं किया गया है कि, नादान्त तो नाद का अवसानात्मक पल्लवन है । यह मूर्धान्त में उच्चरित होता है । यह मूर्धान्त शब्द नितान्त अनिश्चयात्मक है । मूर्धा शब्द किसी सीमा को इदमित्थं रूप से व्यक्त नहीं करता । षोडशकांश शब्द एक मात्रा के सोलहवें भाग के रूप में प्रयुक्त है । यह सूक्ष्मता का द्योतक है । इसमें ही इसका उच्चार होता है । एक मात्रा के सोलहवें अंश के रूप में नाद उच्चरित होता है । इसके ऊपर रन्ध्रान्त में शक्ति का समुच्चार एक-मात्रक द्वात्रिंशदंश काल रूप में मान्य है ।।३५४।।

तत्र शक्तेर्मानमुक्तं व्यापिनीसमनयोराह–

व्यापिनी चतुःषष्ट्यंशा शक्तेस्तु परतःस्थिता ।

समना च

चतुष्षष्ट्यंशैव, एवं चेमौ चतुष्षष्ट्यंशावेकीकृतौ द्वात्रिंशांशः सोऽपि शक्त्यात्म-द्वात्रिंशांशेन सह मिलितः षोडशांशो जायते, सोऽपि नादीयश्च षोडशांशोऽष्टांशो जातः, सोऽपि निरोध्यष्टांशेन सह चतुर्थांशः स्थितोऽर्धचन्द्रः, अपरश्चतुर्थांशो बिन्दुरर्धमात्रेत्येष मात्रा मकारान्ताश्च षण्मात्रा इति समनान्तमात्रासप्तकक्रोडीकृता-शेषाक्षेपिभाविदेवीसप्तकोऽयममात्रोन्मनापरतत्त्वसतत्त्वः श्रीनिष्कलनाथः । यत्तु–

'........................परार्धः परतः स्थितः ।

सोऽष्टादशस्तु तं देवि समनान्ते परित्यजेत् ॥'

इसी के ऊपर क्रमशः व्यापिनी और समना की स्थिति मानी जाती है । दोनों एकमात्र के चतुष्षष्ट्यंश चतुष्षष्ट्यंश काल में उच्चरित हैं । दोनों का योग द्वात्रिंशांश हो जाता है । इसमें शक्ति का द्वात्रिंशांश जोड़ने पर षोडशांश योगफल होता है । इसमें नाद का षोडशांश जोड़ने पर एक मात्रा का अष्टांश होता है । इसमें भी निरोधिनी का अष्टांश जोड़ने पर ¼ अंश होता है । इसके साथ अर्धचन्द्र के उच्चार का चतुर्थांश समय जोड़ने पर अर्धमात्रा होगी । इसके साथ बिन्दु के अर्धमात्रा का समय लगाने पर पूरी एक मात्रा का समय बिन्दु से समना तक का होता है ।

इस एक मात्रा को 'अ' 'ऊ' और 'म' की छः मात्राओं से जोड़ने पर कुल मात्रा सप्तक योग निष्पन्न होता है । श्लो० ३५० से लेकर यहाँ तक का यौगिक समय शास्त्र के अनुसार सप्तमात्रक सिद्ध होता है । समना के क्रोड में इस प्रकार के उल्लास का अनुभव योगी लोग करते हैं । जब वे समना के ऊपर केशदेश को भी पार कर उन्मना में पहुँचते हैं, इस सप्तक को भी अपने स्वात्म परिवेश में लेकर विराजमान अमात्रक परतत्त्व रूप में पहुँचते हैं, तो निष्कलनाथ का वरदान उन्हें प्राप्त हो जाता है । उन्मना परतत्त्व सतत्त्व विशेषण उसी निष्कलनाथ का है ।

यहाँ एक उक्ति द्वारा उत्पन्न सन्देह का निराकरण कर रहे हैं । एक स्थान पर लिखा हुआ है कि, परार्ध परभाव में अवस्थित है । एक दूसरी उक्ति भी है । इसके अनुसार समनान्त में अष्टादश का परित्याग कर देना चाहिये । इन दोनों उक्तियों के अनुसार ऊपर कहे उन्मना परतत्त्व सतत्त्व निष्कलनाथ वहाँ हैं, इस वचन से एक अन्तर्विरोध उपस्थित होता है ।

इत्युक्तं तद्वाच्यदेवतावधिभूतबाह्यस्थूलकालप्रशमनपरमिदं तु मन्त्रावयवगतातिसूक्ष्मोच्चारकालप्रतिपादनपरमिति न काचिद्धानिः । अतश्च सूक्ष्ममन्त्रकलोच्चारकालेनैव बाह्यतत्त्वगतसम्भाव्यमानविततविततमपि कलाध्वानं वटधानिकादलनेन वटदलनवद्योगीन्द्रः प्रशमयेदिति निरूपितं भवति । अत्र च मन्त्रावयवविमर्शकाले तत्तद्वाच्यदेवतानुभवोऽधराधरानुभावस्य चोर्ध्वोर्ध्वपदानुभावात्मसाद्भावो भवतीति मन्तव्यम् ।

समनाया अपि–

उन्मना चोर्ध्वममात्रः परमोऽव्ययः ।।३५५।।

उन्मनया सह परमशक्तिमान् व्ययहीनत्वादमात्रो मात्रार्धमात्रादिकालस्पर्शरहित इत्यर्थः ।।३५५।।

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि, ये दोनों उक्तियाँ परस्पर विरोधी नहीं हैं । वस्तुतः इनके प्रकरण पर ध्यान देने से इनका निराकरण हो जाता है । पहली और दूसरी दोनों उक्तियाँ वाच्य रूप देवता की अवधि के रूप में बाह्यस्थूल रूप का प्रशमन करने के लिये प्रयुक्त हैं तथा उन्मना परतत्त्व सतत्त्व निष्कलनाथ सम्बन्धी कथन मन्त्रों के सूक्ष्म उच्चार में कितना समय लगता है, इस तथ्य का प्रतिपादक है । अतः दोनों कथनों में परस्पर किसी प्रकार के ऊहापोह की आवश्यकता नहीं ।

सूक्ष्म मन्त्र कला के काल से ही बाह्यतत्त्वगत कलाध्वा के वितत से भी वितत अप्रकल्प प्रसार को योगी लोग शान्त कर लेते हैं । जैसे वटधानिका के दलन से वट के दलन की प्रक्रिया पूरी कर ली जाती है, उसी तरह योगी के सूक्ष्म काल कला के उच्चार से अनन्त विस्तार प्राप्त काल भी शान्त हो जाता है अर्थात् उसी में समाहित कर लिया जाता है । यहाँ विशेष रूप से बीज मन्त्र के अवयवों के विमर्श के समय उन अवयवों के वाच्य देवताओं का अनुभव अधर अधर के ऊर्ध्व ऊर्ध्वपदासीन देवताओं में आत्मसात् होने के रूप में होता है ।

समना से ऊपर उन्मना अवस्थित है । ध्यान देने की बात है कि समना में सहस्रार चक्र है । इसमें २० पंक्तियों के वृत्तों पर वर्णमाला के ५० वर्ण प्रतिष्ठित होते हैं । यह सहस्रार उलटा है । इसका नाल ऊपर है । उसमें त्रिशूलाब्ज क़ा मध्य कमल ही उन्मना है । यह स्वयं भी अमात्रक उच्चारमयी है । इसी के साथ परम शक्तिमान् अव्यय पञ्चपिण्डनाथ निवास करते हैं । अव्यय होने के कारण वहाँ मात्रा के स्पर्श की भी कल्पना नहीं की जा सकती ।।३५५।।

एतदुपसंहरति–

मात्रासंख्या च योगश्च प्रमाणं परिकीर्तितम् ।

तदेतत्सर्वम्–

एवं ज्ञात्वा वरारोहे पदार्थान् भेदयेत्ततः ।।३५६।।

वरारोहे इति प्राग्वत् ।।३५६।।

कथम् ?

भेदयेन्मन्त्रशूलेन मुद्राभावयुतेन च ।

प्राङ्निर्णीतज्ञानशूलसतत्त्वेन मन्त्रशूलेन मुद्रया वक्ष्यमाणकरणरूपया भावेन जिज्ञासाजिज्ञासितानुभवात्मना युक्तेन ।

त्रयमेतत् ज्ञानक्रियेच्छाशक्तिस्फारसारमत एतच्छक्तिमयमहेश्वरैकात्म्या गुरुर्भेदनं कुर्यादिति [1]प्रकाशयति–

मन्त्रो वै[2] ज्ञानशक्तिश्च मुद्रा चैव क्रियात्मिका ।।३५७।।

मात्रा संख्या और मात्रा योग मिलाकर प्रमाण की परिभाषा पूरी होती है । भगवान् भैरव कहते हैं कि, देवि ! इस उक्त प्रकार का ज्ञान परम आवश्यक है । इसके ज्ञान से ही पदार्थों का भेदन होता है । इस प्रक्रिया में दक्ष होकर भेदन व्यापार पूरा करना चाहिये ।।३५६।।

पदार्थों के भेदन के लिये 'सुए' की आवश्यकता होती है । यहाँ मन्त्र ही 'सुए' का काम करते हैं । अत: इन्हें मन्त्र शूल कहते हैं । मन्त्रशूल पहला साधन है । दूसरे व तीसरे साधन मुद्रा एवं भाव हैं । मुद्रा करण रूपा होती है । मन्त्र शूल भी ज्ञान शूल के ही समान माना जाता है । किसी बात के जानने की इच्छा जिज्ञासा होती है । उसके रहस्य में प्रवेश कर वह जिज्ञासित ज्ञात हो जाता है । गुरु या आप्त पुरुष इसके प्रेरक होते हैं । तभी भाव की उत्पत्ति होती है ।

पदार्थ भेदन के ये तीनों मन्त्र, मुद्रा और भाव रूप साधन ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति और इच्छा शक्ति के प्रतीक हैं । मन्त्र ही ज्ञान शक्ति रूप, मुद्रा क्रिया शक्ति रूपा तथा भाव बुद्धि द्वारा परिचालित मन की मनीषा रूपिणी इच्छा शक्ति पर निर्भर करता है । मन बुद्धि पूर्वक ही मनन करता है । इन तीनों के आधार पर ही मन्त्र भेदन करना चाहिये ।।३५७।।

---

१. ख.पु. प्रकटयति इति पाठः । २. ख.ग.पु. विज्ञानेति पाठः ।

भावश्च मन इत्युक्तं तन्मनो बुद्धिपूर्वकम् ।

मनः सततं मननमनुभवो बुद्धिपूर्वकमिति निश्चित्य प्रवृत्तस्य तत्तदनुभवबलाद् भेदनं चैतत्परतत्त्वव्याप्त्यर्थम् ।

परतत्त्वव्याप्तिश्च जिज्ञासाप्रमुखकरणबन्धे मन्त्रोच्चारोन्मिषत्पूर्णस्वसंवेदनत इत्याह–

परश्च मनसा गम्य इच्छाशक्त्या त्वधिष्ठितः ।।३५८।।

मनसा स्वसंवेदनेनेच्छाशक्त्या तत्परमार्थतया जिज्ञासयाधिष्ठितः प्रथमं विषयीकृत इत्यर्थः ।।३५८।।

युक्तं चैतद् यतः–

यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं तत्र प्रवर्तते ।

क्रियाकरणसम्बन्धात्

योगात् क्रियाया व्यापारस्य करणस्य च तद्व्यापारोचितशरीरसन्निवेशस्य सम्यक् बन्धात् जिज्ञातितेऽर्थे ज्ञानं भवतीत्यर्थः ।

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है, कि पदार्थ भेदन का उद्देश्य क्या है ? या मन्त्र भेदन की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर पर तत्त्व व्याप्ति का अनुभव ही है । वस्तुतः कोई भी पार्थक्य प्रथा से प्रथित मन्त्र या पदार्थ अपने सीमित रूप में पूरा नहीं होता । उसमें पर तत्त्व की व्याप्ति रहती है । उसे समझने के लिये ही मन्त्र भेदन करना पड़ता है । इसमें जिज्ञासा प्रमुख साधन बनती है । मन्त्रोच्चार के उन्मिषद्भाव से सम्बन्धित पूर्ण स्वात्म संवेदनमयी इच्छा शक्ति भी उसके मूल में होती है । इसी लक्ष्य को व्यक्त करते हुए शास्त्रकार कह रहे हैं कि, परतत्त्व मन से अर्थात् स्वात्म संवेदन और इच्छा शक्ति से संवलित जिज्ञासा से ही गम्य है और स्वात्म संवेदन में ही अधिष्ठित है ।।३५८।।

यह सत्य तथ्य है । जहाँ जहाँ इच्छामयी स्वात्मसंवेदनात्मिका वृत्ति का स्फुरण होता है, वहाँ वहाँ ज्ञान अवश्य प्रवर्त्तित होता है । क्रिया और करण का सम्बन्ध शाश्वत माना जाता है । जिज्ञासा और मन्त्र का योग कब होता है, यह ध्यान देने की बात है । क्रिया व्यापार रूपा होती है । करण उस व्यापार को सक्रिय बनाने में समर्थ, शरीर के सन्निवेशमय बन्ध को कहते हैं । इस तरह जब करण और क्रिया योग होता है, तो वास्तविक ज्ञान का प्रवर्त्तन अवश्य होता है ।

तदित्थं शक्तित्रयात्मशिवावेशज्ञस्य गुरोः-

तत्त्वस्योच्चारणं भवेत् ।।३५९।।

तत्त्वं वीर्यसारो मन्त्रः ।।३५९।।

अत्रैव भरं दर्शयितुमपि अर्थलब्धं व्यतिरेकमाह-

क्रियाकरणहीनस्य न चैवोच्चारणं भवेत् ।

करणभेदेन क्रियाभेदं सम्यक् मन्त्रोच्चारसिद्ध्यर्थं दर्शयितुमुपक्रमते-

क्रिया करणभेदेन सा चैव त्रिविधा स्मृता ।।३६०।।

तत्र-

एकेनोच्चारयेत्तत्त्वं करणेन विचक्षणः ।

ऊर्ध्वरेचकेन-

नाडीश्चाथ द्वितीयेन द्वाराणि च निरोधयेत् ।।३६१।।

यह ज्ञान, इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्तियों का वरदान माना जाता है । ये तीनों शक्तियाँ मन्त्र, मुद्रा और भाव में भी अधिष्ठित रहती हैं । गुरु इन सभी उन्मेषों, सन्निवेशों का परम ज्ञानवान् होता है । उसे मन्त्रोच्चार में सभी प्रकार के स्फुरणों का पूर्ण ज्ञान होता रहता है । इन्हीं अर्थों में यह कहा जा सकता है कि, सार रहस्य का विज्ञ और प्रामाणिक पुरुष वही होता है ।।३५९।।

व्यतिरेक दृष्टि से इसी तथ्य का जोरदार समर्थन कर रहे हैं । क्रिया और करण से हीन अर्थात् रहित होने पर यह निश्चय है कि, मन्त्रोच्चार असम्भव ही हो जाता है । यह भी ध्यान देने की बात है कि, क्रिया भेदक त्रैविध्य करण भेद से ही सम्भव है । क्रिया भेद से मन्त्रोच्चार में सौकर्य होता है । इससे मन्त्रसिद्धि में सहायता मिलती है ।।३६०।।

यह कहा गया है कि, करण के द्वारा भेद उत्पन्न होने से क्रिया तीन प्रकार की हो जाती है । यहाँ समझने की बात यह है कि, यह सारा प्रकरण मन्त्रोच्चार का है । साधक मन्त्रोच्चार में जब भी प्रवृत्त होता है, उसके सामने कैसी समस्यायें हैं, किस प्रकार की स्थितियाँ वहाँ उत्पन्न होती हैं । इसी विषय पर यह पूरा शास्त्रीय ऊहापोह प्रस्तुत किया गया है ।

करणों से किसी प्रकार का व्यापार प्रभावित होता है । भगवान् कह रहे हैं कि, विचक्षण साधक मन्त्र का उच्चार ऊर्ध्व रेचन के साथ करे । जैसे भैरव का निष्कल मन्त्र वह साँस के बाहर जाने के समय जपे । श्वास का बाहर निकलना ऊर्ध्व रेचक में होता है । यहाँ साधक सावधान बन कर मन्त्र साथ साथ बाहर ले जाय ।

कुम्भकेन–

तृतीयं करणं दिव्यं कृत्वा वै तत्त्वमुच्चरेत् ।

तत्त्वं निष्कलं तेन कुम्भकेन द्वाराणि निरोध्य दिव्यं करणं बद्ध्वा ऊर्ध्वरेचकेन मन्त्रमुच्चारयेद् इत्ययमत्र क्रमः ।

तमेव स्फुटयितुमुपक्रमते–

पूरकं कुम्भकं कृत्वा सर्वद्वाराणि रोधयेत् ।।३६२।।

कुम्भकावसर एव ॥३६२॥

तानि–

गुदद्वारेण रुद्धेन रुद्धान्यत्र भवन्ति हि ।

रोधश्चास्य संकोचविकासाभ्यामावेशवशेन कार्यः ।

यही उसकी विचक्षणता मानी जाती है । ऊर्ध्व रेचन से मन्त्र श्वास प्रवाह के साथ चिति केन्द्र (आमावस्य केन्द्र) या मध्य द्वादशान्त बिन्दु में प्रवेश कर जाता है । चिति केन्द्र शैवधाम है । ऊर्ध्व रेचक रूप पहले करण से क्रिया भेद हो गया । साधक का मन्त्र शैव समुद्ररूपी जीवन केन्द्र में समा गया है । इस अवस्था में भी साधक साक्षी भाव से वहाँ है और सावधान होकर क्रियावान् बना हुआ है ।

साधक अब दूसरा करण अपनाता है । वह उसी दशा में बाह्य कुम्भक से श्वास को कुछ क्षणों तक अर्थात् बिना भार पड़े स्वाभाविक रूप से जब तक रोक पाता है, तब तक उसी अवस्था में मन्त्रोच्चार करता रहता है । यह भी व्यापार भेद रूपी क्रिया भेद ही है । इसमें साधक श्वास के भीतर आने के द्वार को रोक देता है । उस बाह्य कुम्भक स्थिति में सारा नाडी चक्र स्वभावतः एक तरह से निरुद्ध हो जाता है । फिर भी यहाँ साधक को आदेशमय विधि का निर्देश दे रहे हैं कि, 'नाडीश्च' निरोधयेत् । इस अवस्था को शैवसाधकैक्य दशा कह सकते हैं । यही दिव्यभाव दशा है । बाह्य कुम्भक और ऊर्ध्व रेचन दोनों इस समय एक हो गये होते हैं । इस तथ्य को उपसंहृत करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, पूरक रूप बाह्य कुम्भक में सभी द्वार साधक द्वारा निरुद्ध कर लिये जाँय ॥३६२॥

निरोध करने का आदेश तो अभी भगवान् ने दिया था पर विधि नहीं बतायी गयी थी । यहाँ भगवान् साधक को विधि में उतार रहे हैं । वे कहते हैं कि, मूलाधार चक्र के आश्रय स्थान को गुदा कहते हैं । इसी गुदा द्वार को अवरुद्ध करने से सारे द्वार अपने आप रुद्ध हो जाते हैं । इस विषय को आचार्य क्षेमराज ने थोड़ा और स्पष्ट किया है, उसी में बहुत कुछ बचा गये हैं ।

एवं कृत्वा–

द्वारमेकं ततश्चोर्ध्वे प्रवहत्तद्विचिन्तयेत् ।।३६३।।

मध्यनाडिरूपं विचिन्तयेत्, न तु सम्प्रत्येव वाहयेत् ॥३६३॥

तथा सति हि–

नाडयो ग्रन्थिपद्माश्च येऽधोमुखगताः प्रिये ।
ते कुम्भकेन संरुद्धा विकसन्ति समन्ततः ।।३६४।।

प्राणशक्तिकौटिल्यधामानि हृदयादीनि ग्रन्थयः । संकोचविकासधर्मत्वात् पद्मानि तानि चापानशक्तिप्रवाहवशादधोमुखानि विकसन्तीत्यूर्ध्ववाहोन्मुखीभवन्ति ॥३६४॥

इत्थं कुम्भकादनन्तरम्–

करणं तु ततः कृत्वा

अत्र च 'तत्त्वस्योच्चारणं कुरु' इति दूरेण संगतिः । मध्ये तु करणलक्षणम् । तदाह–

लक्षणं तस्य वै शृणु ।
जिह्वा तु तालुके योज्या किञ्चिदूर्ध्वं न संस्पृशेत् ।।३६५।।

मन्त्रोच्चार के आवेश में ही गुदा संकोचन और विकोचन किया जाता है । जैसे गाय, भैंस, घोड़ी आदि जानवर गोबर करने के बाद या मूत्रोत्सर्ग करने के बाद भी गुदा का संकोच विकोच करती हैं । घोड़ी को ही अश्विनी कहते हैं । इसीलिये संकोचन और विकोचन की इस क्रिया को अश्विनी मुद्रा कहते हैं । इस मुद्रा के समय एक एकाक्षर बीज का प्रयोग भी करना होता है, जिससे यह क्रिया शीघ्र ही सिद्ध हो जाती है । इस तरह इस विधि के द्वारा सर्वद्वार संकोच कर लिया जाता है ।

ऐसा करने पर सावधान साधक का सर्वप्रथम मध्य नाड़ी अर्थात् सुषुम्ना के श्वास द्वार से श्वास प्रवाहमान होगा, यह चिन्तन कर पूर्ण बाह्य कुम्भक की स्थिति पर भी सजग भाव से तैयार रहे कि, वहाँ कुम्भक द्वार एकाएक खुल न जाय ।

इस सजग चिन्तन और कुम्भक के दबाव का सुपरिणाम यह होता है कि, शरीर गत मुख्य नाडियाँ और सारे चक्र पद्म जो कुम्भक के पहले एक प्रकार से अधोमुख पड़े हुए थे, वे कुम्भक के महाप्रभाव से अपनी निरुद्धता का परित्याग कर देते हैं । उनमें एक नयी चेतना आ जाती है और वे पूरी तरह विकसित होने के लिये सुस्पन्दमान हो उठते हैं ॥३६४॥

कुम्भक की इस अवस्थ में तत्त्व रूप मन्त्रोच्चार करना चाहिये । इसके क्या लक्षण हैं, भगवान् ने इस विषय का एक शब्दचित्र ही प्रस्तुत कर दिया है । उनके अनुसार १– जीभ को उलट कर तालु से जोड़ने की क्रिया करनी चाहिये ।

ईषत्प्रसार्य वक्त्रं तु किञ्चिदोष्ठौ न संस्पृशेत् ।
दन्तपङ्क्ती तथैवेह दृष्टिश्चाधोर्ध्ववर्जिता ।।३६६।।
कायं समुन्नतं कृत्वा करणं दिव्यमुच्यते ।

अत्र जिह्वायास्तालुयोजने कुञ्चितत्वमर्थलब्धं किञ्चिदोष्ठौ नेति न किञ्चिदपि स्पृशेदिति योज्यम्, तथैवेति प्रसार्य न संस्पृशेदित्यर्थः । दृष्टेरध ऊर्ध्वं वर्जनं निश्चलतार-कत्वेन विकल्पहानये समुन्नतमिति सम्यगविकृततयोन्नतं दिवि परसंविल्लाभे उपायतया भवं दिव्यम् ।

तदित्थम्–

दिव्यं च करणं कृत्वा तत्त्वस्योच्चारणं कुरु ।।३६७।।

चकारात् कुम्भकमूर्ध्वरिचकं च तत्त्वं मूलमन्त्रः ॥३६७॥

अत्र दिव्यकरणावसरे ऊर्ध्वरिचकमपि कुर्वीतेत्याह–

कुम्भितश्चैव यः प्राणो रेचयेत्तं शनैः शनैः ।

२– ऊपरी स्पर्श नहीं होना चाहिये । ३– मुँह कुछ कुछ खुला रखना चाहिये, जिससे ओठों का परस्पर स्पर्श न हो सके । ४– दन्त पक्तियों का भी पारस्परिक स्पर्श न रहे । ५– दृष्टि न तो ऊपर और न ही नीचे रहे, वरन् सीध में रहे । बज्रासन पर विराजमान साधक अपने शरीर को समुन्नत भाव में अनुशासित रखे । इस अवस्था को दिव्यकरण कहते हैं । यह परसंवित् रूप दिव्य तत्त्व को उपलब्ध कराता है । अतः दिव्यकरण कहलाता है । इसी दिव्यकरण की अवस्था में मन्त्र का उच्चारण करते हैं किन्तु कुम्भक दशा में मन्त्रोच्चार 'जपः प्राणसमः कार्यः' के निर्देश के अनुसार<मन्त्र का प्रयोग>करने का विधान है ॥३६५-३६७॥

दिव्य करण भाव के पूर्ण हो जाने पर शरीर सोमतत्त्व की माँग स्वाभाविक रूप से करता है । उसी माँग के अनुसार कुम्भक से रेचन करते हैं । यह अत्यन्त धीरे धीरे करना पड़ता है । धीमी गति से रेचन की इस क्रिया में ही तिथियों की गणना की जाती है । उसकी क्रिया इस प्रकार सम्पन्न होती है—

श्लोक में हृदय नाभि आदि केन्द्रों को हीं ग्रन्थि कहा गया है । इनमें भी संकोच और विकोच होता रहता है । इसीलिये इन्हें पद्म भी कहते हैं । मूलाधार चतुर्दल, स्वाधिष्ठान षड्दल मणिपुर दश दल, अनाहत द्वादशदल, विशुद्ध षोडशदल और आज्ञा द्विदल होते हैं । इसी तरह सहस्रार सहस्रदल कमल ही है । ये सभी पद्म हैं । ये ग्रन्थि भी कहलाते हैं । अपान रूपी सोम तत्त्व की प्रधानता से संकोच और प्राण सूर्य के प्रकाश से ये उन्मेष भाव को प्राप्त करते हैं और ऊर्ध्वस्रोत हो जाते हैं ।

ऊर्ध्वमित्यर्थात् ।

तथा सति हि–

नाडयो ग्रन्थिपद्माश्च देहे याः संव्यवस्थिताः ।।३६८।।

रेचकेन समाक्षिप्ता ऊर्ध्वस्रोतो भवन्ति ते ।

मध्यवाहरूपतां यान्तीत्यर्थः । अत्र च रोमाञ्चोद्गमोऽभिज्ञानम् ।

एवं करणत्रयबन्धावहितः–

ततो वै ज्ञानशूलेन ग्रन्थीन्भिन्दन् समुच्चरेत् ।।३६९।।

ज्ञानशूलं पूर्वं निर्णीतं ग्रन्थीनां भेदो हृदयादिपदेषु प्राणशक्तेः स्पष्टीभावेन तत्तदनुभवलाभः सम्यगविकल्पमुच्चरेत् स्वयमेवमूर्ध्वं प्रसरेत् ॥३६९॥

अब साधक कुम्भक के द्वार खोलने के लिये तैयार होता है । एक ब एक नहीं खोलता । वह सावधान होकर श्वास के अङ्कुरण को देखता है । यह ध्यान देने की बात है कि, श्वास के उन्मिषद्भावकी वह तुटि शाक्त उल्लास की सृष्टिसन्धि का क्षण होता है । पहले कुम्भक में श्वास शैव भाव में समाहित था । अव मात्र शाक्त भाव की सृष्टि के लिये उन्मिषित हो गया है । यह क्षण शैवशाक्त भाव की सन्धि का क्षण होता है । सन्धि आधी तुटि की होती है । श्वास अब शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा की ओर चला । प्रतिपद् बिन्दु पर रुका और वहाँ से द्वितीया तृतीया चतुर्थी आदि क्रम से नाभिकेन्द्र रूप पूर्णिमा तिथि में प्रवेश कर जाता है । यह शुक्ल पक्ष की पन्द्रह तिथियों का एक पक्ष का समय होता है ॥३६८॥

इस तथ्य के अन्य कई प्रकार हैं । ग्रन्थि भेदन के इस व्यापार की विभिन्न स्थितियों का चित्रण यहाँ कर रहे हैं—

१. रेचक से समाक्षिप्त होने के कारण ये मध्यवाह की ओर चल पड़ते हैं । यही इनकी ऊर्ध्वस्रोतस्कता कहलाती है, इस अवस्था में रोमाञ्च की अनुभूति होती है ।

२. इसके साथ ही ज्ञान शूल से ग्रन्थियों का भेदन करना चाहिये । प्राण का प्रवाह चूँकि ऊर्ध्व की ओर होता है । इसलिये इस उच्चार क्रम में अविकल्प भाव की अनुभूति के साथ ही साथ निष्कल मन्त्र का उच्चार भी उस समय करते रहना चाहिये । ऊर्ध्व प्रसार की यह क्रिया स्वाभाविक रूप से ऊर्ध्वप्रसार प्राप्त करती है ॥३६९॥

मन्त्र इति अर्थादत्र भेदेन घटमानस्य योगिनो भावप्राप्तिवशादिति यः पूर्वं हेतुरुक्तः, तन्निर्णयानुभवभेदान्निरूपयति–

भित्त्वा हृत्पद्मग्रन्थिं तु ततः शब्दः प्रजायते ।

यदाकाशसमायोगात्

सम्यगासमन्ताद्योगाद् मन्त्राद्यकलोच्चारैकाग्रतारूपात् । शब्द इति उपांशुरूपतयान्तरकारादिकलात्मा स्फुटं श्रूयमाणः ।

स च–

घोषशब्दोपमो भवेत् ।।३७०।।

'श्रवणाङ्गुलिसंयोगाद्यः शब्दः सम्प्रवर्तते ।

दीप्तवह्निस्वनाभोगः स नादो घोष उच्यते ॥'

इति लक्षितो घोषो दीप्ताग्नेः यो धकधकाकृतिशब्दतुल्याकारश्रुतिरुच्चरतीत्यर्थः ॥३७०॥

कण्ठस्थो विरमेच्छब्दः कण्ठं प्राप्य वरानने ।

मन्त्रो विमर्शः कण्ठं प्राप्य यदा तत्स्थो भवति, तदा घोषः शाम्येदित्यर्थः ।

तत्र तु–

भिन्दतः कण्ठदेशं तु शब्दो धुगधुगायते ।।३७१।।

तद्रूपाकार उच्चरतीत्यर्थः ॥३७१॥

---

३. हृदय ग्रन्थि का जिस समय भेदन होता है, उस समय आन्तर अकारादि कला का स्फुट शब्द सुन पड़ता है । उस समय आन्तर अवकाश रूप आकाश का सम्यक् रूप से योग स्वतः हो जाता है । वह शब्द घोष के समान होता है । इस सम्बन्ध में यह उक्ति ध्यातव्य है । उद्धरण कहता है कि, "कान में अङ्गुलि डाल देने पर जैसा शब्द सुनायी देता है, वह एक विचित्र रव होता है । आग के जलने पर अङ्गारों की धधक की ध्वनि भी उसी तरह की होती है । यही ध्वनि घोष कहलाती है ।"

इसी घोष की ध्वनि के समान घोष हृदयग्रन्थि भेदन के समय होता है ॥३७०॥

वहाँ मन्त्रोच्चार का विमर्श ऊर्ध्व की ओर ही प्रसरित होता है । जब वह कण्ठ में पहुँचता तो वहाँ कुछ विराम स्वाभाविक रूप से घटित होता है । उस समय वह घोष प्रशमित हो जाता है ।

४. अब कण्ठ ग्रन्थि के भेदन का समय आता है । उस समय इसमें धुक् धुक् की ध्वनि विनिःसृत होती है ॥३७१॥

अत ऊर्ध्वम्–

तालुमध्यगतः प्राणो यदा भवति सुव्रते ।
भिन्दतस्तालुग्रन्थिं तु शब्दो घुमघुमायते ।।३७२।।

शोभनं व्रतं मध्यधामनिभालननियमरूपं यस्याः सा सुव्रता तत्संबोधनम्, घुमघुमायते इति तदनुकृतिर्मकारकलोच्चरतीत्यर्थः ॥३७२॥

तदत्र ग्रन्थित्रयभेदेन–

एवं तेऽनुभवाः प्रोक्ताः प्राणे चरति सुव्रते ।

प्रोक्तशब्दविषयाः–

त्रयस्तेऽष्टकलाः प्रोक्ता उपर्युपरितः क्रमात् ।।३७३।।

इह एकादशे पटले–

'अष्टधा तु स देवेशि व्यक्तः शब्दः [१]प्रकीर्तितः ।
घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च ॥
झंकारो ध्वंकृतश्चैव अष्टौ शब्दाः प्रकीर्तिताः ॥' (स्व. ११-७)

---

५. जब प्राण तालु मध्य में पहुँचता है और तालुग्रन्थि का भेदन प्रारम्भ होता है । उससे घुम घुमाहट की आवाज होती है ।

श्लोक में 'सुव्रते !' सम्बोधन भी महत्त्वपूर्ण है । अवसर के अनुरूप ही इसका प्रयोग किया गया है । व्रत में अच्छी तरह स्थित रहना प्रत्येक साधक का कर्त्तव्य है । शक्ति रूपा परा देवी भी मध्य धाम के निभालन में एकनिष्ठ भाव से संलग्न रहती हैं । उनको सुनाते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, तालु ग्रन्थि का भेदन करते समय धुम् धुम् ध्वनि की तरह अन्त में मकार की कला के समान श्रुति सुनाई पड़ती है ॥३७२॥

भगवान् पुनः उसी सम्बोधन का प्रयोग करते हुए कह रहे हैं कि, तीनों ग्रन्थियों के भेदन समय की इन अनुभूतियों पर ध्यान देते हुए अपनी प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये । ये तीनों शब्द आठ प्रकार के शब्दों की कलायें मात्र हैं । इसी ग्रन्थ के ग्याहरवें पटल में ऐसे ही सन्दर्भ में एक स्थान पर भगवान् ने कहा है कि, "व्यक्त शब्द आठ प्रकार से प्रोक्त हैं । वे इस प्रकार हैं—१. घोष, २. राव,

---

१. ख.पु. शब्दप्रभेदत इति पाठः ।

इत्युक्त्या व्यक्तस्य शब्दस्याष्टविधत्वं वक्ष्यति । अकारोकारमकाराश्च त्रयो व्यक्ता इति तदुच्चारस्थानेषु ग्रन्थिभेदानुभवविषयाणां शब्दानां घोषाद्यष्टकलत्वम्, यत्तु घोषोपम इत्युक्तं तन्न घोषैकरूपत्वम्, अपि तु घोषसमानत्वमिति, तत्रापि रावादिशब्दाः[१] सन्त्येव ॥३७३॥

तदित्थम्–

तिष्ठेत्स यत्र वै प्राण आत्मा तद्गतिमाप्नुयात् ।

प्राणाश्रया संवित् तद्द्वारेणैव तत्तत्स्थानमाप्नोति ।

तत्र–

तत्तद्रूपं भवेत्तस्य स्थानभावानुरूपतः ।।३७४।।

स्थाने हृदादौ भावस्तत्तत्कारणान्तर्भावः ।

एवं हृत्कण्ठतालुषु ब्रह्मविष्णुरुद्राधिष्ठितेषु सृष्टिस्थितिसंहाररूपतां प्राणावस्थितिक्रमेणात्मा भजते–

---

३. शब्द, ४. स्वन, ५. स्फोट, ६. ध्वनि, ७. झङ्कार और ८. ध्वङ्कार ।'' ॐकार में अकार, उकार और मकार ध्वनियों का समावेश भी वर्ण ध्वनि रूप ही माना जाता है । इन तीन वर्णों के अधिष्ठाता जिन ग्रन्थियों में अधिष्ठित हैं, उनके भेदन के ध्वनि भेदों की अष्टकलांशरूपता स्वतः व्यक्त हो जाती है । ध्वनि की एक रूपता के समान वाची घोषोपम (श्लोक ३७०) शब्द से व्यक्त करना एक तरह का प्रचलित प्रयोग ही है ॥३७३॥

यह कहा गया है कि, 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' अर्थात् संवित् को इसी आधार पर प्राणाश्रया मानते हैं । श्लोक में 'संवित्' के लिये आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है । प्राण जहाँ पहुँचता है, ग्रन्थिभेदन से जिन बिन्दुओं पर पहुँचता है, संवित् की गतिशीलता से प्रभावित हो जाता है । उसकी स्थान रूपता और भाव रूपता में यह अन्तर अनुभूति का विषय है । ग्रन्थि भेदन की प्रक्रिया में यह स्वाभाविक रूप से योगियों द्वारा अनुभूत किया जाता है ॥३७४॥

हृदय, कण्ठ और तालु के अधिष्ठाता देव ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ही हैं । इनका प्रभाव क्षेत्र क्रमिक रूप से सृष्टि, स्थिति और संहार ही है । प्राण की अवस्थिति के क्रम से संवित् पर भी उसी प्रकार का भाव संभावित है । इसी क्रम में जब प्राण भ्रूमध्य का भेदन करता है, तो वहाँ 'स्फोट' रूप ध्वनि उत्पन्न होती है । स्फोट शब्द स्फुरता को व्यक्त करता है । वस्तुतः ध्वनन तो उस समय अनभिव्यक्त है फिर भी वर्णरूपता स्फुट है । इसलिये अशब्द कला वर्णरूपता के भाव को ही स्फोट कह सकते हैं ।

---

१. ग.पु. शक्तय इति पाठः ।

भ्रुवोर्मध्यं यदा गच्छेत्स्फोटशब्दस्तु जायते ।

अनभिव्यक्तवर्णरूपस्फुटत्वा[१]दशब्दकल्पः स्फोटः ।

एष च–

बिन्दुं भेदयतो देवि शब्दो धुमधुमायते ।।३७५।।

बिन्दुमिति बिन्दुग्रन्थिं भिन्दतो बिन्दुकलाख्य एव मन्त्रावयवबोधो धुमधुमानुकृति[२]रुच्चरति बिन्दुग्रन्थिभेदश्चायमपवर्गपदाधिरोहे प्रथमसोपानकल्प इत्यत्र भरः कर्तव्यो योगिभिः [३]तद्भेदे हि उल्लङ्घित एव भेदमयः संसारः ॥३७५॥

अन्यथा तु–

कपिर्वै नारिकीलेन आचार्यः सह बिन्दुना ।
अभिन्नेन कुतो मोक्षं सबाह्याभ्यन्तरं प्रिये ।।३७६।।

भजते इति वाक्यशेषः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोऽत्रार्थलभ्यः, तेन यथा कपिर्नारिकेलेनाभिन्नेन कुतो मोक्षं भजते न भजते नारिकीलं[४] रसास्वादायाभङ्क्त्वा न मुञ्चति, तथैवाचार्यो बिन्दुग्रन्थिना अभिन्नेन सहेति साकं दीक्ष्येण शिष्येणेत्यर्थात् कुतः सबाह्या-

---

अकार, उकार और मकार को भेदन करने के बाद अब बिन्दु भेदन के विषय में विचार कर रहे हैं । भगवान् कहते हैं कि, देवि जिस समय बिन्दु का वेध होता है, उस समय धुम् धुम् की ध्वनि का आभास होता है । उस स्थिति में बिन्दु कलानुरूप ही मन्त्रावयवों का बोध होता है । उसी समय धुङ्कार रूप ध्वनि का आभास होता है । यह भेदन बड़ा महत्त्वपूर्ण माना जाता है । अपवर्ग की यात्रा का यह प्रथम साफल्य है । इसलिये योग युक्त साधकों को इस दिशा में विशेष रूप से बल प्रदान करना चाहिये । इससे भेदमय संसार को एक तरह से योगी अतिक्रान्त कर जाता है ॥३७५॥

दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक भाव के साथ वहाँ इसी बिन्दु भेद का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि, प्रिये पार्वती ! नारियल का फल पेड़ पर है । कपि फल समझ उसे तोड़ लेता है किन्तु उसके ऊपर के छिद्र को खोले बिना उसके रस का आस्वाद उसे नहीं मिल पाता । इसी प्रकार की प्रक्रिया आचार्य के लिये भी निर्धारित है । आचार्य ने बिन्दु का वेध ज्यों ही किया उसे चिद्रस की तत्काल उपलब्धि हो जाती है । चिद्रस के अभाव में मोक्ष कहाँ ?

---

१. ख.पु. स्फुटद्वंशशब्देति पाठः ।
२. क.ग. कृतिमिति पाठः ।
३. ख.पु. एतदिति पाठः ।
४. ख.ग. आन्तरमास्वादायेति पाठः ।

भ्यन्तरं कृत्वा मोक्षं भजेत बाह्यात् स्थूलाद भावभूतशरीरादाभ्यन्तराच्च सूक्ष्मात् पुर्यष्टकशून्यशरीरान्न मुच्यते, बिन्दुभेदात्तु मुच्यत एवेत्यर्थः । 'कपेर्वै नारिकेलेन तथाचार्यस्य बिन्दुना' इति स्पष्टः पाठः ॥३७६॥

अतश्च–

भित्त्वा बिन्दुं ततो देवि अर्धचन्द्रं विभेदयेत् ।
भिद्यतश्चार्धचन्द्रस्य ललाटे झिमिझिमायते ।।३७७।।

अर्धचन्द्रग्रन्थिं भिन्दतस्तत्स्थान एवार्धचन्द्राख्यो मन्त्रावयवो झिमिझिमानुकारो जायत इत्यर्थः । इत्थमुत्तरत्रापि योजना कार्या ॥३७७॥

अथ–

अर्धचन्द्रं तु भित्त्वा वै भेदयेत्तु निरोधिनीम् ।
तस्यास्तु भिद्यमानायाः शब्दः सिमिसिमायते ।।३७८।।

इस बिन्दु भेद से बाह्य स्थूल शरीर के साथ पुर्यष्टक रूप सूक्ष्म शरीर का बोध होता है तब जाकर मोक्ष रूप परमानन्द रस उपलब्ध होता है । उसी तरह नारिकेल भेद में पहला बाह्य आवरण तोड़कर पुनः भीतरी मेवामय फल का आवरण तोड़ते हैं, तब नारिकेल के रस की उपलब्धि होती है । श्लोक में एक और पाठ पहली पंक्ति का मिलता है—

'कपेर्वौ नारिकेलेन तथाचार्यस्य बिन्दुना' यह पाठ छपे पाठ से अच्छा और स्पष्ट है । कपि बिना भेद किये रस से वञ्चित रह जाता है । उसी तरह आचार्य बिना बिन्दु भेद किये मोक्ष रस से वञ्चित रह जाता है ॥३७६॥

भगवान् कह रहे हैं कि, देवि बिन्दु का भेदन किये बिना दोनों एकस्तरीय सिद्ध हो जाते हैं । आचार्य जब बिन्दु भेद कर लेता है, तो वस्तुतः आचार्य सिद्ध हो जाता है । इसके भेदन के बाद अर्धचन्द्र का भेदन करना पड़ता है । भगवान् विधि के रूप में आदेश दे रहे हैं कि, अर्धचन्द्र का भेदन करें । अर्धचन्द्र के भेदन के समय ललाट से झिमझिम का शब्द सुनायी पड़ता है । यह भी एक ग्रन्थि है । इसका भेदन भी आवश्यक होता है ॥३७७॥

अर्धचन्द्र के भेदन के बाद निरोधिनी का भेदन क्रमिक रूप से आता है । इसके भेदन के समय सिम् सिम् की तरह कुछ शब्द सुनायी देने लगते हैं । इस शब्द के श्रवण से निरोधिनी वेध की प्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है ॥३७८॥

बिन्द्वादौ प्राग्वत्कलाव्याप्तिमाह–

स्थानत्रयमिदं देवि पञ्चपञ्चकलान्वितम् ।

तत्र बिन्दोः–

'निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।' (स्व. १०-१२१५)

इत्युपक्रम्य–

'एतस्य वामदिग्भागे शान्त्यतीता ।' (स्व. १०-१२१६)

इति कलापञ्चकं वक्ष्यति । एवमर्धचन्द्रस्य–

'ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती कान्तिः सुप्रभा विमला शिवा ।
(स्व. १०-१२१८)

इति निरोधिन्या अपि–

'रुन्धनी रोधिनी रौद्री ज्ञान[१]बोधा तमोपहा ।' (स्व.१०-१२१८)

इति कलापञ्चकं स्थानत्रयमिति वर्गीकरणमाद्यग्रन्थिभेदादेवापरग्रन्थिभेद इत्याशयात् । एवमुत्तरत्र ।

तदित्थम्–

प्राणस्य चरतस्तत्र यस्मिन्स्थाने स तिष्ठति ।।३७९।।

बिन्दु, अर्धचन्द्र और निरोधिनी ये तीन स्थान पाँच पाँच कलाओं से समन्वित माने जाते हैं। यह भगवद्वचन है। इनमें बिन्दु की कलाओं में १. निवृत्ति, २. प्रतिष्ठा, ३. विद्या, ४. शान्ता और ५. शान्त्यतीता हैं । शान्त्यतीता कला बिन्दु के वाम भाग अधिष्ठित है । यह तथ्य इसी ग्रन्थ के पटल १० के श्लोक १२१५-१२१६ में व्यक्त किया गया है ।

इसी प्रकार अर्धचन्द्र की कलाओं के रूप में १. ज्योत्स्ना, २. ज्योत्स्नावती, ३. कान्ति, ४. सुप्रभा और ५. विमला नाम की शिवा रूप कलायें परिगणित की जाती हैं । यह तथ्य पटल १० के श्लोक सं० १२१८ में उल्लिखित है ।

इसी तरह निरोधिनी की भी पाँच कलायें निर्धारित हैं । इनके नाम क्रमशः १.रुन्धनी, २.रोधिनी, ३.रौद्री, ४.जातबोधा, ५.तमोपहा हैं । पहले लिखे पटल के श्लोक १२१९ में यह बात लिखी है । इस तरह ये तीनों स्थान क्रमिक रूप से एक के बाद एक भेदित किये जाते हैं ।

---

१. ख.ग.पु. जातेति पाठः ।

तत्तद्रूपो भवेदात्मा तां तां गतिमवाप्नुयात् ।

तत्रेति तेषु त्रिषु ईश्वरतत्त्वाधिष्ठितेषु स्थानेषु चरतः प्राणस्येति चरन्तं प्राणमनादृत्य संवित्प्रधानतया प्राणभूमिकां गुणीकृत्य यस्मिन्यस्मिन् स्थाने स योग्यात्मा तिष्ठति, तत्तद्रूपतामनुभूय तत्तन्मयत्वमाप्नोतीत्यर्थः ।

अथ–

निरोधिनीं भेदयित्वा ततो नादं व्रजेद्बुधः ।।३८०।।

वंशशब्दसमः शब्दस्तत्र सूक्ष्मः प्रजायते ।

सूक्ष्मत्वं पूर्वपिक्षमीश्वरतत्त्वम् ।

ततोऽपि–

भेदयेन्नादसंस्थानं ब्रह्मरन्ध्रं सुदुर्भिदम् ।।३८१।।

इस तरह प्राणचार इस प्रक्रिया में जिस क्षेत्र से हो कर चलता है और जिस स्थान पर ठहरता है, आत्मा उन उन स्थानों पर उसी भाव से भावित होता रहता है । परिणामतः वही वही गति भी प्राप्त करता है । ये स्थान ईश्वर तत्त्वाधिष्ठित माने जाते हैं । इनमें संवितत्त्व का ही प्राधान्य होता है । प्राण एक तरह से गौण रहता है । परिणामतः स्थानानुरूपता प्राप्त करता है और उन स्थानों से तन्मयभाव से जुटता भी रहता है । इसके बाद अर्थात् निरोधिनी भेदन के बाद प्रबुद्ध साधक नाद स्थान की ओर प्रस्थान करता है । नाद भेदन के समय वंश ध्वनि का सुरीला शब्द श्रुति गोचर होता है । यह शब्द एकदम सूक्ष्म होता है ।।३७९-३८०।।

यह तन्त्र की साधना यात्रा है । साधक एक एक अधः भूमियों को पार करता हुआ अब वहाँ पहुँच गया है, जो अत्यन्त सुदुर्भिद भूमि मानी जाती है । इसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं । यही नाद संस्थान भी माना जाता है । नाद की यहाँ विश्रान्ति होती है । इसे नादान्त पद संज्ञा से भी विभूषित कर सकते हैं ।

ब्रह्मरन्ध्र के भेदन के समय भी एक प्रकार की ध्वनि होती है । इसको शुम् शुम् के समान मानते हैं । ब्रह्मरन्ध्र को ऊर्ध्व कवाट का छिद्र कहते हैं । अत्यन्त साव-धानी पूर्वक इसका भेदन करना चाहिये । अतिशय सजगता से ही इसका भेदन किया जाना चाहिये ।।३८१।।

भिद्यतो ब्रह्मरन्ध्रस्य शब्दः शुमशुमायते ।

नादस्य सम्यक् स्थानं विश्रान्तिर्यत्र तन्नादसंस्थानं ब्रह्मरन्ध्रं सुदुर्भिदं नादान्तपदं तदेव च ब्रह्मरन्ध्रमूर्ध्वकवाटछिद्रं सुदुर्भिदं [1]सातिशयावधानैरेव भेत्तुं शक्यम् ।

एवं नादनादान्तस्थानं सदाशिवाधिष्ठितं भित्त्वा–

शक्तिमध्यगतः प्राणो वंशनादान्तसन्निभः ।।३८२।।

शक्तिभेदस्पर्शाद्वंशनादान्ततुल्यो भवति, न तु शक्तिस्थानभेदाद्वंशनादस्य मधुरध्वनिरूपस्यान्तोऽनुरणनरूपः सूक्ष्मस्तत्तुल्यो[2] भवति ।।३८२।।

अथ–

तां वै तु भेदयेच्छक्तिं दुर्भेद्यां सर्वयोगिनाम् ।
भिद्यते च सदा शक्तिः शान्तः शुमशुमस्ततः ।।३८३।।

दुर्भेदत्वं चास्याः तदनुभवाह्लादस्य स्पृहणीयतमत्वेन त्यक्तुमशक्यत्वात् शान्त इति प्रवृत्तिस्थानकरणाभिघातादेव शब्दवृत्तिः शाम्यति, इह तु शमित्वा आनन्दस्पर्शात्मतामेतीत्यर्थः ।।३८३।।

नाद और नादान्त के ये स्थान सदा शिवाधिष्ठित माने जाते हैं । ब्रह्मरन्ध्र को नाद संस्थान की संज्ञा से विभूषित करते ही हैं । इस स्थान का भेदन किया जा चुका है । इसके बाद प्राण, शक्ति स्थान में प्रवेश करता है । शक्ति के भेद का स्पर्श जिस समय होता है । स्वयं प्राण वंश नादान्त तुल्य स्पन्दनशील हो जाता है । शक्ति का धर्म ही स्फुरण है, स्पन्द है । यह स्पन्द भी नादान्त तुल्य ही कहा जा सकता है । यहाँ वंशनादान्त तुल्य शब्द प्रयोग से यह अर्थ भी निकलने की सम्भावना हो जाती है कि, शक्ति स्थान के भेद से वंश नाद की मधुर ध्वनि रूप अनुरणन रूप ही प्राण होता है । यह अर्थ उचित नहीं है ।।३८२।।

उस शक्ति का भेदन साधक करे, यह परमेश्वर का आदेश है । यह भी दुर्भेद्य ही मानी जाती है । सभी योगी इसका भेदन नहीं कर पाते । जिस समय इसका भेदन होता है, उस समय इससे शुमशुमायित शब्द सुनायी पड़ता है । यह अत्यन्त शान्त अवस्था होती है । भेदभिन्नता की स्थिति में उस समय परमानन्दानुभूति से साधक भर जाता है । उसमे उतना आकर्षण होता है कि, शान्ति पूर्वक विश्रान्ति का भाव ही वहाँ प्रधान हो जाता है । मानो आनन्द आत्मा को अपने आक्रोश में ले लेता है । यही वहाँ का शान्त भाव है ।।३८३।।

---

१. ख.पु. चातिशयेति पाठः । २. ख.ग.पु. सूक्ष्मतुल्य इति पाठः ।

किञ्च,

शक्तिं भित्त्वा ततो देवि यच्छेषं व्यापिनी भवेत् ।
अनुभावो भवेत्तत्र स्पर्शो यद्वत्पिपीलिका ।।३८४।।

शक्तिभेदानन्तरं यन्मन्त्रावयवरूपं वस्तु शेषमिति शिष्यमाणं तद्व्यापिनी भवेत् शक्त्यन्तसर्वाध्वव्यापनाद्व्यापिन्याख्यो मन्त्रावयवः सः । 'तच्छेषे व्यापिनी भवेत्' इति तु स्पष्टः पाठः । तत्र चानुभवः प्रशान्तशब्दव्याप्तिकत्वात् स्पर्शप्रथारूपो यद्वत्पिपीलिकेति सञ्चरन्तीनां पिपीलिकानामिवेत्यर्थः । पिपीलिका इत्यत्र नांशब्दस्य लोप ऐश्वरः ।।३८४।।

अत्रापि कलाविभागमाह–

स्थानत्रयमिदं देवि पञ्चपञ्चकलान्वितम् ।

तत्र नादस्थाने श्रीसदाशिवाधिष्ठिते

'इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिका तथा ।
ऊर्ध्वगा..।।' (स्व. १०-१२२६)

इति वक्ष्यमाणाः पञ्च कलाः, शक्तितत्त्वे व्यापिनीपदे च श्रीशिवनाथाधिष्ठिते, क्रमेण–

'सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च तथा चैवामृतामिता ।
व्यापिनी...।।' (स्व. १०-१२४२)

इति पञ्च कलाः–

'व्यापिनी व्योमरूपा चानन्तानाथा त्वनाश्रिता ।' (स्व. १०-१२५२)

भगवान् कहते हैं कि, देवि ! शक्ति का भेदन करने के बाद अब ऊपर व्यापिनी ही शेष रह जाती हैं । शक्ति के अन्त में यह तत्त्व समस्त अध्वाओं को व्याप्त कर अवस्थित होने के कारण व्यापिनी कहलाता है । इसमें पहुँचने पर पिपीलिका स्पर्श रूप सूक्ष्म स्पर्शानुभूति होती है । शक्ति की शान्ति का महाप्रभाव यहाँ तक पहुँचता है । यह स्पर्श प्रधान अनुभाव का क्षेत्र होता है । पिपीलिका में सम्बन्ध कारक का बहुवचन न रहना ईश्वर वाक् होने के कारण निर्दोष प्रयोग ही माना जाता है ।।३८४।।

इस तरह १–नाद संस्थान, २–शक्ति संस्थान और ३–व्यापिनी रूप स्थानत्रय भी पाँच पाँच कलाओं से समन्वित होते हैं । नाद में सदाशिव देव का अधिष्ठान है । इसकी कलायें निम्नलिखित हैं—१. इन्धिका, २.दीपिका, ३.रोचिका, ४.मोचिका और ५.ऊर्ध्वगा । इनका वर्णन इसी ग्रन्थ के पटल १० के श्लोक १२२६ में आया हुआ है ।

इति पञ्चैताश्च सर्वाः स्वावसरे निर्वक्ष्यामः ।

यत एवं ततः-

यत्र यत्र चरेत्प्राणस्तत्तद्रूपमवाप्नुयात् ।।३८५।।

प्राणो जीवस्तत्तदनुभवं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

तदनुभवाभ्यासप्रकर्षात् तु-

यत्र यत्रावतिष्ठेत तां तां गतिमवाप्नुयात् ।

तत्तदात्मैव भवतीत्यर्थः ।

एवं च-

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।' (स्व. ४-४३०)

इति वक्ष्यमाणमेतत्सर्वम्-

तस्माद्वै सुप्रयत्नेन भित्त्वा याति परां गतिम् ।।३८६।।

शोभनः प्रयत्नो दिव्यकरणधाराधिरोहरूपः ।।३८६।।

शक्ति और व्यापिनी में शिवाधिष्ठान शास्त्र द्वारा स्वीकृत है । इनकी कलायें भी क्रमशः इस प्रकार हैं—

१- शक्ति की कलायें—१.सूक्ष्मा, २.सुसूक्ष्मा, ३.अमृता, ४.अमिता और ५.व्यापिनी ।

२- व्यापिनी की कलायें—१.व्यापिनी, २.व्योम, ३.अनन्ता, ४.अनाथा और ५.अनाश्रिता । इन कलाओं का वर्णन भी इसी ग्रन्थ के पटल १० के श्लोक संख्या १२३९ और १२५० में आया हुआ है । यह पहले भी कहा जा चुका है कि, प्राणचार जहाँ भी होता है, जीव उसके अनुभव से अवश्य ही प्रभावित होता है ।।३८५।।

वह अर्थात् जीव जहाँ भी अवस्थित रहेगा, यह निश्चय है कि, उसी उसी अनुभवात्मक स्थिति को प्राप्त करता है । इसमें स्थान के अनुभव का प्रकर्ष ही कारण होता है । अतः उसी तादात्म्य को प्राप्त करना सरल हो जाता है । स्वच्छन्दतन्त्र के इसी पटल के श्लोक ४३० में कहा गया है कि, वरारोहे शिवे ! ''समना पर्यन्त शरीर भाव में अनन्त पाश राशि का जाल बिछा हुआ है ।'' अतः इन चक्रों का भेदन कर विश्वभाव को अतिक्रान्त कर लेना आवश्यक है । इस प्रक्रिया में अध्यवसाय पूर्वक लगकर वह स्थिति प्राप्त करनी चाहिये, जिससे परागति की उपलब्धि हो सके । यहाँ प्रयत्न का तात्पर्य दिव्य करण धारा के अधिरोह की उत्कर्ष प्रकर्ष प्रक्रिया को अपनाना मात्र ही है ।।३८६।।

अत्र क्रममाह–

भित्त्वा वै व्यापिनीं देवि समनायां मनस्त्यजेत् ।
मनसा तु मनस्त्यक्त्वा जीवः केवलतां व्रजेत् ।।३८७।।

मन इत्यविकल्पं चेतः । मनसेति स्पर्शपर्यन्तस्य मन्तव्यस्य क्षीणत्वाद् अविकल्पमननमात्ररूपेण चित्तेनैव[1] तादृशमेव च मन एकाग्रताप्रकर्षात् त्यक्त्वा वेद्याभासजिघृक्षासंकोचरूपं स्वं वेदनं प्रशमय्य जीव आत्मा केवलत्वमेति शुद्धो वेदितृमात्ररूपो भवतींत्यर्थः ।।३८७।।

एवं भेदनं च पदार्थानां भावप्राप्तिवशादित्युपक्रान्तं निर्वाह्य क्रमप्राप्तामात्मव्याप्तिमाह–

जीवो वै केवलस्तत्र आत्मज्ञानक्रियान्वितः ।
बन्धनाशेषनिर्मुक्तः सत्तामात्रस्वरूपकः ।।३८८।।
समस्ताध्वपदातीतः शुद्धविज्ञानकेवलः ।
गृहणाति नापरं भावं न परं च शिवात्मकम् ।।३८९।।

व्यापिनी का भेदन कर समना में अपने मन को डुबा देना चाहिये । मन से ही मन का परित्याग करने से जीव कैवल्य प्राप्त कर लेता है । यहाँ आचार्य क्षेमराज ने मन का अर्थ अविकल्प चेतस किया है । यह एक विचारणीय बिन्दु है ।

मन इन्द्रियार्थों में विचरण करता है । इन्द्रियार्थ वैकल्पिक होते हैं । रूप, रस, गन्ध और स्पर्श तक तो विकल्प भाव उच्छलित होते ही रहते हैं । इनको पार कर लेने पर अर्थात् उक्त विकल्पों के क्षीण हो जाने पर अविकल्पमय मनन योगियों के लिये सम्भव है । मन निर्विकल्प भाव भावित हो जाय और वही मन अपना परित्याग कर दे, यह एक विलक्षण निर्विकल्पात्मिका प्रकल्पना है । ऐसा योगी को करना पड़ता है । अथवा उक्त प्रकार के दिव्य करणात्मक ऊहापोहों में व्यापृत रहने पर इस प्रकार की सांस्कारिकता का उदय गुरुकृपा से भी सम्भव है ।

इस उच्च स्तर पर पहुँचने पर एक दिव्य एकाग्रता का महाभाव उत्पन्न होना योगी साधक के सौभाग्य का विषय है । वहाँ मन अपने आप विसर्जित हो जाता है । इसे ही आप मन से मन का परित्याग समझ सकते हैं ।

वेद्याभास के ग्रहण होने का भाव वहाँ संकुचित हो जाता है । स्वात्म संवेदन का प्रशमन हो जाता है । उस समय जीवात्मा केवलत्व को प्राप्त कर लेता है । शुद्ध अनुमन्ता प्रमाता भाव से भरित हो रहता है ।।३८७।।

---

१. ख.पु. चिन्तनेनेति पाठः ।

परापरविनिर्मुक्तः स्वात्मन्यात्मा व्यवस्थितः ।

यो जीवः प्राणनात्मा स तत्र समनोर्ध्वे यतः समस्तमध्वपदमतीतोऽत एवाशेषेण मलत्रयरूपेण बन्धेन निःशेषेण वासनापर्यन्तेन मुक्तस्ततश्च सत्तामात्रस्वरूपो भावाप्रति-योगिप्रकाशमात्रतत्त्वो य आत्मा आत्मीयाभ्यां स्वोचिताभ्यां ज्ञानक्रियाभ्यां न तु परमशिवसम्बन्धिनीभ्यां सामरस्यावस्थितिसतत्त्वाभ्यामन्वितो व्याप्तो न तु सांख्यादिमुक्त-रूपः । एष च मायोर्ध्ववर्त्याणवमलयुक्तविज्ञानकेवलवैलक्षण्यात् शुद्धो विशिष्टेन

पदार्थ भेदन की यह प्रक्रिया भाव प्राप्ति के प्राधान्य के कारण सम्भव होती है । यह सब भाव की दृढ़ता का ही चमत्कार है । इसी क्रम में आत्मव्याप्ति की चर्चा कर रहे हैं । उक्त रीति से समना में मन का परित्याग कर देने पर जीव केवलता को प्राप्त कर लेता है, यह सत्य तथ्य ऊपर घोषित किया जा चुका है । केवली भाव में जीव की क्या स्थिति रहती है, इस विषय में भगवान् कह रहे हैं कि, उस स्थिति में जीव आत्मज्ञान और आत्मक्रियाओं से ही अन्वित होता है ।

यह भी ध्यातव्य है कि, यह जीव भाव प्राणन व्यापार से ही समना और उसके ऊर्ध्व अवस्थान में पहुँचने में समर्थ होता है । समस्त अध्वाओं को अतिक्रान्त कर स्थित रहता है । अतः समस्त बन्धनों से भी विमुक्त हो जाता है । उसमें किसी प्रकार की वासना नहीं रह जाती । सत्तामात्र ही उसका 'स्व' रूप प्रकाशमान रहता है । यही अवस्था शुद्ध केवली की मानी जाती है ।

यह किसी अपर भाव का ग्रहण नहीं कर सकता है । यही नहीं यह पर शिवात्मक भाव की ओर भी अब आकृष्ट नहीं हो सकता । पर शिव सम्बन्धिनी क्रियाओं से भी उसका कुछ लेना देना शेष नहीं रहता । एक तरह का वह सामरस्य भाव ही है ।

सांख्य की दृष्टि से मुक्त का जो लक्षण है, उस दृष्टि से यह मुक्त भी नहीं कहा जा सकता । यह केवल स्थिति, माया शक्ति तत्त्व के ऊर्ध्ववर्त्ती, आणव मलयुक्त विज्ञान केवल से कुछ वैलक्षण्य लिये शुद्ध और विशिष्ट अशेषाध्व रूप वेद्य के वेदक भाव की ही मानी जा सकती है ।

इस स्थिति पर और विचार करते हुए आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि, माया के ऊर्ध्ववर्त्ती भाव केवल की अपेक्षा माया पुरुष विषयक ज्ञान की दृष्टि भी इस पर लागू नहीं होती । मन्त्र और मन्त्रेश्वर की तरह विज्ञेयत्व से भी यह केवली जीव सम्पृक्त नहीं होता ।

चाशेषाध्ववेद्यीकरणात्मना न तु मायापुंविषयक[1]रूपेण ज्ञानेन तेनैव च केवलो न तु मन्त्रमन्त्रेश्वरवद्विज्ञेयेनापि सम्पृक्तः, अत एवापरं शिवं सदाशिवरूपं स्वभावं न गृह्णाति । न च परं परमशिवरूपं स्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दघनम् । अतश्च अयं व्याख्यातपरापररूपाद् विनिर्मुक्तस्त्यक्ता[2]पररूपोऽपि अप्राप्तपरस्वभावः स्वात्मन्येव बोद्धृतामात्ररूपे व्यवस्थितः ।

न चैवात्र सन्तोषः कार्य इत्युपसंहारदिशा दिशन्नन्यदवतितारयिषुराह–

आत्मव्याप्तिर्भवेदेषा शिवव्याप्तिरतः परम् ।।३९०।।

बन्धनाशेषभावेन सर्वाध्वोपाधिवर्जिता ।

एषेति समनान्तस्थिता न तु[3] सांख्यपातञ्जलाद्युक्ता अस्यैव त्वात्मन उन्मनापदारोहेण चिदानन्दघनपरतत्त्वव्याप्तिरूपा शिवव्याप्तिर्यतः सा बन्धनानामाणवादीनां मलानामशेषभावेन–

इसलिये यह अपर शिव भाव अर्थात् सदाशिव भाव स्वभाव को भी नहीं ग्रहण करता । इसके अतिरिक्त यह परशिव स्वभाव का भी ग्रहण नहीं करता । ग्रहण कर लेने पर तो यह स्वच्छ स्वच्छन्दचिदानन्द घनत्व को ही उपलब्ध हो जाता । इसीलिये व्याख्यात परापर रूप से भी निर्मुक्त होता है । पर और अपर स्वभाव को भी नहीं प्राप्त करता । ऐसी स्थिति में यह स्वात्म में ही बोद्धाभाव मात्र को ही ग्रहण कर स्वात्म मात्र निष्ठ कहलाता है । यही आत्मव्याप्ति का भाव है । इसी को पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि, 'जीवो वै केवलः' । यहाँ वै अव्यय केवलत्व का ही निश्चायक है ।

भगवान् प्रस्तुत सन्दर्भ को आगे बढ़ाते हुए कह रहे हैं कि, आत्मव्याप्ति के अतिरिक्त शिवव्याप्ति की ओर भी ध्यान देना चाहिये । किसी दशा में साधना की उपेक्षा नहीं होनी चाहिये । या सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये । शिव व्याप्ति को आत्मव्याप्ति के सिद्ध कर लेने पर ही अपनाना उत्तम होता है ।।३९०।।

वस्तुतः आत्मव्याप्ति समनान्त ही अवस्थित होती है । इस विषय की चर्चा सांख्य योग और पातञ्जल योग शास्त्रों में भी आयी है । दोनों में बड़ा मतभेद है । साधक को इसी शास्त्र की बातों का स्मरण करना चाहिये । समना पद को अतिक्रान्त कर योगी उन्मना क्षेत्र में प्रवेश करता है । वह पद चिदानन्दघन परतत्त्व से व्याप्त होता है । अतः उस साधना को शिवव्याप्ति साधना कहते हैं ।

---

१. ग.पु. प्रविवेकरूपेति पाठः । २. ख.पु. व्यक्तेति पाठः ।
३. ख.पु. न त्वनन्तसांख्येति पाठः ।

'समनावधिपर्यन्तः कलङ्काधार उच्यते ।' (स्व. ७-२२७)

इति भाविनीत्या समनान्तेन प्रसरेण ये पूर्वोक्ताः सर्वेऽध्वरूपा उपाधयोऽवच्छेदकास्तै-र्विशेषेण समस्तबन्धनप्रशमसंस्कारात्मनापि वर्जिता शुद्धविज्ञानकेवलतायां समनान्त-समस्तबन्धनप्रशमेऽपि तन्निवृत्तिसंस्कारभावेनावच्छेद[1]कत्वात् सोपाधित्वम्, परमशिवता तु विश्वोत्तीर्णविश्वमयस्वतन्त्रचिदानन्दघनानवच्छिदैव ।

यत ईदृशी शिवव्याप्तिस्ततः

अविदित्वा परं तत्त्वं शिवत्वं कल्पितं तु यैः ।।३९१।।
त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं शिवम् ।

उस पद पर समस्त मलों का ध्वंस हो जाता है । आणव, कार्म और मायीय सभी मलों का अशेष रूप से ध्वंस हो जाने से निष्कल निर्मल भाव की व्याप्ति अनायास हो जाती है । यही शिव व्याप्ति कहलाती है । इसी ग्रन्थ के पटल सं० सात के श्लोक २२७ में यह कहा गया है कि,

''समना की सीमा तक ही समस्त कलङ्क अर्थात् मल आधृत हैं ।''

इस दृष्टि से समनान्त प्रसार में सभी अध्वरूप उपाधियाँ अवच्छेदक रूप से ही वहाँ विद्यमान रहती हैं ।

वहाँ पर बन्धनों के प्रशम के संस्कार का भी अभाव होता है । शुद्ध विज्ञान केवल की अवस्था में यद्यपि समना पर्यन्त के इन बन्धनों का प्रशमन रहता है, फिर भी मलों की निवृत्ति के संस्कार वहाँ अवच्छेदक रूप से ही पड़े रहते हैं । परिणामतः वहाँ सोपाधिता बनी रहती है । अर्थात् अध्वारूप उपाधियों का संस्कार अभी वहाँ अवच्छेदक बना रहता है । जहाँ तक परमशिवता की स्थिति का प्रश्न है, इसमें विश्वोत्तीर्णता और विश्वमयता में स्वतन्त्र चिदानन्दघनता की अनवच्छिन्न अवस्था का ही पूर्ण शाश्वत उल्लास होता है । ऐसा यह परमतत्त्व है । इस स्थिति को जाने बिना शिवत्व की प्रकल्पना ही असम्भव है ।।३९१।।

इसके विपरीत इस परतत्त्व को जाने बिना ही शिवत्त्व की प्रकल्पना करने का अर्थ शिवत्त्व से वास्तविक अनभिज्ञता ही है । ऐसे आत्मोपासक शैवमहाभाव में प्रवेश नहीं कर पाते और न ही परम तत्त्व रूप शिव की उपलब्धि ही कर पाते हैं ।

---

१. ख.पु. च्छेदवत्त्वादिति पाठः ।

यैरिति शैवपाशुपतलाकुलादिभिर्नानात्मवादिभिः शिवत्वं कल्पितमात्मनां व्यापकत्व-नित्यत्वामूर्तत्वचित्त्वस्त्रष्टृत्वाद्यनन्तधर्मसाम्ये शिवैकरूपाणामपि केनचित्कल्पना[1]मात्रेण निर्युक्तिकेन भिन्नशिवरूपत्वमुच्यते, ते सर्वे व्याख्यातव्याप्तिकात्मोपासकाः शैवेऽस्मिन्न-द्वयनये परं शिवं व्याख्यातस्वरूपं न गच्छन्ति, न तन्मयीभवन्ति, सांख्ययोगवेदान्त-वाद्यादयस्तु अपरपदस्था एवेति केन तेषामियत्पदप्राप्तिसम्भावनापि । अथ च सर्व एवात्मोपासकाः शैवेन पारमेश्वराद्वयदर्शनोक्तेन ज्ञानेन परं शिवं गच्छन्तीति तन्त्रेण सप्तमीतृतीये योज्ये । उक्तं च श्रीमृत्युजिति–

'ये वदन्ति न [2]चैवान्यं विन्दन्ति परमं शिवम् ।
त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं पदम् ।।' (ने. त. ८-३०)

इति, अत्र हि परमशिवमन्यं वदन्ति केवलं न चैव विन्दन्ति, न पुनः केनापि प्रमाणेन लभन्ते साधयितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः ।

भले ही वे शैव हों, पाशुपत हों, लाकुल हों या अन्य किसी रूप में आत्म-वाद की विधा के अनुसार शिवत्व की उपासना करते हों, आत्म तत्त्व की व्यापकता, नित्यता, अमूर्त्तता, चेतनता, सृष्टिकर्तृतादि अनन्त धर्मों के साम्य के आधार पर अपने को शैव घोषित करते हों तथा किसी अनिर्वचनीय प्रकल्पन के कारण निर्युक्तिक रूप से एक भिन्न शिवरूपत्व की बात करते हों, ये सभी पहले ही व्याख्यात व्याप्तिक आत्मतत्त्व के ही उपासक कहे जा सकते हैं, शुद्ध शिवतत्त्व के उपासक नहीं माने जा सकते ।

इस अद्वयनय रूप शैवसिद्धान्त में परमशिव का जो अनुभूत सत्य के आधार पर प्रतिपादन किया गया है, उस सिद्धान्त का वे स्पर्श भी नहीं कर पाते । वे स्वयं तन्मयतादात्म्य से वञ्चित रह जाते हैं । सांख्य, योग और यहाँ तक कि वेदान्त दर्शन भी पर शिव की अपेक्षा अपर शिवत्व के सन्दर्भ में ही दबे पड़े रह जाते हैं । ऐसी दशा में उनकी शिव पद की प्राप्ति का स्तर क्या हो सकता है ? यह एक सामान्य व्यक्ति भी सोच सकता है ।

एक दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है । आत्मा की उपासना में संलग्न सारे आत्मोपासक शिव के पारमेश्वर अद्वयवाद में उक्त ज्ञान के हो जाने पर परम शिव की उपलब्धि कर पाते हैं । यह तथ्य इसी श्लोक के शैवे+न की सप्तमी के स्थान शैवेन तृतीयान्त रूप के ग्रहण से व्यक्त हो जाती है । यह विभक्ति वैचित्र्य के चमत्कार की ही एक व्याकरणत्मिका शैली है ।

---

१. घ.पु. मात्ररूपेणेति पाठः । २. ख.पु. न चैतन्यमिति पाठः ।

ते तु सर्वे-

आत्मतत्त्वगतिं यान्ति आत्मतत्त्वानुरञ्जिताः ।।३९२।।

आत्मतत्त्वरूपतायां तत्त्वं परमशिवाभेदाख्यात्यात्मा संकोचः, तेन येऽनुरञ्जितास्तदाश्वस्ताः पाशुपताद्याः, त आत्मनो यत्तत्त्वं शुद्धविज्ञानकेवलतारूपं तद्गतिं लभन्ते, न तु तात्त्विकीं मुक्तिं भेदस्यापरित्यागादिति ।।३९२।।

मुक्तशिवसंसारं परिजिहीर्षुणा-

तस्मादात्मा परित्याज्यो यदीच्छेच्छिवमात्मनः ।

आत्मेति मुक्ताणुरूपता, शिवमिति मुक्तविकसितपरमशिवैकताम् । तदित्थम्-

आत्मतत्त्वं ततस्त्याज्यं विद्यातत्त्वे नियोजयेत् ।।३९३।।

आत्मानमिति शेषः ।।३९३।।

मृत्युजित् नामक शास्त्र में लिखा हुआ है कि, "बहुत से ऐसे लोग होते हैं, जो परमशिव को कुछ अन्य ही कहते हैं । वे उस केवल तत्त्व को नहीं जानते । परिणामतः ये आत्मोपासक किसी प्रमाण के माध्यम से भी परमशिव को साध नहीं सकते ।"

इस श्लोक में तृतीयान्त युक्ति से निष्पन्न अर्थ किया जा सकता है । यह निश्चय है कि, आत्मोपासक लोग आत्मतत्त्व की ही गति प्राप्त करने के ही अधिकारी हैं । यह ध्यातव्य है कि, आत्मतत्त्वरूपता में तत्त्व का परमशिव के अभेद की अख्यातिरूपता का सङ्कोच भरा हुआ रहता है । इसलिये सङ्कोचमय आत्मभाव में जो अनुरक्त रहने वाले लोग हैं, अथवा उतने से ही आश्वस्त हैं, वे पाशुपत आदि अधर श्रेणी के ही उपासक हो सकते हैं । वे आत्मतत्त्व रूप शुद्ध विज्ञान केवलता की गति पा सकते हैं । वे तात्त्विकी मुक्ति को नहीं उपलब्ध हो सकते । इसका एक मात्र कारण है-अभेद भाव का अभाव और भेद का अपरित्याग ।।३९२।।

भगवान् कहते हैं कि, इन तथ्यों का ध्यान रखकर भेद भाव से भरे संसार को जो परितः परित्याग का अभिलाषी है, उसे आत्मा का परित्याग कर देना चाहिये । सम्मुच मुक्त विकसित पर शिवैकात्म्य को चाहने वाले साधक को यह करना ही पड़ता है । इसी में श्रेयस् है । अतः आत्मतत्त्व सर्वथा परित्याज्य है । यह ध्रुवतः ध्यातव्य विषय है । इसका त्याग कर साधक क्या करे और स्वात्म को कहाँ विनियोजित करें ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, उसे स्वात्म को विद्यातत्त्व में विनियोजित करना चाहिये ।।३९३।।

कात्र विद्येत्याह–

उन्मना सा तु विज्ञेया

तां व्याचष्टे–

मनः सङ्कल्प उच्यते ।

सङ्कल्पः क्रमतो ज्ञानमुन्मनं युगपत्थितम् ।।३९४।।

सङ्कल्प इच्छा सा चेशितव्यविश्वक्रमासूत्रणात्मत्वात् क्रमतो ज्ञानमित्युक्तम् । उन्मनमुत्क्रान्तमुत्कर्षं च मनः प्राप्तं यत्र तदुन्मनम्, युगपदिति विश्वस्यासूत्रणावभासन-निर्माणाद्यनन्तशाखाशतभिन्नस्यापि अत्र नित्योदितानन्दघनस्वातन्त्र्यशक्त्याभासात्मत्वे-नावस्थानात् ।।३९४।।

यत ईदृगुन्मनं ज्ञानमेवोन्मनाशक्तिः–

तस्मात् सा तु परा विद्या

विद्यातत्त्व के विषय में प्रश्न उपस्थित होता है कि, इस तत्त्व का स्वरूप क्या है ? इसकी परिभाषा क्या है ? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि, यह विद्या उन्मना ही है । उन्मन शब्द में मन बैठा हुआ है । मन सङ्कल्पात्मक और विकल्पात्मक होता है । सङ्कल्प भी क्या है ? एक प्रकार की इच्छा ही सङ्कल्प कहलाती है । इसमें एषितव्य और ईशितव्य संसार के क्रम का आसूत्रण होता है । यह एक प्रकार का ज्ञान है । सांसारिक क्रमवत्ता की जानकारी है । इन सबसे उत्क्रान्त होता है मन जहाँ, वह स्थान ही उन्मन क्षेत्र है । इसमें मन विश्वक्रम को अतिक्रान्त कर उत्कर्ष को प्राप्त कर जाता है ।

यह उत्क्रान्त करना भी एक विलक्षण संवेदन में पहुँचने के समान है । यहाँ थोड़ी गहरायी में जाने की आवश्यकता है । विश का उन्मेष, उसके आसूत्रण क्रम का अवभास, उसकी निर्मिति का स्वरूप, उसमें अनन्तानन्त शाखा प्रशाखाओं का उत्सर्जन स्थूलावभास की तरह नहीं रह जाता । यह सब कुछ नित्योदित आनन्दघन स्वातन्त्र्य शक्ति के सूक्ष्म उल्लास की तरह उसी में स्पन्द और स्फुरत्ता की तरह युगपत् आभासित होने लगता है । मयूराण्डरस की अदृश्य रंग सज्जा का भी साक्षात्कार इस स्थिति में होता है । यह आभास ही चेतस् का उत्कर्ष है । यही उन्मना विद्या है । इसमें साधक स्वात्म का विनियोजन कर लेता है ।।३९४।।

इस प्रकार का उन्मन ज्ञान ही उन्मना शक्ति कहलाती है । इसीलिये इसे पराविद्या कहते हैं । मायान्तावधि आत्मतत्त्व और आत्मतत्त्व के भी ऊर्ध्व स्थित शुद्ध विद्याशक्ति पर्यन्त अध्वा में व्याप्ति के कारण उस शुद्ध विद्या के अतिरिक्त यह एक ज्ञानमयी दूसरी ही विद्या है ।

मायान्तावधिकात्मतत्त्वोर्ध्वस्थशुद्धविद्यादिशक्त्यन्ताध्वव्यापकाद्विद्यातत्त्वादियमन्यैव विद्या ।

यस्मादन्या न विद्यते ।

ईदृशीत्यर्थाद् एतयैव अशेषविश्वक्रोडीकारात् ।

तदाह–

विन्दते ह्यत्र युगपत्सार्वज्ञ्यादिगुणान् परान् ।।३९५।।

परानित्यभेदरूपान् सर्वज्ञत्वादीन् यतो युगपदत्रोन्मनायां योगिवरो लभते, तत इयं परा विद्या 'विद्लृ लाभे' इति धात्वर्थानुगमात् ।।३९५।।

किञ्च,

वेदनानादिधर्मस्य परमात्मत्वबोधना ।
वर्जनाऽपरमात्मत्वे तस्माद्विद्येति सोच्यते ।।३९६।।

चूँकि इसी विद्या के माध्यम से सम्पूर्ण विश्वात्मभाव को अन्तर्निहित कर लिया जाता है । अत: इसके समान कोई अन्य विद्या नहीं कही जा सकती । इसके समान मात्र यही विद्या है ।

यह अद्भुत विद्या है । योग युक्त साधक इस विद्या में अवस्थित रह कर सर्वज्ञता आदि जो भगवान् भैरव के परात्मक सर्वोत्कृष्ट गुण धर्म हैं, उनका भी एक साथ ही अनुभव कर लेता है । यहाँ एक बात विचारणीय है । विन्दते का लभते अर्थ क्या उचित है । लाभ किसी पदार्थ का होता है । यहाँ इस गुण का लाभ नहीं होता, वरन् साधक का ही रूपान्तरण होता है । इसके ज्ञान में इतनी स्वच्छता आ जाती है कि उसे सामने बोध प्रकाश की रश्मियाँ ही दीख पड़ती हैं । यह लाभ नहीं वरन् तादात्म्य की अनुभूति का चमत्कार है ।।३९५।।

इस श्लोक में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, विशेषत: विचारणीय हैं । जैसे–१.अनादिधर्म–भगवान् भैरव का नित्योदित शाश्वत धर्म ही अनादि धर्म कहलाता है । यह पाँच प्रकार का होता है । १.सर्वज्ञता, २.सर्वकर्तृता, ३.पूर्णता, ४.अकाल पुरुषता और ५.सर्वत्र व्यापकता । ये पाँचों अनादिधर्म हैं । ये सभी स्वातन्त्र्य गुण में अन्तर्भूत हो जाते हैं ।

२–दूसरा शब्द है–परमात्मत्त्वबोधना । परमात्म भाव का शाश्वत नित्योदित बोध । इसके न रहने पर दो प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं । १–बोध स्वातन्त्र्य की हानि और २–स्वातन्त्र्य की अबोधता । यह आणवमल की स्थिति है ।

अनादिधर्मः स्वातन्त्र्यशक्त्यात्मा स्वभावः, तस्य वेदना विचारणा, आत्मनश्च यत्परमात्वत्वं शिवरूपत्वमस्ति, तस्य बोधना अवगमहेतुः, अत एवापरमात्मत्वेऽत-द्विषये इयं वर्जना सम्पद्यते । तस्मात् 'विद विचारणे', 'विद ज्ञाने' इति धात्वर्थानु-गमादियं विद्योच्यते ।।३९६।।

एवञ्च–

तत्रस्थो व्यञ्जयेत्तेजः परं परमकारणम् ।
परस्मिंस्तेजसि व्यक्ते तत्रस्थः शिवतां व्रजेत् ।।३९७।।

तत्रेति उन्मनाख्यायां विद्यायां व्यञ्जयेदात्मीयमेवोन्मीलयेत् प्रत्यभिजानीयात् तेजः चिज्ज्योतिः परमसंकुचितं परमकारणं परमशिवरूपम्, अतश्च शिवतां व्रजेत् तदैकात्म्यमियात् ।।३९७।।

एतद् दृष्टान्तेनोपपादयति–

सुप्रदीप्ते यथा वह्नौ शिखा दृश्येत चाम्बरे ।
देहप्राणस्थितो ह्यात्मा तद्वल्लीयेत तत्पदे ।।३९८।।

एक ओर परमात्मत्वबोधना का शिखर और इसके विपरीत अज्ञान का गर्त्त । पर यह जगत् का वैचित्र्य ही है कि परमात्मत्वबोधना के बाद सब कुछ समाप्त हो जाता है । न शिखर न गर्त्त । परमबोधात्मक सामरस्य !

यही अपरमात्मत्व की वर्जना है । सब कुछ शिवात्मक ! यही इस विद्या का चमत्कार है । संस्कृत की विद् ज्ञाने और विद्विचारणे धातुओं में विद्या का सोमरस भरा हुआ है । यह उन्मना से विगलित होकर साधकों को अभिषिक्त कर देता है ।।३९६।।

इस उन्मना विद्या में विद्यमान परम तेज परात्मक परम कारण रूप तत्त्व को व्यक्त कर देता है । निमीलित स्वात्म तेज को उन्मीलित कर देता है । एक प्रकार का प्रत्यभिज्ञान साधक को हो जाता है । वह स्वात्मचिज्ज्योति का साक्षात्कार कर लेता है । परम कारण परमात्मा कभी भी संकुचित नहीं होता । अतः परात्मक माना जाता है । प्रत्यभिज्ञान होते ही अर्थात् स्वात्म तेज के व्यक्त होते ही साधक शिवता को उपलब्ध हो जाता है अर्थात् तादात्म्य रस रूप हो जाता है ।।३९७।।

इस तथ्य को दृष्टान्त द्वारा बल प्रदान कर रहे हैं । भगवान् कह रहे हैं कि, अग्नि की शिखा जब प्रज्वलित होकर सुप्रदीप्त हो जाती है, तो वह अग्नि में संकुचित होकर नहीं रहती, अम्बर को अपनी दीप्ति से दीप्तिमन्त कर देती हैं । उसी तरह देहप्राण स्थित आत्मा सुप्रदीप्त होकर अपने परमपद में लीन हो जाता है ।

देहमन्त्रप्राणात्मशिवपदानामौचित्यात् काष्ठारणिवह्नितच्छिखाम्बराणि दृष्टान्तः । तेनारणिमन्थनयुक्त्या सुप्रदीप्ते प्रज्वलिते वह्नौ सति यथा शिखा ज्वाला दाह्यं दग्ध्वाम्बरे दृश्यते, तत्र लयात् तदात्मभावं प्राप्तावलोक्यते, तद्वद्दिव्यकरणमन्त्रारणिसमुत्तेजनेन देहे यः प्राणस्तस्मिन् सुप्रदीप्ते मध्योर्ध्ववाह्युदानाग्नितामायाति देहे स्थितो य आत्मा प्रोक्तशुद्धविज्ञानकेवलरूपो वह्निशिखातुल्यः समनान्तं समस्तं देहदारुं दग्ध्वा तस्मिन्पदे लीयते निरुपाधिपरमशिवैकात्म्यमेत्येवेत्यर्थः ॥३९८॥

इस दृष्टान्त पर थोड़ा और विचार करने की अपेक्षा है । देह, मन्त्र, प्राण, आत्मा और शिव के साथ काष्ठा (दिग्) अथवा काष्ठ (लकड़ी) रूपी अरणि, अग्नि उसकी शिखा और अम्बर इन सबके औपम्य में यह दृष्टान्त घटित होता है । यज्ञ में अग्नि नारायण को प्रत्यक्ष प्रकट करने के लिये काष्ठ की अरणि की आवश्यकता पड़ती है । अरणि का वेदमन्त्रों के साथ मन्थन करते हैं । आग जल उठती है । फिर दीप्त होकर लपलपाने लगती है । उसकी शिखा समिधाओं को जला डालती है । अपने स्वयं उठती है और अम्बर में समा जाती है । एक तरह से प्रमाता वह्नि में ही आत्मसात् हो जाती है ।

इसको देह भाव में घटित करना है । देह में दिव्यकरण द्वारा मन्त्रों के साथ आत्ममन्थन से प्राण सूर्य की आग प्रज्वलित हो जाती है । परिणामतः प्राणवाह उदीप्त हो उठता है । यह उदान वायु द्वारा उदीप्त होकर आत्मा की शिखा को प्रदीप्त करता है । आत्मा की शुद्ध विज्ञानकेवलरूपता समनान्त अम्बर की ओर ऊर्ध्व उदीप्त होती हुई लपलपाती है । पूरी देह समिधा एक प्रकार से दग्ध हो जाती है । और आत्मशिखा परमशिवात्मक निरुपाधि शिवैकात्मता में समाहित हो जाती है । योग युक्त साधक की साधना का यह एक सुन्दर चित्र है ॥३९८॥

देशिकोत्तम साधक शिरोमणि अम्बर में अग्निशिखा की तरह परम पद में स्वात्म को समाहित कर उस अभिमान से भर जाता है । यह अभिमान कोई जागतिक गर्त्त का गीला गर्व नहीं होता, वरन् पूर्णाहंता परामर्श से पूर्ण हो जाता है । यह अभिमर्श आवश्यक है । यह कर्त्तव्य है । पाशव शरीरांहकार से बचते हुए शैवाभिमर्श में ही सर्वथा समाहित हो जाना ही जीवन का लक्ष्य है ॥३९८॥

इत्थमुक्तयुक्त्या परतत्त्वलीने–

तद्वदेवाभिमानस्तु कर्तव्यो देशिकोत्तमैः ।

तद्वत्परमपदवदभिमानः पूर्णाहंविमर्शः कर्तव्यः स्वीकार्यो न तु पाशवे शरीराद्यहं-भावे वर्तितव्यमेतदर्थमेवोत्तमपदम् ।

तमभिमानं स्फुटयति–

अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम् ।।३९९।।

एतत्पूर्वव्याख्याभिर्गतार्थम् ।।३९९।।

अतश्च–

मत्प्राणे स तु पश्वात्मा लीनः समरसीगतः ।

एवंविधस्य मम प्राणे प्रोक्तषडध्वव्याप्तिमये ।

तं पूर्वोक्तयुक्त्या समरसीकृतम्–

मन्त्रकरणक्रियायोगाद्योजयामि परे शिवे ।।४००।।

मन्त्रो निष्कलः, करणं दिव्यम्, क्रियायोगो द्वाररोधोर्ध्ववाहाधरपदत्यागग्रन्थि-भेदनाद्यात्मा ।।४००।।

न चैतद्वचनमात्रेण घटते; अपि तु–

एवं यो वेत्ति तत्त्वेन अग्निवद्देहमध्यतः ।
यद्वद्वह्निशिखातीता तद्वद्योजयते परे ।।४०१।।

इसका एक बड़ा सुन्दर क्रम होना चाहिये । देशिकोत्तम सोचे कि, मेरे प्राण में वह पश्वात्मा जो सङ्कोच से संकुचित स्वात्म विस्मरण से संसार का वरण कर चुका था, वह समरस भाव से भावित होकर परमात्म में लीन हो गया है । उसको मन्त्र (निष्कल), दिव्यकरण और क्रियायोग से मैं परमपद में समायोतित कर रहा हूँ । इस सङ्कल्प से ही मन उन्मन भाव में अवस्थित हो जाता है । इसी अवस्था में यह नित्योदित अभिमर्श अस्तित्व को पुलकित करता रहता है कि, मैं ही परमहंस हूँ । मैं परमकारण शिव हूँ । सोऽहमस्मि की अखण्ड वृत्ति शाश्वत उद्दीप्त रहती है । यही साधना का साफल्य है ।।३९९-४००।।

यह मात्र कहने की ही कोई बात नहीं है । यह वास्तव में शरीर में घटने वाली वह घटना है, जिससे जीवन का स्वरूप ही बदल जाता है । जो साधक तात्विक रूप से इसे जान लेता है, उसके शरीर के केन्द्र से एक वैद्युतिक दिव्य ऊर्जा का प्रज्वाल उच्छलित होने लगता है । जैसे काष्ठ की अग्नि की शिखा अम्बर के परान्तराल में समाहित हो जाती है, उसी तरह इस साधक की वह ज्वालामयी उद्दीप्त ऊर्जा परात्मक परम शिव में अनवरत मिल रही होती है, ऐसा अनुभव होता है ।

तत्त्वेनानुभव[1]रूढ्या य एवमिति शिवाभेदं वेत्ति स इन्धनकल्पस्य देहस्य मध्येऽग्निवत्पाशानुत्प्लोषयति दीप्तभास्वज्ज्योतिर्मात्ररूपतया[2] स्थितः शिष्यात्मानं परे शिवे योजयते तदैकात्म्यमासादयति । कथम् ? वह्निशिखा अतिशयेन इता व्योम्नि लीना तदैक्यमाप्ता [3]यद्वत् ॥४०१॥

अतश्च–

[4]तस्मिन्युक्तः परे तत्त्वे सार्वज्ञ्यादिगुणान्वितः ।
शिव एको भवेद्देवि अविभागेन सर्वतः ॥४०२॥

युक्त इति योग ऐक्यम् । यथोक्तम्–

'योगमेकत्वमिच्छन्ति.............।' (मा.वि. ४-४)

इति । एक इत्यविभागेन, सर्वत इत्यनेन चाभिन्नशिववादस्य वास्तवत्वं ध्वनति । सर्वज्ञत्वादिकमिहाभेदसारं मन्तव्यं न तु मन्त्रादिवद्भेदविषयम् ॥४०२॥

यह तात्त्विक अनुभवात्मक रूढ़ि मानी जाती है । इसी के माध्यम से वह शिवाद्वयवाद के शिखर पर पहुँच जाता है । शरीर की समिधा दूसरे के लिये तो ज्यों की त्यों दीख पड़ती है । वहीं साधक की शरीर समिधा से वह आग निकलती है, जो उसकी पाशराशि को भस्म करती ही है, आभा से भासमान भैरव के महाभाव में समा भी जाती है । यह साधक शिष्य का परभाव में समायोजन है । यह तादात्म्य बोध की दशा है । जैसे अग्नि शिखा अम्बर में विलीन हो जाती है ॥४०१॥

अतः उस परतत्त्व में नित्य युक्त साधक सर्वज्ञता आदि गुणों से गौरवान्वित हो जाता है । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि शिवे ! सावत्रिक सार्वात्म्य के साथ ही साथ वह अविभाग रूपतामय अद्वय महाभाव से भावित होने के कारण साक्षात् शिव ही जो जाता है । यह उसके योग युक्त होने का सुफल है । यही उसके योग का परमसुख है । मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में ४/४ में कहा गया है कि, "योग वही है, जो एकत्व का साधक है । यहाँ अविभाग भाव से एकत्व की बात वास्तविक शैव सिद्धान्त के रहस्य की ओर ही सङ्केत करती है ॥४०२॥

---

१. ख.ग.पु. निरूढ्येति पाठः । २. ख.पु. तायामिति पाठः ।
३. ख.पु. तद्वदिति पाठः । ४. ख.पु. अस्मिन्निति पाठः ।

भावित्रितत्त्वदीक्षायाम्–

'ज्ञात्वा तत्त्वे नियोजयेत् ।' (स्व. ४-४०४)

इति यद्वक्ष्यति तत्राप्येतदेव [१]मन्तव्यमित्याह–

तत्त्वत्रयं परं ख्यातमपरं चाध्वमध्यगम् ।
भेदनं तु पदार्थानां त्यागानुभवयोजनम् ।।४०३।।
पूर्वोक्तं च इदं सर्वं ज्ञात्वा तत्त्वे नियोजयेत् ।

परं शुद्धा[२]त्मोन्मनापरशिवरूपं यत्तत्त्वत्रयं प्रकाशितम्, यच्चापरं स्थूलम् अध्वमध्यगमिति पञ्चमपटलभावितत्त्वभुवनाध्व[३]दीक्षामध्ये मायासदाशिवशिवान्त-व्याप्त्या आत्मविद्याशिवाख्यं तत्त्वत्रयं पूर्वं प्रायश्चित्तशुद्धावपि निर्णीतमेतत् त्रितत्त्वदीक्षायां प्रधानरूपम्, तथा पूर्वोक्तं भेदनादि चकाराच्चारं प्रमाणादिकं च ज्ञात्वा एतज्ज्ञानप्राधान्येनैव तत्त्वे परस्मिन् योजयेत् शिष्यमित्यर्थः । एतच्च दीक्षान्तरविषयमपीति मन्तव्यम् ।।४०३।।

इस शास्त्र में त्रितत्त्व दीक्षा का एक स्वतन्त्र महत्त्व है । गुरुदेव इस दीक्षा के द्वारा परतत्त्व में शिष्य को नियोजित करें, यह स्पष्ट विधि रूप निर्देश है । तत्त्वत्रय की चर्चा कई अवसरों पर प्रसङ्गानुसार इस शास्त्र में की गयी है । ध्यान से सुनें, तो अभी कुछ पहले आत्मतत्त्व, उन्मना और परमकारण रूप शिव इ. तीनों की चर्चा तत्त्वत्रय रूप में ही है । आत्मतत्त्व को त्याग कर विद्यातत्त्व में नियोजन (श्लो० ३९३-३९७ तक) और शिवता में समाहित होने की बात वहाँ आयी है ।

इसी तरह पञ्चम पटल में भी भुवनाध्व दीक्षा के सन्दर्भ में माया, सदाशिव और शिव पद की चर्चा है । ये पदार्थ भेदन, प्राणवाह और प्रमाण आदि के विचार त्रितत्त्ववाद के ही पोषक हैं । ये सारे वर्णन इस तथ्य को ही उजागर करते हैं कि, ज्ञान की प्रधानता के ही आधार पर गुरु शिष्य की परशिव में समायोजन प्रक्रिया पूरी करता है । अन्यान्य दीक्षा सन्दर्भों में भी इसका उपयोग किया जाता है ।।४०३।।

---

१. ख.पु. अनुमन्तव्यमिति पाठः ।
२. ख.ग.पु. त्वोन्मेति पाठः ।
३. ग.पु. भुवनादीति पाठः ।

अथेह परतत्त्वस्वरूपं निश्चिन्वन् भाविचतुर्भेदतत्त्वदीक्षामध्ये असंगृहीतामपि एक-तत्त्वदीक्षां प्रसङ्गेन सूचयितुमाह–

संक्षेपेण तु तत्त्वस्य व्याप्तिं शृणु सुरेश्वरि ।।४०४।।

सुराणां ब्रह्मादिशिवान्तानां कारणानामीश्वरि परस्वातन्त्र्यशक्तिरूपे ।।४०४।।

विद्यातत्त्वास्पदं बद्ध्वा बिन्दुतत्त्वासने स्थितः ।
नादशक्तितनुश्चैव व्यापिनीकरणान्वितः[1] ।।४०५।।

विद्यातत्त्वे शुद्धविद्यायां प्रोक्तकरणावष्टम्भलभ्यमध्यविकासेनास्पदमवस्थितिं बद्ध्वा,अथ च विद्याया मातृकायास्तत्त्वे मूलमन्त्रे वा स्थितिं बद्ध्वा तदुच्चारावहितो भूत्वा, मान्त्रे बिन्दुतत्त्वे अभिन्नवेद्यज्योतीरूपेऽशेषविश्वविश्रान्तिस्थानत्वादासने स्थितोऽधि-

---

इतने वैचारिक ऊहापोह और विमर्श अवमर्श के उपरान्त इतना तो निर्धारित हो सका है कि, परतत्त्व का स्वरूप क्या है ? कैसे उससे तादात्म्य को उपलब्ध हुआ जाता है, आदि । इसी क्रम में दीक्षा की कई विधियों की बात आयी । त्रितत्त्व दीक्षा, चतुर्भेद तत्त्व दीक्षा आदि । चतुर्भेद दीक्षा में असंगृहीत होते हुए भी एकतत्त्व दीक्षा की प्रासंगिकता विचारणीय है, यह मान कर भगवान् भैरव यहाँ पुनः शिवा को सम्बोधित कर यह प्रकट करना चाहते हैं कि, ये जितनी भी दीक्षायें हैं, इनका महत्त्व यद्यपि अपनी जगह बहुत उपयोगी है, फिर भी यह ध्यान अवश्य देना चाहिये कि, सर्वात्मताभास से अशेष को भर देने वाली समस्त तत्त्वाध्वाओं में प्रकर्ष प्राप्त कोई एकतत्त्व व्याप्ति है । वही उपयोगिता की दृष्टि से दीक्षितव्य है । हे सुरेश्वरि ! मैं उसे उसकी पूरी व्याप्तिमयी व्याख्या के साथ तुम्हें सुनाना चाहता हूँ । ध्यान से सुनो ।।४०४।।

विद्यातत्त्व रूप शुद्धविद्या में योग युक्त साधक करणों का नियन्त्रण कर अपनी स्थिति प्राप्त करता है । उस स्थिति में अवधान प्राप्त करना ही अपने को उससे सम्बद्ध करना है । इसके लिये विद्यातत्त्वास्पद होना भी आवश्यक है । यह विद्या शब्द भी, मातृका अर्थ में, उन्मना अर्थ में और शुद्ध विद्या अर्थ में प्रयुक्त होता है । मूल मन्त्र को भी विद्या कहते हैं । वास्तव में साधक इन सबको अपने अवधान के बल पर साध लेता है । इन सबका आस्पद होता और है अवधान पूर्वक सबसे सम्बद्ध हो जाता है । सम्बद्ध होकर भी सबको बाँध लेता है । वस्तुतः यह वर्णन आज्ञा चक्र की शक्ति रूप शुद्ध विद्या, पुनः उसके अ, उ, म रूप वर्ण बीज विद्या में अवधान से सम्बन्धित है ।

---

१. ख.पु. आश्रित इति पाठः ।

रूढः, नादो विमर्शमात्ररूपो ह्लादानुभवात्मकः शक्त्यन्तस्तनुः शरीरं यस्य व्यापिनी शक्त्यन्ताध्वव्यापिका करणमान्तरमुपलब्धिसाधनं यस्य गुरोः स सर्वं ज्ञात्वा तत्त्वे नियोजयेदिति पूर्वोक्तेन सम्बन्धः ॥४०५॥

अस्य करणरूपा या व्यापिनी–

सर्वज्ञत्वावबोधेन समना

सैवेत्यर्थः ।

अन्तश्चरा तु सा ।

सैवास्यान्तःकरणमित्यर्थः ।

एवमीदृशे तत्त्वासने शरीरान्तर्बहिष्करणस्यास्य–

त्रितत्त्वं यत्परं प्रोक्तं तेन चापूरिता तनुः ।।४०६।।

परादिशक्तित्रयमयेन[१] आत्मकल्पेनेत्यर्थः ॥४०६॥

इसी के बाद बिन्दु के आसन पर उपलब्ध हुआ जा सकता है । बिन्दु अभिन्न वेद्य ज्योति रूप ही होता है । उसको आसन कहने का कारण यह है कि, वह सम्पूर्ण विश्व की विश्रान्ति का स्थान है । उसी आसन पर साधक स्वात्म को भी अवस्थित कर लेता है । बैठता तो है, बिन्दु के आसन पर, किन्तु वह अपने स्वात्म का विस्तार कर नाद रूप विमर्शात्मक शरीर से शक्ति की सीमा का स्पर्श कर व्याप्त हो जाता है । यह स्मरण रखने की बात है कि, बिन्दु और नाद के बीच में अर्धचन्द और रोधिनी का बिन्दु के ही अङ्ग होने के कारण यहाँ उनकी चर्चा नहीं की गयी है ।

ऐसा सिद्ध साधक शक्ति को भी व्याप्त करने वाली व्यापिका को ही अपना करण बना लेता है । करण साधन को कहते हैं । आन्तर उपलब्धि की साधन व्यापिनी ही बन जाती है । श्लोक ४०४ में जिस तत्त्व व्याप्ति की चर्चा भगवान् भैरव ने की है, उसकी साधिका व्यापिनी ही बन जाती है । वह सर्वाध्वव्याप्त परमेश्वरवत् साक्षात् शिव हो जाता है ॥४०५॥

यह साधना का सुकर साफल्य है कि, उस आचार्य साधक की करण रूपा व्यापिनी समना बन जाती है । क्योंकि सर्वाध्वव्याप्ति के कारण सर्वज्ञत्वावबोध की दशा का वह साक्षी हो जाता है । समना ही उसकी अन्तश्चरा बन कर अन्तः करण का काम करती है । इस प्रकार तत्त्वासन पर ही विराज़मान वह सिद्ध साधक अन्तःकरण और बहिष्करणों का समान अधिकारी के रूप समस्त प्रस्तुत त्रितत्त्व को भी आत्मसात् कर विश्व शरीर अर्थात् परादिशक्तित्रितय भाव से प्रतिष्ठा प्राप्त कर साक्षात् शिव हो जाता है ॥४०६॥

---

१. ख.पु. कल्पेनेति पाठः ।

एतच्च त्रितत्त्वं[1] यस्मादध्वातीतं समनान्तमतिक्रम्य स्थितं तस्मात्परं तत्त्वम्, यत्तु मायासदाशिवशिवव्याप्त्या तदपरं यस्मादध्वमध्यगम्, अत एवापरेणात्मादितत्त्व-त्रयेण धरादेः शिवान्तस्यान्तःकृतत्वात् तदारब्धा–

अपरा सा तनुः स्थूला षट्त्रिंशत्तत्त्वकल्पिता ।

इयं पुनः–

तत्त्वत्रयं परं यच्च सर्वतत्त्वाध्ववर्जितम् ।।४०७।।
तेन चापूरिताशेषं सा तत्त्वाध्वपरा तनुः ।

समस्ताध्वातिक्रान्तं यत् [2]शुद्धात्मादितत्त्वत्रयं तेनोक्तसमत्वेनाशेषं कृत्वा आपूरिता सर्वात्मताभासनेन व्याप्ता या प्रक्रान्ता नादशक्त्यात्मा तनुः, सा तत्त्वाध्वनः सकाशात्परा प्रकृष्टा ।।४०७।।

साधना के इन महत्त्वपूर्ण सोपानों में कई ऐसी बारीकियाँ हैं, जिन्हें हल्केपन से नहीं लेना चाहिये । अब पूर्वोक्त त्रितत्त्व पर विचार करें तो पहली बात सामने आती है, वह है कि, १–ये तीनों अध्वातीत हैं । २–समनान्त को अति-क्रान्त कर इन तीन बिन्दुओं की जानकारी हो जाती है ।

एक दूसरी दृष्टि से जब सोचते हैं, तो माया, सदाशिव और शिव की व्याप्ति के ध्यान आने पर यह प्रतीत होता है कि, यह स्तर अपर अर्थात् अध्वमध्य में गतिशील अध्वमध्यम तत्त्व अपर तत्त्व है । धरा से लेकर शिवतत्त्व पर्यन्त सारा अध्ववर्ग इसी में अन्तर्भूत है । इसी के विषय में भगवान् कह रहे हैं कि, वह भगवान् का अपर रूप शरीर ३६ तत्त्वात्मक है और परतत्त्व सर्वतत्त्वाध्ववर्जित है । अर्थात् समस्त अध्वावर्ग को अतिक्रान्त कर अवस्थित है । सर्व को सार्वात्म्य भाव से आपूरित करता है । इसीलिये यह भगवान् का परस्वरूप है । इसी क्रम में हमने नाद शक्त्यात्मक शरीर का भी अनुभव किया है । यह शरीर किस स्तर का है ? इसका उत्तर स्पष्ट है । यह तत्त्वाध्वा को अतिक्रान्त कर अवस्थित प्रतीत होता है । अतः निश्चय पूर्वक यह कहा जा सकता है कि, तत्त्वाध्वा से यह प्रकृष्ट शरीर है ।।४०७।।

---

१. ख.पु. त्रितयमिति पाठः ।
२. ख.पु. शुद्धविद्यादीति पाठः ।

एवमीदृक्शिवाभेदविमर्शमय एव यथार्थ आचार्यो भवतीत्याह–

एवमाचरते यस्तु आचारं तु शिवात्मकम् ।।४०८।।

शिवेन सहचारित्वादाचार्यस्तेन चोच्यते ।

आचारः प्रोक्तस्फारानुप्रवेशः । सहचारित्वं तदभेदविमर्शपरमार्थम् ।।४०८।।

अस्य माहात्म्यमाह–

तस्य दर्शनसम्भाषास्पर्शनात्स्मरणादपि ।।४०९।।

भवत्येवैश्वरी व्याप्तिर्न भवेत्तदधोगतिः ।

यतोऽस्य करणानि प्रोक्तव्यापिनीसमनाव्याप्तिमयानि ततस्तत्सङ्गादीश्वरस्य शिवतत्त्वस्य व्याप्तिर्भवत्येव देहान्ते, न तु शिवादधः प्रवृत्तिः कदाचिदपि, योऽपि तं तथारूपं भक्त्या पश्यति सोऽप्येवम्, तेन तस्येति कर्तरि कर्मणि च षष्ठी ।।४०९।।

इस प्रकार शिवाभेद विमर्शमय सिद्धयोग युक्त साधक ही आचार्य कहा जा सकता है । यही भगवान् कह रहे हैं–उनका कहना है कि, इस प्रकार का अपने जीवन में जो शिवात्मक आचार आचरित करता है तथा मानो शिव का सहचारी ही बन कर रह रहा है, वही सही अर्थों में आचार्य कहलाने का अधिकारी है । इस विद्या में आचार्य उसे ही कहते हैं, जिसके द्वारा शैवप्रस्फार में अनुप्रवेश हो जाता है । सहचारिता भी तदभेद विमर्श भाव में रह कर सारे व्यवहार को चलाना है । अभेद विमर्श की पारमार्थिकता में ही आचार्य साँस लेता है ।।४०८।।

ऐसे पुरुष के दर्शन, सम्भाषण, स्पर्श अथवा स्मृति मात्र से भी दूसरे पुरुष में ऐश्वरी व्याप्ति का प्रभाव परिलक्षित होने लगता है । इस स्तर से वह कभी नीचे नहीं गिरता । इसका कारण यह है, ऐसे आदर्श के कारण से पुरुष व्यापिनी और समना में आमसात् रहते हैं । इसलिये उनके सङ्ग से शिवव्याप्ति और शिवतत्त्व की प्राप्ति अवश्य होती है । ऐसी स्थिति में उनमें सांसारिक प्रवृत्तियों का उदय कभी हो ही नहीं सकता । भक्ति और श्रद्धा पूर्वक जो भी उसके साथ शैव समयानुकूल व्यवहार करेगा, वह भी शैवाभिमर्श से स्वभावतः विमृष्ट होगा । यहाँ तस्य में कर्त्ता और कर्म दोनों दृष्टियों से षष्ठी का प्रयोग सार्थक है ।।४०९।।

यस्तु अनुत्तरशक्तिपातवशात्–

तेन संयोजितो जन्तुः

सः–

ब्रह्महापि शिवो भवेत् ।।४१०।।

परमशिव एव ।।४१०।।

तदेवं भवति–

ततस्तेन समो नास्ति जगत्यस्मिंश्चराचरे ।

तेन शिवैकात्मनाचार्येण कः समः, [१]तस्यैकत्वात् ।

अतश्च–

शिव आचार्यरूपेण लोकानुग्रहकारकः ।।४११।।

अनुजिघृक्षापरो हि परमशिव आचार्यदेहमास्थाय पशूनां पाशान्नि- कृन्तति ।।४११।।

यत एवम्–

तस्मान्न मानवीं बुद्धिं कारयेद्देशकं प्रति ।

दिशत्युपदेशमिति देशकः, उपदेष्टा, तस्मिन् दौरात्म्यान्मानवीं बुद्धिं कुर्वन्तं निवर्तयेदित्यर्थः ।

जो भी अनुत्तर शक्तिपात के प्रभाव से उससे किसी प्रकार के संयोजन सम्पर्क को प्राप्त करता है, वह पुरुष ब्रह्मवध के पाप से भले ग्रस्त हो, प्रायश्चित्त के बिना भी वह शिवस्वरूप हो जाता है ।।४१०।।

इससे यह सिद्ध होता है कि, उस शिव स्वरूप आचार्य के समान इस चराचर जगत् में कोई दूसरा इतना महत्त्वपूर्ण व्यक्ति नहीं है । अतः आचार्य रूप शिव अपने अस्तित्व से ही विश्व के ऊपर अनुग्रह करता है । इसीलिये उसे लोक पर अनुग्रह कारक के रूप में ही देखते हैं । यह कहा जा सकता है कि, लोक पर अनुग्रह करने की आकाङ्क्षा से स्वयं शिव आचार्य के रूप में पशुजनों के पाश का निरन्तर निकृन्तन कर रहे हैं ।।४११।।

इसलिये ऐसे देशिक शिरोमणि में मानव बुद्धि नहीं करनी चाहिये । देशक शब्द भी उपदेश करने वाले अर्थ में प्रयुक्त है । वह उपदेश के द्वारा ही लोकानुग्रह चरितार्थ करता रहता है । ऐसे लोगों में दुर्भाव से कोई मानव भाव की बात करे तो, उसे भी रोकना चाहिये । ऐसे लोग देश और जाति के लिये महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं ।

---

१. ख.पु. शिष्यस्यैकत्वादिति पाठः ।

यतो येऽप्येते मायोर्ध्ववर्तिनोऽनन्तभट्टारकाद्यास्तेऽपि–

आचार्यस्य च मन्त्रस्य शिवज्ञाने शिवस्य च ।।४१२।।

नानात्वं नैव कुर्वन्ति विद्येशाश्चक्रनायकाः ।

चक्रस्य विद्याग्रामस्य नायकाः प्रभवः स्वस्वरूपज्ञापकाश्च, [१]शिवज्ञाने पारमेशे शास्त्रे आचार्यस्योपदेष्टुर्मन्त्रस्य शिववाचिनो निष्कलादेस्तद्वाच्यस्य च शिवस्य भेदं न कुर्वन्ति, नैतद्भिन्नं पश्यन्तीत्यर्थः । आचार्यादेव शिवशास्त्रमन्त्रशिवानामवगमात् । यत्र च विद्येश्वरा अप्येवमभेदं मन्यन्ते, तत्र तदनुगृहीतैः कथं भेदधीः कार्या ? एवञ्च ये आचार्यशिवमन्त्रानैक्येन जानन्ति, ते विद्येश्वरा इति मन्त्रेश्वरस्फारमेव विशन्ति ।।४१२।।

युक्तं चैतत्, यतः–

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वै वीरवन्दिते ।।४१३।।

आचार्यत्वे नियुक्ता ये ते सर्वे तु शिवाः स्मृताः ।

शिवाचार्य एव हि आचार्यो युक्तः ।।४१३।।

यहाँ तक अध्यात्म जगत् के भी अदृश्य शक्तिमन्त तत्त्व, जो माया के स्तर से भी ऊर्ध्ववर्त्ती अनन्त भट्टारक आदि हैं, वे भी आचार्य के मन्त्रों में और निष्कलादि मन्त्र के वाच्य शिव में अन्तर नहीं करते । विद्येश्वर आदि ये तत्त्व चक्रनायक कहलाते हैं । क्योंकि ये स्वरूप ज्ञापक प्रभु माने जाते हैं । शिवज्ञान के रूप में प्रसिद्ध पारमेश्वर शास्त्र में इस प्रकार की भेदवादी कल्पना शास्त्र के विपरीत है । आचार्य ही शिवमन्त्र, शिव नाम आदि का निर्वचन और प्रवचन करते हैं । इसलिये इन शक्तिमन्तों से अनुगृहीत शैवों के प्रति दौरात्म्य कभी भी प्रदर्शित नहीं करना चाहिये । जो आचार्य, मन्त्र, शिव और शिवज्ञान के ऐक्यविज्ञान विज्ञ लोग हैं, वे भी मन्त्रेश्वर स्फार में अनुप्रवेश प्राप्त करते हैं ।।४१२।।

भगवान् कहते हैं कि, वीरों के द्वारा वन्दनीय ! शिवे ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी यदि आचार्य स्तर की साधना में सिद्ध होकर यदि आचार्य पद पर नियुक्त हो गया हो, तो वह साक्षात् शिव ही माना जाता है । शास्त्र का सिद्धान्त है और इस अद्वय सम्प्रदाय की यह मान्यता है । वही शिवाचार्य है, जो जातिवाद के पाश को प्लुष्ट कर इस स्तर पर पहुँच गया है ।।४१३।।

---

१. ख.पु. शैवे इति पाठः ।

ये तु आचार्यमित्थं न मन्यन्ते, ते प्रत्यवायिन इत्याह–

अन्यथा प्राक्स्वरूपेण ये पश्यन्ति नराधमाः ।।४१४।।

नरके ते प्रपच्यन्ते[1] सादाख्यं वत्सरत्रयम् ।

अधमत्वं गृहीतदीक्षाणामपि गुरुद्वेषेण विलयशक्त्याघ्रातत्वात् । सादाख्यवत्सर-मानमेकादशे पटले भविष्यति ।।४१४।।

पातकिसङ्गतिरपि पापायेत्याह–

न तेन सह सम्भाषा कर्तव्या तु शिवार्थिना ।।४१५।।

कृत्वा सम्भाषणं तेन नरकं सोऽपि गच्छति ।

यत एवम्–

तस्माच्छिवसमाः सर्वे द्रष्टव्या मुक्तिमिच्छता ।।४१६।।

जो ऐसे सिद्ध पुरुष को आचार्य नहीं मानते, वे सम्प्रदाय की मौलिक मान्यता में ही प्रत्यवाय उपस्थित करते हैं । उन्हें मानव शरीरधारी जातिवादी दृष्टि कोण से देखने वाले उच्च कोटि के मानव के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती ।।४१४।।

सदाशिव के तीन वत्सरों के काल खण्ड तक वे लोग रौरव में कर्म विपाक भोग भोगते ही हैं । सादाख्य काल सीमा की चर्चा ग्यारहवें पटल में की गयी है । यह ध्यान देने की बात है कि, इस शैवसम्प्रदाय में दीक्षित होने के बावजूद गुरुद्वेष के कारण अधमत्त्व आ ही जाता है । इसे विलयशक्ति का कुफल मान सकते हैं ।।४१५।।

शास्त्र की यह मान्यता है कि, पातकी व्यक्ति की सङ्गति भी पाप की परम्परा को बढ़ाती ही है । इसीलिये श्लोक कहता है कि, ऐसे लोगों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये । यहाँ तक कि बातचीत भी नहीं होनी चाहिये । इससे शिवरूपी अर्थ की सिद्धि में बाधा ही उपस्थित होती है । सम्भषण से भी नरक की सम्भावना का सूत्रपात होता है । इसलिये मुक्तिमार्गी साधक का यह कर्त्तव्य है कि, वह सबको शिवरूप में देखे और आदर दे ।।४१६।।

---

१. क.पु. प्रपद्यन्ते इति पाठः ।

यस्मात्–

भुक्तिमुक्तिफलावाप्तिर्भवत्येव तदाज्ञया ।

अस्य चेयान् प्रभावो यदयम्–

आचार्यः स्वजनानां च कुलकोटि(टीः)सहस्रशः ।।४१७।।

ज्ञानज्ञेयपरिज्ञानात् समस्ता[1]स्तारयिष्यति ।

स्वे आत्मीया विद्यासम्बन्धिनो जनाः शिष्यास्तेषां चकारादात्मनश्च सहस्रशः कुलकोटि (टीः)ज्ञानस्य तावदनुग्राह्यानुग्रहाभिसन्धिपूर्वं परशाक्तस्फारानुप्रवेशस्योपाय-रूपस्य, ज्ञेयस्य चोपादेयस्य परतत्त्वस्य, परितः समन्तादविकल्पसविकल्पसमापत्तिभ्यां परतत्त्वविश्रान्त्यात्मकात् शिष्यप्रशिष्यादिक्रमेणानन्तकालव्यापिनश्च ज्ञानात्तारयिष्यति संसाराब्धेरुद्धरिष्यति । ज्ञानज्ञेयपरिज्ञानमेव गुरोर्मुख्यं रूपम् । यथोक्तं प्राक्–

भगवान् कह रहे हैं कि, ऐसे शिवाचार्य की इच्छा से और उसकी आज्ञा के अनुसार चलने से भुक्ति और मुक्ति दोनों की सिद्धि होती ही है । उसका इतना प्रभाव होता है कि, दीक्षा के माध्यम से शैव विद्या प्राप्त करने वाले उसके जितने शिष्य रूपी स्वजन हैं, उनकी लक्षाधिक कुल परम्परा का वे उद्धार कर देते हैं ।

इस क्रम में दो बातों पर विशेष बल दिया गया है । १–ज्ञान का परिज्ञान और २–ज्ञेय का परिज्ञान । ज्ञान यहाँ उपाय रूप माना गया है । गुरु अनुग्रह करता है । शिष्य उसका अनुग्राह्य होता है । अनुग्राह्य और अनुग्रह की अनुसन्धि के साथ परशाक्त स्फार में अनुप्रवेश इसी ज्ञान रूपी उपाय के माध्यम से होता है ।

जहाँ तक ज्ञेय का प्रश्न है, यह परम उपादेय परतत्त्व रूप ही होता है । यह परतत्त्व अनिर्वचनीय आनन्द से सराबोर होता है । इसमें अविकल्प समापत्ति में विश्रान्ति स्वाभाविक है, साथ ही इसमें सविकल्प समापत्ति की भी विश्रान्ति परतत्त्व में ही होने के कारण यह 'समापत्ति' एक प्रकार से 'तदवाप्ति' रूप में बदल जाती है । इसका सुपरिणाम यह होता है कि, शिष्य-प्रशिष्य क्रम से चली आने वाली गुर्वनुग्रह की प्रकाश की रश्मियाँ कई पीढ़ियों का भी उद्धार कर देती हैं । संसार का यह लहराता हुआ समुद्र गुरु के अनुग्रह से अनुगृहीत शिष्यों के लिये गाय के खुर समान ससीम हो जाता है और असीम ज्ञान के प्रकाश में शिष्य समाहित हो जाते हैं ।

---

१. ख.पु. समस्तानिति, क.पु. सर्वास्तानिति पाठः ।

'ज्ञानज्ञेयविशारदम् ।' (१-१६)

इति ।।४१७।।

एतदुपसंहरन् प्रकृतमाह–

एवमुक्तविधानज्ञो भावज्ञश्चापि दैशिकः ।।४१८।।
पूर्णाहुत्यैकयैवासौ पशून्योजयते परे ।

उक्तं प्राणचारादिविधानम्, भावः परतत्त्वभावनात्मा ।

पूर्णाहुतौ प्रयोगं जिज्ञासुं देवीं प्रति आह–

पूर्णाहुतिप्रयोगं तु कथयाम्यधुना तव ।।४१९।।

पूर्णत्वार्थमाहुतिप्रयोगमाह–

ऊर्ध्वकाय ऋजुग्रीवः समपादो व्यवस्थितः ।
नाभिस्थाने स्रुचो मूलमुत्तानाग्रमुखं समम् ।।४२०।।

यह ध्यान देने की बात है कि, गुरु का मुख्य गुण ही यह है कि, वह ज्ञान और ज्ञेय का परिज्ञान करा देने में समर्थ होता है । इसी तथ्य को गुरु की परिभाषा के सन्दर्भ में भगवान् स्वच्छन्द भैरव भट्टारक से गुरु को 'ज्ञान-ज्ञेय का विशारद' (स्व० १/१६) कहा है ।।४१७।।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि, ऊपर कहे गये प्राणापानवाह रूपी विधान के विशेषज्ञ तथा शिष्य प्रशिष्य के भावों के परमाभिज्ञ दैशिक ज्ञानज्ञेयागम के इतने महान् मर्मज्ञ होते हैं कि, वे एक मात्र पूर्णाहुति के माध्यम से ही अनुग्राह्य को परम ज्ञेय तत्त्व में नियोजित कर देते हैं । इस पर-भाव का तात्पर्य उस शिष्य की प्राणापानवाह परम्परा में परतत्त्व की भावना को भावित करना ही है । इस भावना की परम्परा का विशेषज्ञ ही भावज्ञ होता है । जिज्ञासु देवी यह जानना चाहती है कि, इस पूर्णाहुति प्रयोग का स्वरूप क्या है ? भगवान् भूत भावन भैरव, देवी भैरवी को यह आश्वस्त कर रहे हैं कि, देवि ! मैं अभी और इसी समय इस विषय की चर्चा करने जा रहा हूँ । इससे यह ध्वनित हो रहा है कि, देवी तुरत सावधान और दत्तचित्त हो जाँय । ग्राहक एकाग्रचित्त रहकर ही ग्राह्य का ग्रहण कर सकता है ।।४१८-४१९।।

पूर्णाहुति प्रयोग की चर्चा कर रहे हैं–

पूर्णाहुति का यह प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । दैशिक शिरोमणि गुरुदेव एक पूर्णाहुति मात्र से पशु को परभाव से नियोजित कर देता है । व्यवस्था पूरी कर ली गयी है । शिष्य भी यज्ञमण्डप में वर्त्तमान है । स्रुक् स्रुवा, घृत सब प्रस्तुत है । गुरुदेव के आदेश से शिष्य उठ खड़ा हुआ । उसकी उस अवस्था की मुद्रा भगवान् बता रहे हैं ।

स्रुच्युपरि स्रुवं देवि कृत्वा चैवमधोमुखम् ।
पुष्पं दत्त्वा स्रुगग्रे तु दर्भेण सहितौ करौ ।।४२१।।
मुष्टिना चैव हस्ताभ्यां गृहीत्वा यत्न[1]तोऽपि च ।
अग्रतो दक्षिणं हस्तं वामं वै पृष्ठतः प्रिये ।।४२२।।
मुष्टिभ्यां संगृहीत्वा वै उत्तानकरयोगतः ।
ततो घृतेन संप्लाव्य अभिमानं तु कारयेत् ।।४२३।।
अहमेव परं तत्त्वं परापरविभागतः ।

शिष्य सीधा खड़ा हो गया है । दोनों पैर समानभाव से मिले हुए हैं । शरीर ऊपर की ओर तना हुआ है । गरदन सीधी और सरल है । गुरुदेव उसे स्रुक् देते हैं । उसके मूल को वह नाभिस्थान में सटाता है । स्रुक् उत्तान है, आगे की ओर उसका मुख है । स्रुक् के ऊपर सम्यक् रूप से स्रुवा को नीचे की ओर मुखकर अर्थात् स्रुवा से स्रुक् को ढककर सावधानी पूर्वक पकड़ता है ।

स्रुक् के अग्रभाग में एक पुष्प आदर और सौन्दर्य की दृष्टि से रख देना चाहिये । हाथों में कुशा रहनी चाहिये । स्रुक् और स्रुवा दोनों को मुट्ठियों में बल देकर पकड़ना ठीक रहता है । दाहिना हाथ आगे ऊपर रहे और बाँयाँ दोनों काष्ठ साधनों को नीचे से पकड़े हुए शिष्य खड़ा रहे । शिथिलता नहीं आने पाये । नीचे बाँयाँ हाथ उत्तान मुद्रा में रखना उत्तम होता है । दायाँ उसकी सहायता करता है ।

इसी अवस्था में आचार्य उसमें घी उड़ेलता है । स्रुक् घी से भर जाता है । यह एक अत्यन्त सजगता की अवस्था होती है । आचार्य इसका साक्षी होता है । वह शिष्य में पूर्वज्ञात साधनात्मक अभिमान की भावना को जागृत करता है । शिष्य को नये स्वाभिमान से भर देता है । यह उसका उत्तरदायित्व है ।

यहाँ शिष्य की मुद्रा की रहस्यात्मकता की ओर अध्येता वर्ग का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है । ऊपर कुछ क्रियायें कुछ आध्यात्मिक संकेत लिये हुए प्रयुक्त होती हैं । जैसे–

१– स्रुक् के ऊपर स्रुवा रक्षण में शिवशक्ति की परस्पर उन्मुखता, और तादात्म्यैक्य भावन की ओर संकेत है । इसीलिये उस पर पुष्प रखकर उसके अर्च्य भाव को भी दिग्दर्शित करते हैं ।

---

१. ग.पु. प्रयत इति पाठः ।

ऊर्ध्वकाय उत्थितः, उत्तानमग्रस्थितवेदिकापुष्करादिरूपं मुखं यत्र, सममृजुतया स्थितम्, स्रुच्युपरि स्रुवमिति शिवशक्तिव्यापकौ स्रुक्स्रुवौ परस्परोन्मुखौ कृत्वा, अत एव च पुष्पदानम्, अतश्च शिष्यस्य शक्तिस्त्यक्ताधःप्रसरा शिवोन्मुखा शिवेन सम्मुखेन [1]प्लुष्टेति भावनीयम् । करावित्यत्र कृत्वेति शेषः, हस्ताभ्यामूर्ध्वाधःस्थिताभ्यां दक्षवामाभ्यां कृतो यः प्रत्येकं मुष्टिस्तेन, अत एव मुष्टिभ्यामित्युक्तिः । यत्नत इत्यनवलिप्ततया, अग्रत इति स्रुङ्मूलगतवामापेक्षया, दक्षिणमिति स्रुववदधोमुखं शिवव्याप्त्या, वाममिति स्रुग्वदुत्तानं च शक्तिव्याप्त्या, यदाह उत्तानेन करेण यो योग इत्यर्थादधोमुखस्य दक्षिणस्य वामेन । संप्लाव्येति सम्पूरितां स्रुचं कारयित्वा, अहमेव परं [2]तत्त्वं परापरेति प्राग्वत्परसूक्ष्मस्थूलरूपतया स्थितमित्यभिमानं निश्चितां प्रतिपत्तिं कारयेत् कुर्यात् ॥४२३॥

२- दूसरी बात जो उससे संकेतित होती है, वह है शिष्य की स्वात्मशक्ति का शिवौन्मुख्य ।

३- बायाँ हाथ आगे मुट्ठी से पकड़ता है । दाहिना ऊपर से गृहीत करता है । इसमें शिष्य का बायाँ उत्तान रहता है और दायाँ अधोमुख । इसमें स्रुव रूपी शिव शक्ति स्रुक् रूप शिष्य की शक्ति को व्याप्तकर रही है, यह संकेतिक है । इन संकेतों को इस पूर्णाहुति के कर्मकाण्ड में व्यक्त कर दिया गया है ।

इसी समय गुरुदेव, शिष्य में स्वाभिमान को उद्भावित करते हैं । इसमें मुख्यतः इन भावों को वे भरते हैं । जैसे-

१- शिष्य में यह दृढ विश्वास उत्पन्न करते हैं कि, तुम चेतन परमतत्त्व हो । गुरु कहता है-'वत्स तुम यह निश्चय तै कर लो कि, मैं ही परमतत्त्व हूँ ।

२- मन में यह सोच लो कि, पर, परापर और अपर ये तीन तत्त्वविभाग किये गये हैं । इनमें परभाव सबसे महत्त्वपूर्ण शिव भाग माना जाता है । तुम उसी पर भाव में रहो । परापर भाग सूक्ष्म भाग माना जाता है और अपर भाग स्थूल होता है । इस दृष्टि के अनुसार शिष्य स्वात्म में पर भाव अर्थात् शैवसद्भाव रूप महाभाव का प्रकल्पन करता है । यही श्लोक में परापर विभागतः शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया है ॥४२०-४२३॥

---

१. ख.पु. ऊर्ध्वं तिष्ठेति पाठः ।
२. क.पु. शिवतत्त्वमिति पाठः ।

न चैतदभिमानमात्रं यतः–

तत्त्वमेकं हि सर्वत्र

सर्वं हि [1]चेत्यमानत्वात् चिन्मात्रपरमार्थमेव ।

अतश्च–

नान्यं भावं तु कारयेत् ।।४२४।।

कारयेदिति प्राग्वत् मायाप्रमातृतासुलभं भेदाभिमानं त्यजेदित्यर्थः ।।४२४।।

किञ्च–

यत्कुम्भेऽध्वात्र विन्यस्तः षट्प्रकारो वरानने ।
मण्डलेऽग्नौ शिशोरन्तः साधारणविकल्पितः ।।४२५।।

यहाँ अभिमान शब्द का तात्पर्य असत्गर्व भाव नहीं है, वरन् यह भाव है कि, वस्तुतः एक ही महाभाव सर्वत्र व्याप्त है । उसकी तीन श्रेणियाँ मात्र हैं । मैं शिष्य रूपी साधक गुरु के अनुग्रह से ऊर्ध्व श्रेणी के पर भाव से भर गया हूँ । यह शुद्ध अहन्ता का महाभाव है । वास्तविकता भी यही है कि, सारा तत्त्व प्रसार चेत्यमान है । परमार्थ तत्त्व तो चिन्मात्र पर भाव ही है । इसलिये पूर्णाहुति की सर्वाङ्गपूर्णता के इस सन्दर्भ में किसी अन्य भाव का प्रवेश भी स्वात्मविमर्श में नहीं होना चाहिये । इसी उद्देश से गुरुदेव, शिष्य को सजग, सावधान और महाभावभावित भी करते हैं । परिणाम स्वरूप शिष्य माया की प्रभातृता से उत्पन्न देहाभिमान की लघुता का परित्याग कर, विराट् के वैराज्य में प्रवेश कर जाता है ।।४२४।।

यहाँ कुम्भ में छः प्रकार के वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व और भुवन नामक अध्वावर्ग का विन्यास किया गया है, भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, देवि भैरवि ! यही अध्वा, मण्डल में, कुण्ड की अग्नि में और शिशु में भी विन्यस्त या समायोजित किये जाते हैं ।

वही अध्वा आज्य रूप से स्रुक् में भी विन्यस्त किये गये हैं । शिष्य के आध्यात्मिक उत्कर्ष के उद्देश्य से ये उपक्रम शास्त्र द्वारा निर्देश पूर्वक किये कराये जाते हैं । यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, यह स्रुक् जिसमें घृत भरा गया है, यह भी शिष्य की सुषुम्ना के प्रतिबिम्ब रूप में ही प्रकल्पित है । भुवर्लोक में सूर्य की तरह नाभि से विशुद्ध पर्यन्त के शरीर के भुवर्लोक में प्राण ही सूर्य के समान स्फुरित है । स्रुक् मूल उसी प्राण भूमि पर लगाकर पकड़कर रखा हुआ है ।

---

१. क.पु. वेद्येति पाठः ।

स्रुच्यध्वानं तमारोप्य प्राणस्थं [1]नाडिमध्यगम् ।
प्राणाधारे समीकृत्य स्रुचा धारां विनिक्षिपेत् ।।४२६।।

कुम्भमण्डलाग्निशिशुगतं षड्विधमध्वानमाज्यरूपतया स्रुचि मध्यनाडि-प्रतिच्छन्दकरूपायामारोप्य पूर्वोक्तयुक्त्या प्राणस्थितं च तं मध्यनाडिगतं कृत्वा अत एव मध्यमं प्राणं धारां चाज्यसम्बन्धिनीं स्रुग्गतां समीकृत्येति मान्त्रवह्निद्रावितषडध्वरसमयतया भावयित्वा तां धारां क्षिपेत् ।।४२६।।

कथं क्व चेत्याह–

वसुधाराप्रयोगेण प्रक्षिपेज्जातवेदसि ।

अविच्छिन्नसन्तत्या शिवाग्नौ द्वादशान्तस्थे बाह्ये च प्राणमाज्यधारां चाविभाग[2]-भावनया जुहुयादित्यर्थः, वसवेऽभीष्टफलायात्युच्चैर्धाराप्रयोगेन ।

अत्रेतिकर्तव्यतामाह–

नाभिस्थाने स्रुचो मूलं नयेन्नासान्तगोचरम् ।।४२७।।

इसी को प्राणाधार शब्द से कारिका में कहा गया है । प्राणाधार में स्रुक् से स्रुवा का समीकरण भी किया जा चुका है । स्रुक् से घी की धारा का सम्पात यज्ञ का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है । इधर मन्त्रोच्चार हो रहा है । मान्त्रिक अग्नि से धारा रूप में घी विगलित होकर गिर रहा है । इस प्रक्रिया में शिष्य रूप शिशु संलग्न है । शिशु को आचार्य ने पहले ही यह सब बता दिया है । उक्त सभी तत्त्वों का भावनकर शिष्य धारा–सम्पात करे, यह शास्त्र का निर्देश है ।।४२५-४२६।।

यह धारा सम्पात कुण्ड की प्रज्वलित अग्नि में हो रहा है । यहाँ एक रहस्य की बात को आचार्य श्री क्षेमराज ने उद्घाटित कर दिया है । जातवेदस् अग्निप्रमाता को कहते हैं । बाह्यद्वादशान्त जिसे १–चितिकेन्द्र, २–शैवधाम, ३–आमावस्य केन्द्र के रूप में जाना जाता है, उसमें प्राणरूपी प्रभा-पीयूष का सम्पात साधक शिष्य करता है । इस तरह यहाँ दो प्रकार की धारा का सम्पात हो रहा है । १–प्रत्यक्ष रूप से स्रुक्-मूल से आज्य की धारा अग्नि में जा रही है । और २–दूसरी प्राणवायु रूपी आज्य धारा बाह्यद्वादशान्त रूप मध्य धाम की शैवतैजसिक भूमि में गिर रही है । यह श्वास साधना का एक रहस्य रूप है ।

---

१. पु. नाडीति पाठः ।
२. क.पु. भावभावनेति, ग.पु. भागभावनेति पाठः ।

यथा यथा त्यजेद्धारां तथा प्राणं समुच्चरेत् ।

नाभिस्थाने यत्स्रुङ्मूलं स्थितं तन्नासाग्रं प्रापयेत्, धारापातानुसाराय मध्यप्राणं सम्यगभ्यस्तवाहचारेण ऊर्ध्वं चरेत्, द्वादशान्तविश्रान्तं कुर्यात् ॥४२७॥

एवं सति न केवलं द्रुतषडध्वरसमयी धारा यावत्–

प्राणोऽपि वर्णतां याति षड्विधाध्वमयस्तु सः ॥४२८॥

यः षडध्वमयः प्राणः सोऽपि वर्णतां मान्त्रपरामर्शतां याति ॥४२८॥

एवं च सति–

षड्विधेऽध्वनि नातोऽन्यः प्रमेयो विद्यते क्वचित् ।

वसु के धन, अभीष्टफल, उत्कर्ष प्रददेव आदि अनेक अर्थ होते हैं । वसुधारा का अर्थ अभीष्ट उत्कर्षोदय रूप फल के लिये की जाने वाली धारा है । इसलिये यज्ञ में आज्य की धारा का सम्पात इसी उद्देश्य के लिये करना चाहिये । धारा में टूटन नहीं वरन् अविच्छिन्नता रूप सातत्य होना चाहिये । इस बात का हमेशा ध्यान रखना चाहिये । दूसरी एक और बात ध्यान देने की है । वह यह कि, स्रुक् का मूल तो नाभि में लगा हुआ है । उसका अगला भाग ऐसे अवस्थित हो, जो नासिका के अग्रभाग को देखने पर सामने दीख पड़ जाय ।

यहाँ भी श्वास साधना का रहस्य उद्घाटित किया गया है । नाभि से चलने वाले मध्यप्राण को नासाग्र से द्वादशान्त में विश्रान्त करना चाहिये । इसका निर्देश भी यहाँ है ॥४२७॥

इस रहस्यमयी प्रक्रिया के साथ गिरनेवाली आज्य की वह आध्यात्मिकता से ओत रसमयी धारा असाधारण दिव्यता से भर जाती है । एक तरफ अध्वावर्ग का होम और दूसरी ओर प्राण की ऊर्ज्जा से ओतप्रोत श्वासधारा जो द्वादशान्त में विश्रान्त हो रही है । इस प्रक्रिया में प्राणधारा में वर्णता अर्थात् मान्त्रिक परामर्श की स्पन्दन शीलता का महाभाव भर जाता है । सच्चे अर्थों में इसे ही पूर्णाहुति कहा जा सकता है । आहुति की षडध्वमयी दिव्यता वातावरण को शैवी पूर्णता प्रदान करती है ॥४२८॥

छः प्रकार के अध्वावर्ग के अतिरिक्त कोई प्रमेय पदार्थ कहीं भी इस समय अवशिष्ट नहीं रह सकता है । वस्तुतः सारे प्रमेय मान्त्रिक परामर्श से प्रभावित और परामृष्ट रहते हैं । जागृति आदि अवस्थाओं में भी सारे प्रभेद मान्त्रपरामर्श में ही परामृष्ट रहते हैं । यह सामान्यतया सबके अनुभव का विषय है ।

षड्विधेऽध्वनि यः कश्चित्प्रमेयः सोऽस्मिन्नवसरे अत इति मान्त्रात्परामर्शाद् नान्यः क्वचिदपि जागरादौ विश्वत्र सर्वस्य मान्त्रपरामर्शशेषीकृतत्वात् ।

यत एवम्–

तस्मान्मान्त्रे परामर्शे हेयोपादेयतः स्थिताः ।।४२९।।

ये हेयतया स्थिताः समनान्ताः पदार्थाः, ये चोपादेयतया शुद्धात्मोन्मनापरमशिवाः स्थितास्ते मन्त्र एव वाचकेऽन्तरभिन्नवाच्यात्मतया स्थिताः ।।४२९।।

[1]यस्मान्मन्त्रैरकारादिध्वनिरूपैः–

वर्णैः कारणषट्कं तु

पूर्वोक्तं तत्तत्तत्त्वाधिष्ठातृरूपं व्याप्तम्, अतस्तद्व्या[2]प्त्यैव विश्वं स्वीकृतमेभिः ।

मान्त्रपरामर्श की विशिष्ट स्थितियों साक्षी स्वयं साधक ही होता है । यह सहज भाव से कहा जा सकता है कि, सिद्ध साधक शरीर भाव को अतिक्रान्त कर अतिभूमि में निवास करता है और सर्वदा पूर्णाहुति करता रहता है । सामान्य शिशु रूपी शिष्य वर्ग की पूर्णाहुति प्रसङ्ग में जो स्थिति होती है, उसमें दो तरह की वास्तविकता को जी रहा होता है ।

१– अपने शरीर की सीमा में 'समना' पर्यन्त जितने पदार्थ हैं, यह निश्चित है कि ये सभी हेय की सीमा में ही आते हैं । विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

२– दूसरी उसकी वह स्थिति होती है, जब वह समना को अतिक्रान्त कर उन्मना क्षेत्र की शुद्धात्मक परमशिवावस्था में रम रहा होता है । उस समय उसमें स्थित सारे प्रमेय उपादेय स्थिति में शुद्ध भाव से भरित होते हैं । मन्त्र की सजकता में और आन्तरदृष्टि से अभिन्नवाच्यात्मक स्थिति में भी उल्लसित रहते हैं । यह सब साधना के सन्दर्भ की अनुभूतियाँ है । इनका सदैव आकलन करते रहना चाहिये ।।४२९।।

अकारादि ध्वनिरूपों की रमणीयता से समन्वित मन्त्र भी वर्णात्मक ही होते हैं । वर्णों के वैद्युतिक तरङ्गात्मक प्रसार में चिति के चैतन्य की चिनगारियाँ छिटकती हैं । उन बैन्दवी प्रकाश रेखाओं में अर्थबोध के ज्ञान विज्ञान की विभा का आभास होता है । इनसे मन्त्रों की मान्त्रिकता का महोत्सव सम्पन्न होता है । इनमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र,

---

१. ख.पु. तस्मादिति पाठः । २. क.ग.पु. तद्व्याप्त्येति पाठः ।

अतश्च–

षट्त्यागात्सप्तमे लयः ।

कार्य इति शेषः ।

यदवधिकं कारणषट्कं यावद्भिर्मन्त्रैर्ध्वनिभिर्व्याप्तं तद्धेयत्वेन दर्शयति–

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।।४३०।।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादश्चैवोर्ध्वगामिनी ।
शक्तिश्च व्यापिनी ह्येताः समना च ततः परम् ।।४३१।।

ईश्वर, सदाशिव और शिव अधिष्ठाता रूप से व्याप्त रहते हैं । इन छः कारण[1] रूप अधिष्ठाताओं ने विश्वात्मक इस प्रसार को इसीलिये अधिष्ठान रूप से स्वीकार किया है । मन्त्र इसी अर्थ में इनके वाचक हो जाते हैं । सारे अध्वा और तत्त्व भी इसी में समाहित रहते हैं ।

सिद्धसाधक इस मान्त्रिकता का रहस्यज्ञ होता है । वह मान्त्र परामर्श के हेय भाव को पहचानता है । इसीलिये इन छः कारण तत्त्वों का परित्याग करता है, अर्थात् इनको अतिक्रान्त कर सप्तम कारण भूत परम शून्य रूप परम कारण में लय भाव को प्राप्त कर लेता है । लय भाव विश्रान्ति रूप होता है । सप्तमलय का यही तात्पर्य है । यह साधकों द्वारा अवश्य सिद्ध करना चाहिये ।

किसी की कोई सीमा अवश्य होती है । उसी तरह उक्त छः कारणों की भी अवधि निर्धारित है । मान्त्रिक ध्वनियों से भी ये व्याप्त होते हैं । उसी अवधि और उन्हीं ध्वनियों से व्याप्त उनके हेयत्व का प्रकाशन भगवान् भैरव कर रहे हैं–

आज्ञाचक्र का बीज ओङ्कार है । उसमें पाँच मान्त्रिक उल्लास होते हैं । 'अकार', 'उकार', 'मकार', 'बिन्दु' और 'अर्धचन्द्र' ये पाँचों ही ओङ्कार से ऊपर की ओर उन्मिष्ट होते हैं । ये ऊर्ध्वग सोपान हैं । इनके बाद माया अवरोध उत्पन्न कर ऊपर जाने से रोकती हैं । इस सोपान को 'निरोधिका' कहते हैं । इसको वेध कर 'नाद' क्षेत्र में प्रवेश करते हैं । इसी ऊर्ध्वग क्रम में 'नादान्त', 'शक्ति', 'व्यापिनी' और 'समना' के सोपान आते हैं ।

---

१. स्व० ४/२६७

समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।
कारणैः षड्भिराक्रान्तं मन्त्रस्थं हेयलक्षणम् ।।४३२।।

पूर्वमेव व्याख्यातमेतत् । ऊर्ध्वगामिनी नादान्तदशा । अस्य मान्त्रस्य प्रमेयैका-दशकस्य भेदकल्पनामयत्वेन हेयत्वमभेदविमर्शात्मत्वे तु उपादेयतेति प्राग्विभक्त-मेव ॥४३२॥

मन्त्रस्थं हेयमुक्त्वा उपादेयं प्रस्तौति–

अत्र पाशोपरि ह्यात्मा व्योमवद्विन्दु(च्चित्सु)निर्मलः ।
शिवतत्त्वगुणामोदाच्छिवधर्मावलोककः ।।४३३।।

भगवान् भैरव कह रहे हैं कि, देवि ! समना पर्यन्त अनन्त पाशों का जाल अपना प्रभाव डालता रहता है । ये सोपान उक्त छः कारणों से आक्रान्त भी हैं । यद्यपि मन्त्रस्थ हैं फिर भी इनमें हेय भाव के लक्षण परिलक्षित होते हैं । समना एक अन्तिम सोपान और अवधि है और मान्त्रध्वनियों से व्याप्त है । हेयत्व का इनमें लक्षण भी है ।

उक्त ग्यारह सोपान मान्त्र प्रमेय रूप हैं । इसमें स्वाभाविक रूप से भेद का प्रकल्पन होता है । यह योगियों की अनुभूति का विषय है । यह भी सत्य है कि, जहाँ भेद का प्रकल्पन प्रमेयवाद के आधार पर होता है, वहाँ हेयभाव की भवितव्यता प्रभावित करेगी ही । अभेद विमर्श की स्थिति से ही उपादेयता अलङ्कृत होती है ॥४३०-४३२॥

मन्त्रस्थ हेय की बात कहकर अब मन्त्रस्थ उपादेय का स्पष्टीकरण कर रहे हैं–

साधक समनान्त अनन्त पाशजाल में विश्रान्ति के बाद उसका उल्लङ्घन करते हैं । इस पाशराशि पर आत्मा के चैतन्य की चिन्मय रश्मियों का सूक्ष्म सम्पात स्वभावतः होता रहता है । यह सम्पात उसी समय हो सकता है जब, साधक इन समनान्त पाशों को अतिक्रान्त कर चुका होता है । साधक यद्यपि अभी शिवत्व को उपलब्ध नहीं है फिर भी उसमें सदाशिवत्व और शिवत्व की उपलब्धि की ललक उल्लसित है । वह समना के अन्तिम सोपान को भी पार कर चुका है । अतः उसमें शिवाभेद की भावना से सर्वज्ञता, सर्व कर्तृत्वसम्पन्नता आदि की अभिलाषा में उफान आ गया है । इस अभेद बुद्धिविभा से उसमें एक आमोद, एक प्रहर्ष की लहर लहराने लगी है । आत्मा में पञ्चकृत्य प्राप्ति की यह लहर प्रकाश की ऊर्मियों के समान

समनान्तपाशातिक्रमादेव चिता सुष्ठु निर्मलः शिवतत्त्वस्य सदाशिवस्य[१] सम्बन्धिभिरभेदसर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैरभिलष्यमाणैर्जनितादामोदात् प्रहर्षादेव शिवस्य धर्मं पूर्णपञ्चविधकृत्यस्वातन्त्र्यं प्राप्यत्वेनावलोकयति न त्वद्यापि प्राप्ततद्रूपः ॥४३३॥

यतः–

पाशावलोकनं त्यक्त्वा स्वरूपालोकनं हि यत् ।
आत्मव्याप्तिर्भवेदेषा

पाशानां समनान्तानामवलोकनमात्मत्वेनाभिमननं स्वरूपं पाशोत्तीर्णचिन्मात्रत्वं यदेतावत्पर्यन्तात्मव्याप्तिः ।

शिवव्याप्तिस्ततोऽन्यथा ॥४३४॥

तां प्रतिपादयति–

सार्वज्ञ्यादिगुणा येऽर्था व्यापकान्भावयेद्यदा ।
शिवव्याप्तिर्भवेदेषा चैतन्ये हेतुरूपिणी ॥४३५॥

ये वक्ष्यमाणाः सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादि[२]गुणा धर्माः परमोपादेयत्वेनार्थ्यमानत्वादर्थाः, तान्व्यापकानिति अशेषमन्तरभेदेन क्रोडीकुर्वतो यदा स्वात्मनि[३] भावयेत्, तदा

उल्लसित होने लगी हैं । इन्हीं शैव रश्मियों का सूक्ष्म सम्पात पाश राशि पर होने लगता है । इस स्थिति को आचार्य क्षेमराज शिव धर्मावलोकक स्थिति मानते हैं । इस प्रकाश सम्पात से उपादेयता का भी उन्मेष वहाँ हो जाता है ॥४३३॥

एक ऐसी भी अवस्था वहाँ आती है, जब पाश के ऊपर पड़ने वाली दृष्टि स्वात्म स्वरूप दर्शन के लिये स्वात्म्य की ओर भी मुड़ जाती है । स्वगत व स्वस्थ हो जाती है । यह ऊपर की ओर की दृष्टि ऊपर ताकने की तरह की नहीं होती है, अपितु उन पाशों में पाश बुद्धि न रहकर स्वात्म चित्स्वरूपता की बुद्धि का मननात्मक उल्लास हो जाता है । वह भेदभाव के ऊपर अभेद अद्वयात्मकता की विजय की तरह का उत्कृष्ट भाव होता है । इस भावोत्कर्ष की अवस्था को 'आत्मव्याप्ति' कहते हैं ।

इससे भी भावात्मक दृष्टि से उत्कर्ष प्राप्त करने पर जिस व्याप्ति की अनुभूति होती है, उसे 'शिवव्याप्ति' कहते हैं । इस अवस्था में आत्मभाव में सर्वज्ञत्वादि गुण

---

१. ग.पु. परमशिवस्येति पाठः ।　　२. ग.पु. दिरूपा इति पाठः ।
३. ख.ग. स्वात्मन इति पाठः ।

तद्भावनापरिनिष्पत्तिरात्मनः शिवव्याप्तिः, सा च भावके चैतन्ये हेतुरूपिणी प्रयोजिका, तत्प्रसादादेव शुद्धात्मनः तद्भावनाप्ररूढेः ॥४३५॥

यतोऽयमेवं सर्वज्ञत्वादिगुणयुक्तः—

अतो धर्मिस्वभावो हि शिवः शान्तश्च पठ्यते ।

विश्वस्य भित्ति[१]लग्नत्वेनैव स्फुरणाद्धर्मकल्पस्यासौ धर्मिकल्पो निःशेषभेदोपशमात् शान्तः, अभेदसार्वज्ञ्यादियोगेन श्रेयोरूपतया शिवः, पठ्यते इत्यागमेषु ।

एवं पठ्यमानोऽप्यसौ वस्तुतो न शब्दगोचर इत्याह—

उन्मनाश्च मनोग्राह्यः

उन्मनाः शक्त्यभेदात्मनो विषयत्वाभावाद् वस्तुतो न शब्दवाच्य इत्यर्थः ।

न केवलमीदृक् शिवो यावत्—

आत्मबोधे स्थितोन्मनाः ॥४३६॥

परमोपादेय होने के कारण अर्थ्यमान होते हैं । इसीलिये वे 'अर्थ' कहे जाते हैं । उन व्यापक अर्थों को पूर्ण रूप से स्वात्म में अभेद अद्वय भाव से जब स्वात्मसात् कर लेते हैं, तो उस समय शैवमहाभाव की श्रेयमयी परिनिष्पत्ति स्वात्म में उत्पन्न होती है । इसी अवस्था को 'शिवव्याप्ति' कहते हैं ॥४३४-४३५॥

मैं अज्ञ अणु नहीं, सर्वज्ञ शिव हूँ । मैं सर्वकर्तृत्व सम्पन्न हूँ । इस प्रकार के महाभावों से ओतप्रोत धर्मी स्वभाववान् शिव आगमिकों द्वारा शान्त शिव रूप से मान्य हैं । पहले ये सर्वज्ञादि पाशों से बद्ध पाशव भाव में विश्व फलक पर ही धर्म बन स्फुरित थे । अब वही शिव सर्वज्ञरूप धर्मी बन गये हैं ।

सर्वज्ञता धर्म है । सर्वज्ञ धर्मी है । पहले विश्वफलक पर सर्वज्ञता स्फुरित होती थी । तब धर्म थी । अब समस्त भेदवाद का उपशमन हो गया है । पहले पाशों को एक एक कर पार करने का प्रोत्साहात्मक अध्यवसाय था, अब पाशात्मक भेदात्मकता समाप्त है । केवल शिव का शान्त स्वरूप ही अवशिष्ट है । अब वह उन्मना के परिवेश में सर्वज्ञ भाव से ओतप्रोत रूप में विद्यमान है ।

यह शक्त्यभेद की अवस्था होती है । इसमें विषयता का अभाव होता है । शब्दों से विषयों का ही कथन होता है । विषयों के न रहने से शब्दव्यापार की वाच्यता भी यहाँ नहीं रहती । अतः केवल मनोग्राह्यता का ही प्रकर्ष उन्मना में होता है ।

---

१. ख.पु. मयत्वेनेति पाठः ।

शिववदात्मापि मन उत्क्रम्य मनोभूमिमुज्झित्वा बोधे संविन्मात्रे पूर्णत्वसर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्वाद्यात्मनि स्थितः । स्थितश्चासौ उन्मनाश्चेति समासः ॥४३६॥

यतश्चात्मा शिवश्च न मनोगोचरस्ततः–

व्यापारं मानसं त्यक्त्वा बोधरूपेण योजयेत् ।
तदा शिवत्वमायाति पशुर्मुक्तो भवार्णवात् ॥४३७॥

'तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ।' (स्प. ३-१)

इति स्पन्द[1]दृशा आदौ शिष्यात्मानं स्वात्मनि समरसीकृत्य समनान्तमतिक्रम्य शुद्धात्मनि स्थितिं बद्ध्वा बोधरूपेणेति अविकल्पसंवित्स्पर्शेनैव उन्मनाशक्त्यनुप्रवेशप्रमुखं शिवे योजयेत् ॥४३७॥

अत्र चावसरे

परे चैव नियुक्तस्य स्रुवमापूरयेत्पुनः ।
स्रुचो रन्ध्रेण तद्द्रव्यं यावद्वह्नौ प्रयुज्यते ॥४३८॥

अब आत्मा ऐसा नहीं वैसा हो जाता है । एतत् नहीं तद् हो जाता है । मन का अतिक्रमण हो जाता है । मन की भूमि को छोड़कर संविद्विश्रान्त शिव पूर्ण, सर्वज्ञ, सर्वकर्तृत्व सम्पन्न, अकाल पुरुष और व्यापक पुरुष भाव में प्रतिष्ठित हो जाता है । आत्मबोध सुप्रबुद्ध स्वयम् उन्मनाः बनकर आत्मबोध में ही सुप्रतिष्ठित हो जाता है ॥४३६॥

आत्मा और शिव ये दोनों मनोगोचर नहीं होते हैं । अतः मानस व्यापार का परित्याग यहाँ इस स्तर पर हो जाता है । इस अवस्था में गुरुदेव का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है । पहले तो उन्होंने शिष्य की आत्मा को स्वात्म में रखा और अपने सामरस्य भाव से उसे भी समरस बनाया था । अब उस शिष्यात्मा को इसी शिवव्याप्ति रूप तत्त्वबोध से समायोजित कर दिया है । समना को अतिक्रान्त कर उस शुद्धात्मिका स्थिति में उसे बाँध दिया है । वहाँ शिष्यात्मा अविकल्प संवित् के स्पर्श मात्र से निर्मल और निष्पाप हो गया होता है । अतः अब उन्मनाशक्त्यात्मक चक्र में उन्मुख होने वाले शिव में शिष्य को समायोजित कर देना चाहिये । शास्त्र का यही उपदेश है ॥४३७॥

प्रकृत प्रसङ्ग पर पहुँच कर स्रुक् सम्बन्धी चर्चा कर रहे हैं । भगवान् भैरव भट्टारक कह रहे हैं कि, पर शिवभाव में समायोजित स्रुव को पुनः घी से भर देना चाहिये । स्रुक् के आगे बहने का जो छिद्रात्मक पथ बनाया गया है, उतने मात्र से घी की पतली धार अग्निकुण्ड में गिरानी चाहिये ॥४३८॥

---

१. ख.पु. दिशेति पाठः ।

बहिःस्थं कुम्भकं तावत्परे तत्त्वे तु भावयेत् ।

बहिरिति ऊर्ध्वरेचकान्ते द्वादशान्ते ।

एवं च यत्–

बहिर्निरोधभावेन सामरस्यं शिवेन च ।।४३९।।

चशब्दाच्च तच्छक्त्यापि ।।४३९।।

तत्–

अन्यथा न भवेद्देवि

न कदाचिदेतस्याशिवीभावहेतुरित्यर्थः ।

अत्र दृष्टान्तः–

नदीवेग इवार्णवे ।

उस समय श्वास को बाहर गये अंशरूप श्वास के कुम्भक भाव को परतत्त्वात्मक परचिति केन्द्र में ही 'युति' भावित करनी चाहिये । बाहर शब्द का यही संकेतितार्थ है कि, श्वास द्वादशान्त में मिला हुआ है । यहाँ ऊर्ध्व रेचकान्त रूप ऊर्ध्व द्वादशान्त की बात इसलिये कह रहे हैं कि, साधक समना को अतिक्रान्त कर औन्मनस राज्य के वैराज्य भाव का स्पर्श कर चुका है ।

प्राण के उस निरोध भाव को शिवशक्तिमय तादात्म्य सामरस्य के रूप से साक्षी बन कर अनुभूत करना चाहिये । यह निश्चित सत्य तथ्य है कि, उस स्तर पर पाशात्मक भेदभाव का विगलन हो चुका होता है । निर्विशेष निर्विषयत्व का उल्लास होता है और स्वात्म का सामरस्य भरा शैवमहाभाव रूप तादात्म्य घटित है ।।४३९।।

भगवान् भैरव भट्टारक कह रहे हैं कि, देवि ! इस महीयसी स्थिति का अन्यथा भाव नहीं होता । यह शाश्वत समायोजन शाश्वत पुलकित रहता है । कभी अशिवी भाव की स्थिति उत्पन्न नहीं होती । एक बड़ा सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं–

जैसे कोई नदी वेग पूर्वक समुद्र में समा रही हो । सङ्गम आनन्दवाद में बदल रहा होता है उस समय । सागर स्रोतस्विनी को स्वात्मसात् कर उसे भी सागर का सामरस्य प्रदान कर रहा है । क्या वह नदी भाव पुनः सागर से अलग किया जा सकता है ? कभी नहीं ।

एतस्फुटयति–

स्थितः स सागरेऽद्भिस्तु सिन्धुः समरसीभवेत् ।।४४०।।

पुनर्विभागं नाप्नोति तथात्मा तु शिवार्णवे ।

अद्भिरिति सागर[१]संगताभिः । सिन्धुर्नदी ।

बहिःस्थकुम्भकभावनाया अवधिमाह

स्रुचस्तु पूरणं यावत्तावत्कालं समादिशेत् ।।४४१।।

स्रुचः सकाशादाज्येन यावत्पूरणमिति वह्नौ पूर्णाहूतिर्यावद्भवति, तावद्बहिः कुम्भकं सम्यगा समन्तात् दिशेत्प्रापयेत् ॥४४१॥

तदित्थं पूर्णाहुतौ–

अनेनैव तु कालेन बहिः कुम्भकवृत्तिना ।

आत्मा समरसत्वेन शिवीभवति सर्वगः ।।४४२।।

जैसे उसका पुनर्विभाग नहीं हो सकता, उसी तरह आत्मा रूप ब्रह्मपुत्र महासागर रूप शैव सिन्धु में समा रहा है–सङ्गम भूमि पर धारा दृश्यमान है फिर विलुप्त हो रही है । और अब तो हरि हैं, मैं नाहिं की समरसता उल्लसित हो चुकी है । आत्मा और शिवशक्ति सामरस्य का यह स्वरस रूप स्वात्मसाद्भाव शाश्वतिक हो जाता है ॥४४०॥

पूर्णाहुति यज्ञ में यज्ञकर्त्ता इधर खड़ा है । वह बाह्य ऊर्ध्व द्वादशान्त में यद्यपि सामरस्य का शिवानन्द लेकर प्रसन्न है, पर देह भाव की दृष्टि के अनुसार उसे स्रुक् के घृत रहित होने तक ही वहाँ रहना चाहिये । घृत की धार सातत्य पूर्वक गिर रही है । गिरते गिरते घी समाप्त हो गया । अब वह्नि में आहुति पूरी हो गयी है । इधर बाहर कुम्भक भी है । जब घी समाप्त हो, तो कुम्भक भी रेचित कर देना चाहिये ॥४४१॥

जैसे पूर्णाहुति अग्नि में आत्मसात् होती है, उसी तरह बाह्य कुम्भक भाव का काल भी महाकाल में समा जाता है । उसी तरह आत्मा भी समरसता में समाकर शश्वत् शिवीभाव की सर्वव्यापकता को पा लेता है ॥४४२॥

---

१. घ.पु. सागरसत्कामिरिति पाठः ।

एवं शिष्यशिवीकरणानन्तरम्-

गुणानापादयेत्पश्चात् षट्

वक्ष्यमाणान् सर्वज्ञत्वादीन् गुणान् ।

कीदृशान् ?

अङ्गपरिमाहुतीन् ।

अङ्गैर्नैष्कलैरङ्गमन्त्रैरेव अङ्गपरिमा अङ्गसंख्याकाः षडेवाहुतयो येषां तान् ।

शिवत्वे प्राप्ते यद्यपि तदभिन्ना गुणा अपि प्राप्ताः, तथापि तेऽस्य स्पष्टमान्त्रप्रत्यवमर्शपूर्वकस्वनादोदीरणेनापि [१]स्पष्टीकार्या एवेति दृष्टान्तपूर्वं निर्दिशति-

यथा नृपत्वे सम्प्राप्ते कलशैश्चाभिषिच्यते ।।४४३।।
वन्दिभिश्च गुणास्तेऽपि ख्याप्यन्ते वसुधातले ।
तथा शिवत्वे सम्प्राप्ते गुणानापादयेद्बुधः ।।४४४।।

गुरुदेव ने शिष्य की शिवीकरण की प्रक्रिया पूरी कर दी । इसके बाद उस सर्वज्ञता आदि छः गुणों का आपादन उसमें करना चाहिये । ये सर्वज्ञता आदि गुण १-सर्वज्ञता, २-परितृप्तता, ३-अनादिबोधता, ४-स्वतन्त्रता, ५-अप्लुतशक्तिता और ६-अनन्त शक्तिता शब्दों के द्वारा शास्त्र में प्रयुक्त होते हैं । इन गुणों के आपादन के उपरान्त केवल छः आहुतियाँ दी जानी चाहिये । इसका यह कारण है कि, हृदादि अङ्गमन्त्र छः ही होते हैं । इसी आधार अङ्गपरिमा अर्थात् अङ्ग संख्या (६) के अनुसार छः आहुतियाँ ही शास्त्र द्वारा समर्थित है ।

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि, शिवत्व की प्राप्ति पर शिव की अभिन्नता की स्थिति में जैसे नदी जल के मिल जाने पर उसमें सागर के गुण आ जाते हैं, उसी तरह इस दीक्ष्य में भी वे छः गुण स्वभावतः आ ही जायेंगे भी फिर सर्वज्ञतादि गुणों के आपादन की बात कही गयी है । उसका कारण है कि, याग प्रक्रिया में मान्त्र प्रत्यवमर्श पूर्वक उच्चारण कर देने से वे गुण वैद्युतिक वाङ्मय तरङ्गों से स्वयं दीक्ष्य में स्पष्ट हो जाते हैं ।

उदाहरण रूप से यह कहा जा सकता है कि, किसी राजपरिवार के सदस्य के लिये जब नृप होने का निश्चय कर लिया जाता है, तो उसका कलशों से अभिषेक होता है । बन्दीजन और विरुदगायक भाटों द्वारा उसके गुणों का वाणी द्वारा ख्यापन

---

१. ख.ग. स्फुटीकाया इति पाठः ।

दार्ष्टान्तिके कलशाभिषेकम्-

'दद्यात् ततोऽभिषेकं तु........।' (४४८)

इत्यत्र वक्ष्यति । वन्दितुल्या अङ्गमन्त्राः ।

गुणापादने प्रयोगमाह-

सर्वज्ञो वै भव स्वाहा परितृप्तस्तथैव च ।
अनादिबोधो भव च ततः स्वातन्त्र्यशक्तिकः ।।४४५।।
तथा त्वलुप्तशक्तिश्चानन्तशक्तिस्ततः पुनः ।

होता है । उसी तरह शिवत्व की उपलब्धि के उपरान्त भी दीक्ष्य में शब्दतः उन गुणों का वर्णन अवश्य करणीय है । दृष्टान्त में कलशों से अभिषेक की चर्चा भी शास्त्र में की गयी है । इसी पटल के श्लोक ४४८ में कहा गया है कि, दीक्ष्य का अभिषेक करना चाहिये । यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि, बन्दीजनों की तरह ही ये अङ्गमन्त्र भी होते हैं ।।४४३-४४४।।

उक्त गुणों के आपादन के लिये मान्त्रिक प्रयोग इस प्रकार करना चाहिये-

१- सर्वज्ञता के लिये-

ॐ सर्वज्ञो भव, हृदयायनमः स्वाहा ।

२- परितृप्तता के लिये-

ॐ परितृप्तो भव शिरसे स्वाहा ।

३- ॐ अनादिबोधो भव शिखायै वषट्

४- ॐ स्वातन्त्र्य सम्पन्नो भव कवचाय हुम्

५-ॐ अलुप्तशक्तिको भव ॐ जूंसः नैत्रत्रयाय वोषट्

६- ॐ अनन्तशक्तिको भव अस्त्राय फट्

इन मन्त्रों के साथ शिष्य का नाम भी जोड़ा जा सकता है । संकल्प पूर्ति के बाद कोई आवश्यक कार्य शेष भी नहीं रह जाता ।

यहाँ गुणों सम्बन्धी शास्त्रीय विषयों पर चर्चा कर रहे हैं-'कपिल' सांख्य शास्त्र के प्रवर्त्तक परमाचार्य हैं । उन्हें 'सर्वज्ञ' तो कहा जाता और माना भी जाता है किन्तु उनमें निर्विमर्श प्रकाश की चिन्मात्रता में परातृप्ति रूप जिस आनन्दवादिता की स्फूर्त्ति से पारमार्थिक तृप्ति होती है, वह नहीं है । क्योंकि सांख्य शास्त्र में इसकी कहीं चर्चा नहीं है । यह परितृप्तता इसी दर्शन का वैशिष्ट्य है ।

अत्र च प्रणवपूर्वा हृदादिमन्त्राः षट् क्रमेण पूर्वं योज्याः । सर्वज्ञा अपि कपिलादयो निर्विमर्शचिन्मात्रत्वेनानन्दशक्तिरूपतृप्तिरहिताः । केचित्तु आनन्दशक्तियुक्तत्वेऽपि भावनया तद्रूपतां प्राप्ताः, न तु अनादिबोधाः । दीक्ष्यस्य तु अनादिबोधत्वं स्थितमेव सदभिव्यज्यते, न तु अपूर्वं जन्यते । केचित्तु सदा सर्वज्ञतया अनादिबोधा अपि निर्माणशक्तिविकलत्वात् स्वातन्त्र्यहीनाः सृष्ट्यादिकर्मणि स्वतन्त्रा अपि ब्रह्मादयो न नित्यमलुप्तशक्तिकाः, निजासु रात्रिषु व्यामूढत्वात् । मन्त्रमन्त्रेश्वरादयस्तु अव्यामूढत्वेऽपि नानन्तशक्तिकास्तदपेक्षया विश्वस्य भिन्नत्वेन शक्तिरूपत्वाभावादित्येकस्यापि शिवनाथस्येत्थं व्यावृत्तिभेदेन सर्वज्ञत्वादयः षट् गुणा व्याख्येयाः ।

यहाँ कुछ साधक साधना के उच्चस्तर पर पहुँचकर आनन्दशक्ति से युक्त हो जाते हैं और तद्रूपता को भी प्राप्त कर लेते हैं । फिर भी उनमें अनादिबोधता नहीं स्फुरित हो पाती । इस सन्दर्भ में दीक्ष्य शैवमहाभाव की तादात्म्यमयी समरसता में ही शिव से अनादिबोधता पा चुका है । यहाँ तो मात्र मन्त्र से कथन मात्र किया गया है । किसी अपूर्व का परिकल्पन यहाँ नहीं किया जाता ।

कुछ सर्वज्ञता से सम्पन्न महासाधक अनादि बोधता प्राप्त करने के उपरान्त भी निर्मितिमयी नवसृष्टि सर्जना में असमर्थ ही रहते हैं । अतः यह कहा जा सकता है कि, वे स्वातन्त्र्य गुण से सम्पन्न नहीं हैं । इसी स्वातन्त्र्य के बल पर विश्वामित्र सदृश ऋषि निरुपादान सृष्टि करने में समर्थ हो जाते हैं । यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि, ब्रह्मा तो सृष्टि करने में स्वतन्त्र हैं अर्थात् वे स्वातन्त्र्य गुण से सम्पन्न हैं फिर भी उनमें एक कमी है । वे निरन्तर अलुप्त शक्तिमन्त नहीं माने जाते क्योंकि, अपनी रात्रियों में वे भी व्यामोह ग्रस्त ही रह जाते हैं ।

जहाँ तक मन्त्र और मन्त्रेश्वर पुरुषों की बात है, वे किसी समय व्यामोह ग्रस्त तो नहीं होते किन्तु अनन्तशक्ति सम्पन्नता के छठें गुण से विहीन ही रह जाते हैं । उनकी अपेक्षा विश्व का वैविध्यमय भेदवाद का विलक्षण रूप व्यक्त दीख पड़ता है । अतः यह सिद्ध हो जाता है कि, उनमें अनन्त शक्ति रूपता का अभाव ही है ।

उक्त परामर्शात्मक सोच के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि, इस विश्वात्मक प्रपञ्च प्रसार में एक भी कोई शक्तिमन्त ऐसा नहीं है, जिसमें ये छहों गुण एक साथ विद्यमान हैं । मात्र एक अकेले भगवान् शिवनाथ ही ऐसे हैं, जिनमें समस्त व्यावृत्तिमय परिवर्त्तनशीलता के सान्दर्भिक भेदों की भव्यमानता में भी एक साथ ही सर्वज्ञता आदि छहों गुण उल्लसित हैं ।

गुणानां गुणविश्रान्तिसारतां स्फुटयितुं मूलविश्रान्तिपूर्वं मूलेनैव षडाहुतीर्दद्यादित्याह–

गुणानापाद्य सर्वांस्तान्मूलमन्त्रमनुस्मरेत् ।।४४६।।
ओंहुमात्मपदोपेतं सर्वज्ञायेत्यपिश्चमम् ।
स्वाहाकारप्रयोगेण आहुतिः प्रतिपादयेत् ।।४४७।।

आत्मपदं दीक्ष्यनामपूर्वं चतुर्थ्यन्तं यतः–
'अनिर्दिष्टसमाख्यं च यत्कृतं तत्तथा भवेत् ।
तदुद्दिश्य कृतंकर्म................सं[1]शयः' ।

इस सैद्धान्तिक गहराई में डूब कर उज्ज्वल रत्न निकालते हुए भगवान् भट्टारक कर रहे है कि, ये गुण परमात्मा की पारमार्थिक गुणवत्ता में ही विश्रान्ति प्राप्त करते हैं । यह एक प्रकार की मूलविश्रान्ति मानी जाती है । अतः इस प्रक्रिया के समापादन के उपरान्त मूल मन्त्र से ही पूर्णाहुति का अर्पण भी न्याय संगत है । इसलिये सारे गुणों के आपादान के उपरान्त मूलमन्त्र का ही अनुस्मरण करना चाहिये । यही उचित है ।।४४६।।

मूलमन्त्र के विषय में विशदचर्चा इस शास्त्र में की गयी है । इसी तन्त्र के पटल १ के श्लोक ६९ में मूलमन्त्र का स्पष्ट कथन किया गया है । वहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि, हान और समादान धर्मा, आदिक्षान्त मातृका प्रस्तार रूप विश्व की प्रकृति रूप नादात्मक पराबीज रूप अनच्क अर्थात् स्वर रहित 'ह' कार जब 'ऊ' कार रूप ज्ञान शक्ति के प्रसार रूप ऊर्मिबीज ऊकार से मिलकर, सम्पूर्ण विश्व सामरस्य के संवेदक बिन्दु से समन्वित हो जाता है तो वह 'हूँ' बीज रूप निष्कल स्वच्छन्द भैरव का वाचक बीज बन जाता है ।

इसी आधार पर इस ऊह मन्त्र से आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिये । मन्त्र इस प्रकार होगा–

१– ॐ हूं (दीक्ष्य का नाम जैसे देवदत्त) देवदत्ताय सर्वज्ञाय स्वाहा ।
२– ॐ हूं देवदत्ताय परितृप्ताय स्वाहा
३– ॐ हूं देवदत्ताय अनादिबोधाय स्वाहा
४– ॐ हूं देवदत्ताय स्वतन्त्राय स्वाहा
५– ॐ हूं देवदत्ताय अलुप्तशक्तिकाय स्वाहा और
६– ॐ हूं देवदत्ताय अनन्तशक्तिकाय स्वाहा ।

---

१. ग.पु. मोक्षं चतुरेति पाठः ।

इत्युक्तमन्यत्र । सर्वज्ञायेत्युपलक्षणं तेन तृप्तायेत्याद्यपि । तच्च अपश्चिममिति एतावदन्तं पूर्वमुच्चार्य स्वाहाकारेणाहुतीर्दद्यात् ॥४४७॥

ताश्च सम्भवव्यवसायानुसारम्–

तिस्रः पञ्च दशैका वा

अत्यन्तमसम्भवे चैकाहुतावपि न क्षतिः ।

द्रव्यविषयेऽपि अत्र विकल्प एवेत्याह–

तिलैर्वाथ घृतेन वा ।

दीक्षान्ते शिष्यस्यावभृथस्नानमाह–

दद्यात् ततोऽभिषेकं तु मूलमन्त्रेण सुव्रते ।।४४८।।

मूलमन्त्रमन्त्रितेन शिवकुम्भेन मूलमन्त्रोच्चारेण वा इत्यर्थः ॥४४८॥

ये मन्त्र इस रूप में यद्यपि शास्त्र में लिखे नहीं हैं फिर भी सांकेतिक हैं । कहा गया है कि,

''यद्यपि कथन का कोई बिन्दु नहीं हो तो भी तदनुकूल यदि कार्य सम्पन्न किया जाय, तो उसी उद्देश्य से किया काम निःसन्दिग्ध रूप से सफल होता है ।''

श्लोक में अपश्चिम शब्द का अर्थ जितना कहा गया है, उतने से ही मन्त्र की प्रयोगवादिता चरितार्थ हो जाती है । अतः इसमें स्वाहा लगाकर आहुतियों का उसी उद्देश्य से अर्पण कर देना चाहिये ॥४४७॥

एक एक गुण के लिये अपने व्यवसाय की सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए कम से कम तीन तीन आहुतियों के क्रम से ६×३=१८आहुतियाँ, समय हो तो पाँच पाँच के क्रम से ३०आहुतियाँ तथा इससे भी बढ़कर दश दश आहितियाँ देनी चाहिये । अत्यन्त असम्भावना में मात्र एक एक से भी पूर्णता मान लेनी चाहिये । इसमें किसी प्रकार की क्षति की बात नहीं सोचनी चाहिये । आहुतियों के द्रव्य के मात्र दो विकल्प हैं । या तो तिलों की आहुतियाँ हों, या घी की हों, दोनों इस प्रक्रिया में स्वीकृत हैं ।

दीक्षा के अन्त में शिष्य का अवभृथ स्नान होना आवश्यक है । भगवान् भैरव भट्टारक कह रहे है कि, समय व्रतों को निष्ठा पूर्वक सम्पन्न करने वाली देवि ! दीक्षान्त का अभिषेक मूल निष्कल मन्त्र से ही पूरा करना चाहिये । वह जल जिससे शिष्य का अभिषेक किया जाय, मूल मन्त्र से अभिमन्त्रित हो, शिवकुम्भ कलश के जल से मूल मन्त्र के उच्चारण पूर्वक भरा हो, दोनों प्रकार स्वीकार्य है ॥४४८॥

कथम् ?

परं शक्त्यमृतं क्षोभ्य शिष्यमूर्ध्नि निपातयेत् ।

तुर्यद्वारं विशेत्तद्धि सबाह्याभ्यन्तरं स्मरेत् ।।४४९।।

द्वादशान्ते विश्रम्य तत्स्थानमानन्दस्पर्शात्मकं परं शक्त्यमृतं क्षोभयित्वा विमृश्य शिष्यस्य द्वादशान्तान्मूर्ध्नि पतितं भावयन् कलशाद्धारां पातयेदित्यर्थः । तुर्यद्वारं तुर्यानु-भवप्रधानं ब्रह्मरन्ध्रम् ।।४४९।।

अभिषेके प्रयोजनमाह–

मन्त्रशक्तिभिरुग्राभिः शोषनिर्दहनादिभिः ।

शरीरं शोष्यते ताभिस्तदर्थमभिषेचनम् ।।४५०।।

इस अभिषेक प्रक्रिया में कलश स्थित पराशक्ति के सामञ्जस्य से अमृत रूप में परिणत उस जल को हिला डुला कर शिष्य के शिर पर गिराना चाहिये । शिर पर गिराने से और मन्त्र शक्ति के प्रभाव से वह जल शिष्य के ब्रह्मरन्ध्र रूप तुर्यद्वार में प्रवेश कर शिष्य के बाह्य और आम्यन्तर सबको अमृतत्व से पुनीत और पुलकित कर देता है ।

वह द्वादशान्त धाम होता है । इसमें स्वयं विश्रान्त रह कर शिष्य के द्वादशान्त को लक्ष्य कर अभिमन्त्रित जल का सम्पात धारा पूर्वक करना चाहिये । उस जल का स्पर्श अमित आनन्दप्रद होता है । यह विमर्श करना चाहिये । वह विमर्श ही उस अमृत को और भी महनीय और पावन बना देता है । शिष्य के द्वादशान्त धाम से मूधा पर जल का धारा सम्पात होता है । कलश का जल धारापूर्वक शिष्य के शिर पर गिर रहा है । तुर्यद्वार तुर्यानुभव प्रधान ब्रह्मरन्ध्र ही माना जाता है । ब्रह्मरन्ध्र बाह्याभ्यन्तर को अमृतत्व प्रदान करने का एक महत्त्व पूर्ण माध्यम है ।।४४९।।

अभिषेक के प्रयोजन के सम्बन्ध में जानने का अभिलाष समझकर भगवान् बिना पूछे ही उसे व्यक्त कर रहे हैं–

मन्त्रों में अष्टमातृका शक्तियों के उल्लास के साथ ही साथ अत्यन्त प्रभावशाली तैजस शक्तियों का समवाय सदा उद्दीप्त होता रहता है । परिणामतः शिष्य का शोष भी सम्भव होता है । उसकी ज्वाला से निर्दहन की अव्यक्त क्रिया भी हो सकती है, इसका शिष्य को पता भी नहीं चल पाता है । इस प्रकार शरीर शोष से शारीरकतन्त्र प्रभावित हो जाता है । इस शोष से संरक्षण के लिये अभिषेक

ताभिः पूर्वोक्ताभिर्मन्त्रशक्तिभिः । शोषनिर्दहनादिभिरिति करणे तृतीया । तदर्थमिति शोषनिवृत्तये ।।४५०।।

अथ–

दीक्षानिर्वर्तनात्पूर्वं[1] पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ।
दर्भं विमोचयित्वा च

पूर्वं...........कल्पनाय दत्तं दर्भं विमुञ्चेति शिष्यं पारितोषिकं पुष्पमस्य हस्ते दद्यात् । यद्वा णिच् विवक्षितस्तेन गुरुरात्मनः पाणौ प्रदापयेद् देहीति शिष्यं प्रयुञ्जीत विधिर्दक्षिणाहीनो मा भूदित्यभिप्रायात् । एवं च वदन् गुरोः निःस्पृहत्वं सूचयति । शिष्यस्तत्कालं वित्तशाठ्यहीनो यद्ददाति ददातु तत्, गुरुणा तु निःस्पृहेणैव भाव्यमित्यर्थः ।

अथ शिष्यः–

शिवाग्नौ कलशे गुरौ ।।४५१।।

अनिवार्यतः करणीय कार्य माना जाता है । इससे शोष की निवृत्ति हो जाती है । मन्त्रशक्ति के चमत्कार का भान होता है । श्लोक में व्याकरण सम्बन्धी नियमों का पूर्ण प्रयोग है । जैसे निर्दहनादिभिः में करणार्थक तृतीया विभक्ति है । और ताभिः में तद्शब्द की पूर्व परामर्शकता का भी सुन्दर प्रयोग किया गया है ।।४५०।।

दीक्षा अब पूर्णता को प्राप्त कर रही है । इसमें यज्ञान्त की प्रक्रिया अपनायी जा रही है । यज्ञान्त में दक्षिणा देने की प्रथा है । इससे प्रक्रिया पूरी हो जाती है ।

निःस्पृह गुरुदेव हिरण्यमयी दक्षिणा की बात नहीं कर सकते । यह शिष्य की श्रद्धा पर निर्भर करता है । वित्तशाठ्य न करते हुए शिष्य स्वयम् दक्षिणारूप में अन्न धन वाहन पृथ्व्यादि अर्पित करता है । दक्षिणा से पहले सर्व प्रथम गुरु शिष्य को आशीर्वाद देता है । इसके लिये आशीर्वाद मन्त्र से पुष्प को अभिमन्त्रित कर शिष्य के हाथ में जीवन के जीवन्त पारितोषिक के रूप में खिला हुआ विकसित पुष्प प्रदान करता है ।

णिच् प्रत्यय का प्रयोग प्रदापयेत् क्रिया में किया गया है । इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि, शिष्य द्वारा दक्षिणा के रूप में अपने गुरु पहले शिष्य के हाथ से अपने हाथ में पुष्प देने की प्रेरणा दे । इस प्रकार श्लिष्टार्थ संसूचन के उपरान्त संकल्प के समय की पवित्री शिष्य के हाथ से निकलवा कर कहीं पवित्र स्थान पर रखवा दे । इसके बाद शिवाग्नि, कलश और गुरुदेव की प्रदक्षिणा शिष्य करे ।।४५१।।

---

१. क.ग.पु. पश्चादिति पाठः ।

प्रत्येकम्–

प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा दण्डवन्निपतेद्भुवि ।

चतुरधिकरणः शिवो मम प्रकर्षेण दक्षिणोऽनुकूलः सर्वदशासु आदिमध्यान्त-पदेष्वस्त्वित्याशयेन त्रिः प्रदक्षिणीकरणं दण्डवन्निपतनं शरीरादिगुणीकरणेन शिवसमावेशाय ।

अत एव–

कृतकृत्यः प्रहृष्टात्मा भवोत्तीर्णः सुनिर्मलः ।।४५२।।
प्रोत्फुल्लनयनः शान्तस्तृप्तात्मानं तु भावयेत् ।

कृतं पाशक्षपणशिवत्वव्यक्तिरूपं कृत्यं यस्य, अत एव प्रहृष्टात्मा पूर्णचिदानन्दानुभवोऽतश्च भवादुत्तीर्णः परमशिवत्वव्यक्त्या सुष्ठु निर्मलः तथाभूतः अपि व्युत्थानाद्यवसरेषु तृप्तात्मानमिति गुरूपदेशादिसमये पूर्णानन्दघनमात्मानमनुभूतचरं भावयेत्, येन सदैव तन्मयीभवति । अत्रोपायप्रकटनाय विशेषणोद्धारकं हेतुमाह–प्रोत्फुल्लनयनः शान्त इति ।

'कैवल्यं जायते नेत्रयोः स्तब्धमात्रयोः ।' (वि.भै.श्लो. ११३)

यह प्रदक्षिणा तीन तीन बार करनी चाहिये । प्रदक्षिणा के उपरान्त गुरुदेव के समक्ष स्पष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम की मुद्रा में भूमिपर शिष्य लेटकर हाथ आगे बढ़ाकर प्रणाम अर्पित करे । यहाँ तीन प्रदक्षिणा और दण्डवत् प्रणाम की चार बातें रहस्य गर्भित मानी जाती हैं । सारी याग प्रक्रिया के तीन मुख्य बिन्दु आदि, मध्य और अन्त यही होते हैं । गुरुदेव प्रकर्ष पूर्वक मेरे अनुकूल आजीवन बने रहें; इसके लिये तो तीन प्रदक्षिणायें की जाती है । यज्ञ का चौथा अधिकरण आराध्य परमेश्वर शिव होता है । इसलिये उसका आवेश यज्ञान्त में सबसे आवश्यक होता है । शिव सर्व व्यापक है । वह यज्ञाग्नि में, कलश में और गुरु रूप में यहाँ प्रत्यक्ष भी है । अतः अपनी शरीर को प्रधानता न देते हुए शिवावेश के लिये दण्डवत् प्रणिपात अनिवार्य रूप से करने का आदेश शास्त्र 'निपतेत्' क्रिया के द्वारा दे रहा है ।

प्रणिपात के फलस्वरूप गुरु के मुखारविन्द से आशीर्वाद के स्वर फूट पड़ते और वे बोल पड़ते हैं, वत्स ! तुम अपने कार्यों में नित्य सफलता प्राप्त करो । सर्वदा सदा प्रहृष्ट बनो और अत्यन्त निर्मल शिव रूप आत्मवान् बनो तथा भवसागर से समुत्तीर्ण हो जाओ । 'भवोत्तीर्ण' शब्द श्लिष्ट है । उत्तीर्णः भव अर्थ और भव अर्थात् संसार से उत्तीर्ण दोनों अर्थों में इसका प्रयोग किया जा सकता है ।

इति रहस्यदृष्ट्यनुसारेण निर्लक्ष्यस्तब्धदृष्टिबन्धः शान्तो विगलिताभिलाषप्रक्षीणसकल-विकल्पजालश्च ।

उपसंहरति–

इयं नैर्वाणिकी दीक्षा निर्बीजा वा सबीजिका ।।४५३।।

'अथ दीक्षाध्वशुद्ध्यर्थं..........' (स्व. ४-७९)

इत्युपक्रम्य–

'पाशसूत्रं समादाय शिष्यदेहेऽवलम्बयेत् ।' (स्व.४-९१)

इत्यतः प्रभृति–

'.............दण्डवन्निपतेद्भुवि ।' (स्व. ४-४५२)

इत्यन्तं या निर्बीजा वा सबीजा वा दीक्षोक्ता, सा उभय्यपि निर्वाणप्रयोजना । वाग्रहणेनेदमाह द्वयोरपि दीक्षयोः प्रोक्तो यः पाशक्षपणशिवयोजनात्मा विधिः स तुल्यः, केवलं निर्बीजायां मायीयपाशशुद्धिभावनावसरे समयपाशमपि अन्तःशुद्धं भावयेत्, न तु तेषां शुद्धौ विध्यन्तरमस्ति । पूर्वं हि–

गुरु के आशीर्वाद से शिष्य को आश्वासन और सन्तोष का अनुभव हुआ है । भगवान् कहते हैं कि, उस समय शिष्य को अपने को कृतकृत्य, प्रसन्न, मुक्त (भवोत्तीर्ण) निर्मल निष्पाप, शान्त और तृप्त भावित करना चाहिये । इस भावन व्यापार से उसकी आँखों में एक नयी चमक उत्पन्न हो जाती है । वह खिले और खुले नयनों से अब नये संसार को नयी दृष्टि से निहारने लग जाता है ।

गुरु के आशीर्वाद और उनके उपदेश का जो फल होता है, उसका समग्र वर्णन इस श्लोक के शब्द से झलक रहा है । वह पूर्णानन्दघन रूप में स्वात्म को अनुभूत करता है । इससे उसमें निरन्तर तन्मयी भाव का उल्लास रहता है । उसके सारे कृत्य विश्व के कार्यों में व्याप्त दोषों को दूर कर सकते हैं ।

विज्ञान भैरव नामक साधना के ग्रन्थ में श्लोक ११३ में यह स्पष्ट उल्लेख है कि,

"भगवान् के अनुध्यान में साक्षात्कार के समय साधक के नेत्र स्तब्ध और स्थिर हो जाते हैं । उस समय तत्काल कैवल्य प्रतिफलित हो उठता है ।"

'समयाचारपाशं तु निर्बीजायां विशोधयेत् ।' (स्व. ४-१४७)

इत्येतावन्मात्रमुक्त्वा–

'एवं भावानुसारेण शिष्याणां गुरुणा सदा ।
फलं तु विविधाकारं निष्पाद्येत सुदीक्षया' (स्व. ४-१५०)

इत्युक्तम् । तथा–

'............मुख्याः पाशा इमे स्मृताः ।
सूक्ष्मपाशाननेकांश्च तदन्तर्भावयेत्.....॥'

यह रहस्यमयी दृष्टि भगवदनुग्रह और गुरुकृपा से ही प्राप्त हो सकती है । उस समय साधक निर्लक्ष्य भाव से स्तब्ध दृष्टि बन्ध दृढ़तया स्थिर और शान्त हो जाता है । उसके समस्त अभिलाष विगलित हो जाते हैं । उसके सारे विकल्प जाल ध्वस्त हो जाते हैं और वह निष्पाप निर्मल चिदानन्दघन भाव से ओतप्रोत हो उठता है । इस विषय का उपसंहार करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि,

यह नैर्वाणिकी दीक्षा अर्थात् निर्वाणप्रदा दीक्षा मानी जाती है । यह दो प्रकार की होती है । १–निर्बीजानिर्वाण दीक्षा और २–सबीजानिर्वाण दीक्षा । इसी पटल के श्लोक ७९ से श्लोक ९१ तक वर्णित दोनों निर्बीजा या सबीजा दीक्षायें निर्वाण प्रयोजना मानी जाती है । इसीलिये इन्हें नैर्वाणिकी दीक्षा कहते हैं । श्लोक ७९ का पहला वाक्य है–दीक्षा द्वारा षडध्व शुद्धि के उद्देश्य से पाशों को उखाड़ कर फेंक देने वाला विधान प्रस्तुत है । इस दीक्षा से भुक्ति और मुक्ति दोनों मुट्ठी में आँवले की तरह अनायास घटित हो जाती हैं ।

यही उक्त विधान इस सन्दर्भ में सुव्यक्त किया गया है और दण्डवत् विनम्र होकर अपने को कृतकृत्य भावन करने के निर्देश के साथ पूरा कर दिया गया है । निर्बीजा और सबीजा दोनों दीक्षाओं में १–पाशों का उन्मूलन और २–शिवसद्भाव समन्वित शैव महाभाव में समायोजन दोनों समान रूप से प्रयुक्त और व्यवहृत होते हैं । केवल निर्बीजा दीक्षा में मायीय पाश को शुद्ध कर लिया है, इस भावना के आधार पर समयाचार पाश को भी शुद्ध कर लिया गया है । इस भाव का अन्तर्भावन करते हैं । इसके लिये किसी विशेष विधि का न तो कोई निर्देश है और न तो किसी विधि की आवश्यकता है । केवल भावना मात्र से ही समय पाश शुद्ध हो जाते हें ।

श्लोक ४/१४७ में यही निर्देश इस रूप में दिया गया है–

'समयाचार पाश को निर्बीजा दीक्षा में विशोधित करना चाहिये ।'

केवल इतनाही कह कर ४/१५० में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि,

इत्यप्युक्तम् । अतो निर्बीजायां समयपाशा मायीयपाशान्तर्भूता एव शोध्यत्वेन भाव्याः, तेषां क्रव्यादभोगप्रदत्वश्रुतेः, मायीयपाशान्तर्भावस्यैवोदितत्वात् । अत एव श्रीपूर्वशास्त्रे कण्ठगतमायीयपाशशुद्ध्यन्ते समयपाशशुद्धिरुक्तेत्येतावतैव [1]तन्त्रभेदः । एवं दीक्षा-द्वयविधेरेकरूपत्वेनोपसंहतत्वाद् यत् पूर्वं[2] पुर्यष्टकांशार्पणं निर्बीजैकविषयमुक्तं तदयुक्त-मेव मन्तव्यम् ॥४५३॥

एवं समयपुत्रकयोर्दीक्षामुक्त्वा आचार्यसाधकयोः प्रकमते ताम्–

येषां सबीजिका दीक्षा कुर्यात्तेष्वभिषेचनम् ।

'इस प्रकार भावना के अनुसार शिष्यों के विविध विधकार्य-परिणामों को सुपरिणामों में परिवर्त्तित करने का कार्य स्वयं गुरुदेव ही सम्पादित करें ।'

समय पाश को मुख्यपाश मान कर इन्हें मायीय पाशों के अन्दर ही भावित करने के निर्देश का यही निहितार्थ है ।

एक स्थान पर इसी प्रकरण में समयाचार पालन के अभाव में क्रव्यादत्व प्राप्ति रूप (भगवदुक्ति रूप) श्रुति के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि, ये मायीय पाश के अन्तर्गत ही माने जाते हैं ।

श्री पूर्व शास्त्र अर्थात् मालिनी विजयोत्तर तन्त्र में कण्ठगत मायीय पाश की शुद्धि के अनन्तर समय पाश की शुद्धि की बात मायीयपाशान्तर्भाव सिद्धान्त के विपरीत है किन्तु यह तन्त्रान्तरीय मतवाद का वैभिन्य है । इससे मूलकथन में कोई अन्तर नहीं होता । इस तरह निर्बीजा और सबीजा दोनों की एक रूपता ही सिद्ध होती है । इस दृष्टि से पहले जो पुर्यष्टकांशार्पण की बात कही गयी है, और उसे निर्बीजा विषयक कहा गया है (४/१६७) वह भगवदुक्ति होने के कारण ही मान्य है ॥४५३॥

सबीजा नैर्वाणिकी दीक्षा समयी के लिये और निर्बीजा नैर्वाणिकी दीक्षा मुमुक्षु पुत्रक के लिये निर्धारित हैं । इनका वर्णन करने के उपरान्त आचार्य और साधक विषयक अभिषेक की चर्चा करने का उपक्रम कर रहे हैं–

जिन्हें सबीजा दीक्षा भोग मोक्ष दोनों की उपलब्धि के उद्देश्य से दी गयी है, वे वस्तुतः ज्ञानी और विद्वान् तथा जानकार होते हुए जागतिक द्वन्द्व के प्रतिसहिष्णु रहते हुए श्रेयस् की सिद्धि के लिये अग्रसर रहते हैं । उन्हें ही सबीजा दीक्षा देने का विधान किया गया है । ऐसे शिष्यों को ही चाहे आचार्यत्व में अभिषिक्त करना चाहिये या साधकत्व में अभिषिक्त करना चाहिये ।

---

१. ख.पु. तत्रैति पाठः । २. ख.ग.घ.ङ.पु. पूर्वपुर्यष्टकानां तर्पणमिति पाठः ।

विद्वद् द्वन्द्वसहानां तु सबीजेत्युक्तत्वात् तानेवाचार्य[1]त्वे साधकत्वे वाभिषिञ्चे-दित्यर्थः ।

तत्र–

श्रुतशीलसमाचारान्देशकत्वे नियोजयेत् ।।४५४।।

श्रुतं पारमेश्वरसंहितायां गुरुतस्तात्त्विकार्थपरिज्ञानम्, शीलं वाङ्मनःकायविषया यमनियमाः, सम्यगाचारः शास्त्रानुष्ठानात्मा, एते विद्यन्ते येषां तान्, दिशतीति देशकः, उपदेष्टा आचार्यः, तद्रूपत्वे नियुञ्जीतेत्यर्थः ।

अथाभिषेक आचार्ये शिवयोगादनन्तरम् ।

शिवयोगो योजनान्तो दीक्षाविधिस्तस्य पश्चात् ।

केन कार्य इत्याह–

पञ्चभिः कलशैर्भद्रे सितचन्दनलेपितैः ।।४५५।।

इन शिष्यों में भी आचार्य (देशक) की परिभाषा का इस दृष्टि से उल्लेख किया गया हे कि, ऐसे व्यक्ति ही सामाजिकता को नयी दिशा दे सकते हैं । उनमें तीन गुण अनिवार्य रूप से रहने चाहिये । १–श्रुत, २–शील और ३–समाचार ।

१– श्रुत शिष्य– पारमेश्वर संहिता का पूर्णार्थ और निहितार्थ दोनों गुरु के मुखारबिन्द से तात्त्विकता से सुनकर सारे ज्ञान को आत्मसात् कर चुका हो । ऐसा शिष्य ही 'देशक' हेतु अभिषिक्त किया जा सकता है ।

२– शीलवान् शिष्य– मन, वचन और कर्म से यमो-नियमों का पालन कर व्यवहार वाद में दक्ष हो । ऐसे शिष्य भी इस दृष्टि से अभिषेच्य हैं ।

३– शास्त्रों की देशनाओं को बिना हिचक अनुष्ठित करता हुआ 'समय' रूप से दर्शित नियमों और आचारों के पालन की कसौटी पर सदा खरा उतरा हो ।

ये तीनों गुण जिन शिष्यों में विद्यमान होते हैं, उन्हें देशक के रूप में अभिषिक्त करना ही चाहिये । देशक का विग्रह वाक्य है–दिशति इति देशकः । उपदेष्टा आचार्य ही देशक कहलाने का अधिकारी है । अतः उक्त गुण सम्पन्न शिष्य को आचार्य पद पर नियोजित करना चाहिये ।।४५४।।

शिव योग सिद्ध योगी को शैव महाभाव में पूर्ण रूप से नियोजित हो जाने के बाद ही आचार्य पद पर अभिषिक्त किया जा सकता है । उसकी विधि के रूप में निर्देश दे रहे हैं । भगवान् कह रहे हैं कि, श्रेयस्करी देवि ! भद्र अर्थात् कल्याणकारी भैरवि ! पाँच कलशों के शिवाम्भस् से उसे अभिषिक्त करना चाहिये ।

---

१. ख.ग.पु. त्वेनेति पाठः ।

शिवकुम्भवदभ्यर्च्य [१]रत्नगर्भाम्बुपूरितैः ।
ऋद्धिवृद्ध्यादिभिः पूतैरोषध्यक्षतपूरितैः ।।४५६।।

श्वेत चन्दन से वे कलश पहले ही उपलिप्त किये हुए होते हैं । कई तरह की वास्तु सिद्ध अनुलेपन की वस्तुयें बाजार में मिलती हैं । उनमें चन्दनलेप सर्वोत्कृष्ट माना जाता है । इसीलिये इसी का स्पष्ट निर्देश है ॥४५५॥

अभिषेक के पहले शेष आन्तरालिक कार्यों का वर्णन श्लोक ४६७ तक कर रहे हैं-

उन कलशों की साज सज्जा और उनकी पूर्त्ति में जो शास्त्रीय विधान मान्य हैं, उनके अनुकूल वे तैयार रहते हैं । उन्हीं कलशों की विशेषता में यह ४५६ और श्लोक ४५७ की अर्धाली चरितार्थ है । कलश को आकर्षक रूप देने की पहली प्रक्रिया चन्दन से उपलिप्त रखने की है । श्लोक ४५५ में वह निर्दिष्ट है । अन्य विशेषतायें क्रमशः इस प्रकार हैं-

१– रत्नगर्भाम्बुपूरितैः– चन्दन से उपलिप्त कलश कोष को रत्न, हिरण्य और रजत आदि से पूर्ण रहना चाहिये ।

२– ऋद्धि वृद्धि आदि से परिपूत– ऋद्धि और वृद्धि आयुर्वेद की प्रसिद्ध औषधियाँ हैं । ये बड़ी पावन मानी जाती हैं ।

३– ओषध्यक्षतपूरितैः– अन्यान्य गुणकारी आयुर्वेद निर्दिष्ट पावन औषधियाँ जैसे 'सहदेवी' रक्तपर्णी और शंखपुष्पी आदि से भी कलश को पुनीत रखना चाहिये ।

४– उस कलश के मुख पर उद्गार व्यक्त करते हुए के समान खिले हुए श्वेत कमल रखे हुए हों । आजकल आम्र पल्लव रखते हैं । इसका भी पूर्व समय में प्रचलन था । इसीलिये अन्त में इसका भी उल्लेख किया गया है कि,

५– चूतपल्लवसंयुतैः– अर्थात् पाँच पल्लवों से समन्वित एक लघुशाखिनी टहनी को कलश के मुख पर रखा गया हो ।

ऐसे पाँच कलशों के पावन पवित्र ओषधि गुणों से समन्वित जल से आचार्य का अभिषेक करना चाहिये ।

कलशों के इस गुणवत्ता युक्त वर्णन से कई प्रकार के आध्यात्मिक संकेत भी मिलते हैं । जैसे –

---

१. ख.पु. रत्नगन्धेति पाठः ।

सितपद्ममुखोद्गाश्चूतपल्लवसंयुतैः ।

ऋद्धिवृद्धी आयुर्वेदप्रसिद्धे ओषध्यौ । पृथगोषधीशब्दः सहदेव्यादौ । सितपद्मान्येव मुखानि तैरुद्गार उल्लासो भागमोक्षलक्ष्मीपरामर्शश्च विद्यते येषाम् । चूतपल्लवादीनि सच्छायपत्रान्तराद्युपलक्षणाय ।

अथैतेषु–

पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पञ्च पञ्चसु विन्यसेत् ।।४५७।।
कलशेषु महादेवि पुनश्चैव कलाः न्यसेत् ।

ताश्च–

निवृत्त्याद्याः कलाः पञ्च तेषु चैवात्र विन्यसेत् ।।४५८।।

तेष्विति पृथिव्यादिषु व्यापकत्वेन चकारः [1]सहक्रमं सूचयति ॥४५८॥

तेष्वेवासनपक्षे–

[2]एकैककलशे व्याप्यो ह्यनन्तादिशिवान्तकः ।

भुवनेशपुञ्जः ।

तत्र च–

पूजयेद्भैरवं देवं सर्वसम्भारकैः क्रमात् ।।४५९।।

१– ओषधियों के प्रयोग से वातावरण को अत्यन्त पवित्र रखने का उद्देश्य निहित था ।

२– कमलोद्गार में कालिका, लक्ष्मी और सरस्वती के मध्यम से वाक् परामर्श का महत्त्व भी संकेतित था । और फलों के सम्राट् आम्रफल के प्राधान्य का भी निर्देश निहित है ॥४५६॥

उन पाँचों कलशों में पृथिव्यादि पञ्चतत्त्व क्रमशः विन्यस्त किये जाने चाहिये । और इन पाँचों में निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता और शान्तातीता कलाओं का भी विन्यास करना चाहिये । पृथिवी आदि व्यापक तत्त्वों में कलाओं का विन्यास उनको और भी मौलिकता प्रदान करता है ॥४५७-४५८॥

इन्हीं कलशों में प्रत्येक में अनन्त से शिव पर्यन्त भुवनेश्वर रूप ये समस्त देववर्ग भी कलशों में मन्त्रशक्ति के द्वारा व्याप्त रहते हैं । इनमें व्याप्त भगवान् भैरव देव की पूजा सारे साज सम्भार के साथ की जानी चाहिये । इनकी पूजा छः आवरणों में की जाती है । इसे षडङ्गावरण पूजा कहते हैं । पूजा में मन्त्रानुसंधान एक

---

१. क.पु. चकार एव सहेति पाठः । २. ख.पु. तेष्वेकेति पाठः ।

षडङ्गावरणोपेतं मन्त्रसन्धानसंयुतम् ।

क्रमो निवृत्तिकलशः पूर्वमित्यादिरूपः, आवरणानि श्मशानवर्जानि इति केचित् ।

एवं सम्पूज्य–

भैरवेणाभिमन्त्रेत एकैकं कलशं प्रिये ।।४६०।।

अष्टोत्तरशतेनैव परतत्त्वमनुस्मरन् ।

एषां कलानुसारां दिक्स्थितिमाह–

वारुण्यां सौम्ययाम्यायामेन्द्र्यमैश्यां तथैव च ।।४६१।।

आवश्यक तत्त्व है । इस पूजा में भी क्रम का ध्यान रखना ही चाहिये । जैसे पहले निवृत्ति कलश में पूजन आदि ।

इस तरह पूजन के उपरान्त भैरव मन्त्र से एक एक कलश का अभिमन्त्रण आवश्यक है । यह अभिमन्त्रण में परतत्त्व का अनुसरण अवश्य करना चाहिये और १०८ (अष्टोत्तरशत) मन्त्रों से ही अभिमन्त्रण करना चाहिये ।।४५९-४६०।।

कलाओं के अनुसार कलशों की दिक् स्थिति का विचार रखते हुए उन्हें रखने का विधान भी शास्त्र करता है । जैसे–

१–निवृत्तिकला की दिशा पश्चिम है । अतः निवृत्ति कलश पश्चिम में रखना चाहिये ।

२–प्रतिष्ठादिक् उत्तर है । अतः प्रतिष्ठा कलश उत्तर दिशा में रहना चाहिये ।

३–विद्याकलादिक् दक्षिण है । अतः विद्या कलश दक्षिण में रहना चाहिये ।

४–शान्तादिक् ऐन्द्री अर्थात् पूर्व है । अतः शान्ता कलश पूर्व में रखना चाहिये ।

५–पाँचवी शान्त्यतीता कला की दिशा ईशान कोण मानी जाती है । अतः शान्त्यतीता कलश को ईशान कोण पर रखा जाना चाहिये और इसी क्रम में इनकी पूजा होनी चाहिये ।

इस पूजन के बाद ही अभिषेक का कार्य पूर्ण करना चाहिये ।।४६१।।

सम्पूज्यैवं विधानेन[1] अभिषेकं समाचेरत्[2] ।

तत्र–

यागहर्म्यस्य ऐशान्यां पीठं सङ्कल्पयेद्बुधः ।।४६२।।

पीठमासनम् ।।४६२।।

कथम् ?

तत्र मण्डलकं कृत्वा स्वस्तिकादिविभूषितम् ।
वितानोपरिसंछन्नं ध्वजैश्च परिशोभितम् ।।४६३।।
तत्रासनं न्यसेद्देवि श्रीपर्णीचन्दनोद्भवम् ।

श्रीपर्णीचन्दने प्रशस्तपदत्वोपलक्षणे[3] ।

तत्रानन्तासनं न्यस्य मूर्तिभूतं शिशुं न्यसेत् ।।४६४।।
पूर्ववत्सकलीकृत्य ऐशान्यभिमुखं स्थितम् ।

तत्रेति श्रीपर्ण्याद्यासने शिशुमाचार्यो चिकीर्षितम् ।

यह भी ध्यान देने की बात है कि, और पूछा भी जा सकता है कि, अभिषेक किधर निर्मित किया जाना चाहिये ? उसी का उत्तर भगवान् भैरव दे रहे हैं । उनका कहना है कि, यागगृह की ईशान दिशा में ही अभिषेक के लिये पीठ अर्थात् आसन बनाना चाहिये । ऐसा सङ्कल्पपूर्वक प्राज्ञ पुरुष को करना चाहिये ।।४६२।।

याग गृह में अभिषेक के लिये एक अलग मण्डल बनाया जाना चाहिये । उसमें स्वस्तिक आदि अल्पनाओं से अलङ्कृत किया जाना चाहिये । उसके ऊपर एक वितान बनाकर उस स्थान को एक अलग महत्त्व दिया जाना चाहिये । ध्वजों से उसे सुशोभित कर सजा देना चाहिये । उसी में भगवान् कह रहे हैं कि, देवि ! श्रीपर्णीचन्दन चन्दन से निर्मित आसन की परिकल्पना करनी चाहिये । ऐसे प्रशस्त आसन पर उस अभिषेच्य को मूर्त्ति रूप से प्रतिष्ठित करना चाहिये ।।४६३-४६४।।

मूर्तिभूत अभिषेच्य में सकलीकरण की पूर्ण प्रोक्त प्रक्रिया अपनायी जानी चाहिये । तथा उसे ईशान कोण की ओर मुखकर बिठलाना चाहिये । आसन श्री पर्णीचन्दन का है । अभिषेच्य शिष्य आचार्य पद प्राप्ति का अभिलाषी है । ईशानाभिमुख वह अवस्थित है । इस दशा का आकलन हमें हजारों वर्ष पहले सम्पन्न होने वाले जीवन में उत्कर्ष का आधान करने वाले कार्यक्रमों द्वारा होता है ।

अथ–

---

१. ख.पु. विधिनानेनेति पाठः । २. क.पु. समारभेदिति पाठः ।
३. ग.पु. प्रशस्ततारूपलक्षणे इति पाठः ।

गन्धपुष्पादिनाभ्यर्च्य निर्भर्त्स्यः काञ्चिकौदनैः ।।४६५।।
मृद्भस्मगोमयैः पिण्डैर्दूर्वाङ्कुरसमाश्रितैः[१] ।
सिद्धार्थदधितोयैश्च नीराजनसमन्वितैः ।।४६६।।

काञ्चिकादिद्रव्यपूर्णेन कुम्भेनोपरि निःशेषराजनात्मतया नीराजनादिदिप-युक्तेन निर्भर्त्स्यः प्रशान्तविघ्नः शिशुः कार्य इत्यर्थः ।

अथ–

निर्भर्त्स्यैवं विधानेन अभिषेकं प्रदापयेत् ।
पृथिव्यादिघटास्यैर्वा धामानुस्मृत्य सेचयेत् ।।४६७।।

प्रथायें भी विचित्र विचित्र रूप से प्रचलित होती हैं । उस श्रीपर्णीचन्दन के आसन पर बैठे हुए आचार्य पदाभिलाषी शिष्य की पहले तो गन्ध पुष आदि से पूजा का विधान किया गया है । उसके तुरत बाद काञ्चिक नाम वृक्ष के बीजों की गुद्दियों से बनाये भात को उठा उठा कर उसके ऊपर प्रक्षेप भी करते हुए उसे निर्भर्त्सित भी करने की बात का यहाँ उल्लेख है ।

इस ओदन के साथ मिट्टी, भस्म, गोबर को मिलाकर गोल टुकड़ों को उसके ऊपर फेंकने का विधान भी है । उसमें दूबके अङ्कुरों को पीस कर उसका रस निकाल कर उसमें मिलाने की प्रथा भी उल्लिखित है । उसमें सिद्धार्थ अर्थात् सरसों और दही का पानी भी मिला होना चाहिये । इसका मिश्रित घोल भी किया जाय ।

कल्पना कीजिये इन उक्त पदार्थों को पानी में घोल कर एक घड़े में रखकर उसके ऊपर उड़ेल कर नहलाया जाय तो कैसा दृश्य होता है । तुर्रा यह कि उसके बादनीराजन दीप भी मिले हुए हों । यह प्रक्रिया इसलिये अपनायी जाती थी कि, ऐसा करने से कोई विघ्न वहाँ नहीं हो सकेगा । इस प्रथा का पूरा प्रचार रहा होगा । इस समय पञ्चगव्य स्नान की प्रथा है ।।४६५-४६६।।

इस प्रकार समस्त विघ्नों के विनाश के लिये निर्भर्त्सन के विचित्र व्यापार के बाद उसका अभिषेक करना चाहिये । इस अभिषेक के लिये मिट्टी आदि के घड़ों के द्वारा उन कलशों से जल लेकर करना चाहिये अथवा उन्हीं कलशों

१. ख.पु. समन्वितैरिति पाठः ।

ईशानान्तैः[१] पृथिव्यादिकलशानामास्यैर्वक्त्रैः सिञ्चेत्। णिजविवक्षितोऽत्रैव-मन्यत्र। घटाद्यैरिति त्वपपाठः ॥४६७॥

किञ्च,

क्रमाद्ध्यात्वा कलशेषु

निवृत्त्यादिव्याप्तिक्रमेण चिन्तयित्वा इत्यर्थः।

कः ?

आचार्यः सुसमाहितः।

शिवावेशशालीत्यर्थः।

अथायं यथायथम्-

अभिषिक्तोऽन्यवासस्तु परिधाप्याचमेत्ततः ॥४६८॥

मायीयकञ्चुकप्रक्षेपव्याप्त्या पूर्ववस्त्रत्यागः। परमशिवप्रकाशपरीतताव्याप्त्या अन्यद्वासः परिदधीत ॥४६८॥

से करना चाहिये। इस प्रक्रिया में धाम मन्त्र का अनुस्मरण आवश्यक है। अनुसरण पूर्वक ही अभिषेचन करना चाहिये। यह अभिषेक पश्चिम कलश से प्रारम्भ कर ईशान पर्यन्त पाँचों कलशों के जल से किया जाना चाहिये। श्लोक में घटास्य पाठ ही ठीक है। घटाद्य पाठ अपपाठ है ॥४६७॥

कलशों में कलाओं का विन्यास है। अतः कलाओं के क्रम का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। पहले निवृत्ति के क्रम से शान्त्यतीता पर्यन्त कलाओं से ईशान पर्यन्त यह अभिषेक होता है। इस प्रक्रिया का सम्पादन यज्ञ का आचार्य करता है। शिव के आदेश में सतत समाहित वह आचार्य इसे विधि विधान पूर्वक सम्पन्न करता है।

अभिषेक का कार्य इस प्रकार शैव अनुग्रह से पूर्ण होता है। अभिषिक्त शिष्य अब आचार्य के अधिकार का स्पर्श कर चुका है। इस समय वह नवीन वस्त्र धारण करता है। पहले पहने हुए वस्त्र का परित्याग कर देता है, नूतन वस्त्र धारण करने पर आचमन का विधान है, जिसे वह पूरा करता है। पूर्व वस्त्र परित्याग का रहस्य यह है कि, उसमें मायीय कञ्चुक की व्याप्ति थी। उसका त्याग आवश्यक होता है। दूसरे नूतन वस्त्र धारण करते समय यह ध्यान देना चाहिये कि, इसमें परम शिव की प्रकाश रश्मियाँ व्याप्त है। उसको पहनने वाले में भी प्रकाश की प्रभा की व्याप्ति स्वभावतः ही हो जाती है ॥४६८॥

---

१. ख.पु. ईशान्तैरिति पाठः।

आचान्तजलं शिष्यम्-

प्रविश्य दक्षिणां मूर्तिं

तत्रास्य व्याख्यातव्याप्त्यानन्तासनरूपम्-

योगपीठं प्रकल्पयेत् ।

तत्रैवम्

संस्थाप्य सकलीकृत्य

अस्मै-

अधिकारं प्रकल्पयेत् ।।४६९।।

कथमित्याह-

उष्णीषं मुकुटाद्यांश्च छत्रं पादुकमासनम् ।
हस्त्यश्वशिविकाद्यांश्च राजाङ्गानि ह्यशेषतः ।।४७०।।
करणीं कर्तरीं खटिकां स्रुक्स्रुवौ दर्भपुस्तकम् ।
अक्षसूत्रादिकं दत्त्वा

शिष्य ने आचमन कर लिया । अब उसे अनन्तासन रूप से प्रकल्पित दक्षिणा-मूर्त्ति के योगपीठ आसन पर संस्थापित करना चाहिये । उस आसन पर बिठलाकर उसे उसके अधिकारों का निर्देश करना चाहिये । इस निर्देश के पहले, उसे निर्मित उष्णीष (पगड़ी) या मुकुट आदि जो तैयार हो, पहनाना आवश्यक है । उसके छत्र का प्रबन्ध भी पहले से ही कर लेना चाहिये । इसके साथ ही नयी पादुका की व्यवस्था होनी चाहिये । राज्यासन, हाथी, घोड़े, शिविका (डोली) आदि राजचिह्न राज्याङ्ग रूप से पूरे परिवेश के साथ व्यवस्थित करना चाहिये ।।४६९-४७०।।

इसके साथ ही करनी, कैंची, खटिका, स्रुक्, स्रुवा, दर्भ, सम्प्रदायसिद्धान्त निर्देशक ग्रन्थ, अक्षसूत्र आदि भी देने का विधान शास्त्र करता है । शिर पर बाँधने के लिये पगड़ी, सुन्दर आकर्षक और अलङ्कृत करने के उद्देश्य से मुकुट धारण कराया जाता है । राज्यस्वामी की यात्रा में तुर्य और भेरी आदि वाद्यों का प्रयोग होता है । इसीलिये इन्हें राजाङ्ग कहते हैं । आचार्य के राज्यवत् अभिषेक के कारण इस अवसर पर तुर्य आदि वाद्य बजाये जाने चाहिये । आचार्य की सुविधा के लिये करणी आदि का प्रबन्ध होता है । श्लोक में आदि शब्द का प्रयोग किया गया है ।

उष्णीषश्च शिरसि बन्धनाय पटः, मुकुटादिकमाभरणजातं भूषणार्थम्, शिविका युग्यम्, राजाङ्गानि तूर्यभेर्यादीनि, करण्याद्याचार्यतोपयोगि आदिग्रहणात् दूत्यर्घपात्रादिकम् ।

अधिकारं व्याचष्टे-

चतुराश्रमसंस्थिताः ।।४७१।।

दीक्ष्यानुग्रहमार्गेण दीक्षा व्याख्या त्वया सदा ।
अद्यप्रभृति कर्तव्येत्यधिकारः शिवाज्ञया ।।४७२।।

चतुर्ष्वपि आश्रमेषु ये स्थितास्तेषां त्वया दीक्षा व्याख्या च कार्या, कथं दीक्ष्याणामायातशक्तिपातत्वात् दीक्षार्हाणामनुग्रहमार्गेणानुजिघृक्षया न तु स्नेहलोभादिना, सदेति न कदाचिदपि परानुग्राहितां विना स्थेयमित्यर्थः । इत्ययमसौ शिवाज्ञयैव तवाधिकार आयातो न त्वत्रान्यस्य कस्यापि शक्तिरित्याज्ञा देयेत्यर्थः ॥४७२॥

अथ तम्-

उत्थाप्य हस्तौ संगृह्य मण्डले तु प्रवेशयेत् ।

किञ्च,

जानुभ्यां धरणीं गत्वा सम्पूज्य भैरवं ततः ।।४७३।।

उसका यह अर्थ लगाना चाहिये कि, आचार्य के लिये दूती और अर्घपात्र आदि जो भी उसके जीवन व्यवहार में आवश्यक हो उसकी पूर्त्ति करनी चाहिये, ऐसे अमित आनन्द के अवसर पर उसे यह अधिकार दे दिया जाता है, आप अब चारों आश्रमों के लोगों को दीक्षा दे सकते हैं ॥४७१॥

अधिकार के सम्बन्ध में और स्पष्टीकरण कर रहे हैं-

याग के आचार्य उससे कहते हैं कि, वत्स ! अब तुम साधिकार आचार्य पदवी पर प्रतिष्ठित कर दिये गये हो । सभी ऐसे शिष्य जिन पर गुरुद्वारा शक्तिपात भी किया जा चुका है, उनको उत्कर्ष की ओर अग्रसर करने के लिये स्वयम् अनुग्रह कर उनके हित और कल्याण के लिये दीक्षा दे सकते हो । यह कार्य भगवत्कृपा से तुम निरन्तर सम्पन्न कर सकते हो । भगवान् शिव की आज्ञा के अनुसार तुम्हें आचार्य के सारे अधिकार दिये जा रहे हैं । ये अधिकार भगवान् शिव की ही आज्ञा से प्राप्त हो रहे हैं । इसमें किसी दूसरे की आज्ञा, आदेश या प्रेरणा नहीं है ॥४७२॥

अब याग के आचार्य उसके दोनों हाथों को थाम कर उसे उसके आसन से उठाकर पूर्व निर्मित मण्डल में प्रवेश कराने की व्यवस्था करें । वहाँ ले जाकर भगवान् के समक्ष वज्र मुद्रासन पर घुटनों के बल बैठकर भैरव की पूजा सम्पन्न करें ।

विज्ञाप्य

किम् ?

भगवन्नेवमभिषिक्तस्त्वदाज्ञया[1] ।

आचार्यपदसंस्थेन तवानुज्ञाविधायिना ।।४७४।।

त्वदाज्ञयैवमाचार्यपथे स्थितः ।।४७४।।

तवाज्ञयैव चायमभिषिक्त इति विज्ञाप्य–

कर्तव्यं यत्तदायातमधिकारं तु देशके ।

शिवतत्त्वार्थकथनं शिवस्य पुरतः स्थितः ।।४७५।।

यत् गुरुपारम्पर्येणायातं शिवतत्त्वार्थकथनमवश्यकर्तव्यं तदहं तवैव शिवस्य पुरतः स्थितोऽस्य करोमीति विशेषकथनम्, कीदृगधिक्रियतेऽनुगृहीतस्त्वद्रूपः[2] सम्पद्यते येन तादृक् ।।४७५।।

पूजनोपरान्त श्रद्धा पूर्वक विज्ञापित और निवेदित करें कि, भगवान् ! यह शिष्य आपकी आज्ञा के ही अनुसार अभिषिक्त किया गया है । अब यह आचार्य के पद पर प्रतिष्ठापित है । इसका यह कर्त्तव्य है कि, यह आपकी देशनाओं का सदा आदर करे और पालन करता रहे ।।४७३-४७४।।

इसके अतिरिक्त इसका यह भी कर्त्तव्य है कि, यह अभिषेकानन्तर शास्त्रीय विधियों से प्राप्त अपने अधिकारों का शिष्यों द्वारा पालन भी कराये । क्योंकि अब यह 'देशक' बन गया है । उसके कर्त्तव्यों में शिव के समक्ष शिवावेश आविष्ट रहते हुए शिव तत्त्व के निहितार्थों पर पूर्ण प्रकाश डालता रहे । गुरु परम्परा से प्राप्त, शास्त्रों में निर्दिष्ट आयात अधिकार अवश्य कर्त्तव्य हैं, इन पर सदा ध्यान दे और दिलाये । याग का आचार्य इन बातों का कथन भगवान् के विग्रह के सामने ही व्यक्त करे । यह भी स्पष्ट कर दे कि, भगवन् ! यह आप द्वारा अनुग्रह करने योग्य है । आप इसे ऐसी शक्ति प्रदान करें भगवन् कि, यह सदा अपने कर्त्तव्य पथ पर अग्रसर रहे ।।४७५।।

---

१. ग.पु. तवाज्ञयेति पाठः ।   २. क.पु. अनुगृहीतृरूपं इति पाठः ।

अथ–

निर्गत्य भवनादग्नौ कलाध्वानं तु होमयेत् ।

तत्रादौ मूलमन्त्रक्रमेण–

मन्त्रतर्पणकं कृत्वा

प्रत्येकम्–

कलानां पञ्च चाहुतीः ।।४७६।।

दद्यात् ।।४७६।।

तदित्थम्–

पञ्च पञ्चसु सर्वासु हुत्वा पूर्णाहुतिं गुरुः ।

अर्थान्मूलेन दद्यात् ।

अथ–

अर्घपूजादिकं कृत्वा प्रणम्य ख्यापयेत्प्रभोः ।।४७७।।

किम् ?

अभिषिक्तो मयाचार्यस्तदर्थं मन्त्रतर्पणम् ।

वह्नौ कृतमित्येतद्वस्तु ख्याप्यमित्यर्थः ।

अथास्य–

हृदाद्यैः पञ्चभिश्चाङ्गैर्दक्षिणं लाञ्छयेत्करम् ।।४७८।।

अब शैव मण्डल से निकल कर यज्ञ कुण्ड के समीप पहुँचे । कुण्ड में यह कलाध्वा सम्बन्धी हवन करे । पाँचों कलाओं सम्बन्धी हवन करने के उपरान्त मन्त्र तर्पण करे । आहुतियाँ पाँच पाँच की संख्या में कलाओं के क्रम से अर्पित करे ।।४७६।।

निवृत्ति कला में पाँच आहुतियों के क्रम से पाँचों कलाओं के मन्त्रों के साथ मूलमन्त्र से पच्चीस आहुतियाँ अर्पित की जानी चाहिये । यह प्रक्रिया स्वयं गुरुदेव पूरी करें । इसके बाद भगवान् को अर्घ्य प्रदान कर पूजा करें और अब तक की सारी क्रियाशीलता का ख्यापन करें ।।४७७।।

ख्यापन तो पहले भी किया गया है । यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि, भगवन् ! मैंने आचार्य पद पर इस शिष्य को प्रतिष्ठित किया । इसके लिये मैं मन्त्र तर्पण अनुष्ठित कर रहा हूँ । तत्पश्चात् हृदादि पाँच अङ्गमन्त्रों से अभिषिक्त आचार्य के हाथों को मन्त्रित करने की कृपा करें । इसमें नेत्रमन्त्र का प्रयोग वर्जित है ।।४७८।।

नेत्रस्य मूलाभिन्नव्याप्तिकत्वात्तद्वर्जितैः ।

कथम् ?

दर्भोल्मुकं शिवाग्नौ तु

कृत्वा ।

तेनैव–

कनीयस्यादि लाञ्छयेत् ।

कनीयस्याद्यङ्गुलीः हृदादिमन्त्रैः क्रमेण दर्भोल्मुकेन स्पृशेत्; येनास्य मन्त्रा दीप्ताः करणरूपा तत्तत्कार्यशक्ता भवन्ति, एतत्करस्पर्शात्पाशा दग्धबीजकल्पा यान्तीत्यर्थः ।

इत्थं समुत्पन्नाभिषेकस्य विधिरयं फलत्विति धिया पारितोषिकम्–

पुष्पं पाणौ प्रदद्यातु

तं च–

मण्डलाग्नौ प्रपातयेत् ।।४७९।।

शिष्यं दण्डवत्प्रणामार्थम् ।

स च–

भैरवं कलशं चाग्निं नमस्कृत्य तु दण्डवत् ।
लब्धाधिकारो हृष्टात्मा दृष्टादृष्टफलान्वितः ।।४८०।।

इसके बाद वहाँ रखे कुश पुञ्ज उठावे । उसके अग्रभाग को आग में जलाकर उसे उल्मुक रूप दें । लकड़ी के जले अग्रभाग को लुआठी कहते हैं । कबीर ने 'लिये लुकाठा हाथ' का प्रयोग किया है । कुशा के जलते अग्रभाग वाले को उल्मुक कहते हैं । इस उल्मुक के शिष्य की कनिष्ठा अङ्गुलियों के क्रम से हृदादि अङ्गमन्त्रों को पढ़ते हुए स्पर्श करावे । इस क्रिया का सुपरिणाम यह होता है कि, शिष्य को दिये गये मन्त्र दीप्त हो उठते हैं तथा तुरत प्रभावशाली हो जाते हैं । इस उल्मुक स्पर्श से सभी पाश भी दग्ध हो जाते हैं । दग्ध बीज की तरह निष्कल हो जाते हैं ।

अब गुरुदेव आशीर्वादमय पारितोषिक के रूप में उसके हाथ में खिला फूल रखे । शिष्य उस आशीर्वाद में प्राप्त फूल को अग्निप्रमाता के यहाँ न्यास रूप में रख छोड़ने के उद्देश्य से अग्निकुण्ड में डाल दे ।।४७९।।

अब वह अधिकार प्राप्त आचार्य भैरव देव, कलश और अग्निदेव के समक्ष दण्डवत् प्रणिपात पूरा करले । स्वयं शैवमहाभाव से भावित रहकर परमानन्द प्रहर्ष से हृष्ट रहने का अनुभव करे । उसे दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार के फल प्राप्त हो जाते हैं । दृष्ट फल यह माना जाता है कि, वह जीवन्मुक्त हो गया होता है । अदृष्ट फल परमशिव तत्त्वोपलब्धि रूप होती है ।।४८०।।

स गुरुः शिवतुल्यस्तु शिवधामफलप्रदः ।

दण्डवदित्यादावभिप्राय उक्त एव, दृष्टं फलं जीवन्मुक्तिः, अदृष्टं तु परमशिवतत्त्वम् ।

एवं पुत्रकाचार्यविषयं विधिं निर्वाह्य साधकविषयं तमुपक्रमते–

शान्त्यन्ते भूतिदीक्षा च सदाशिवपदात्मिका ।।४८१।।

भूतिदीक्षा सदाशिवान्ताणिमादिभोगदीक्षा, शान्त्यन्ते शान्त्यन्तपदे योजनान्ते इत्यर्थः, चकारात् शिवयोजनिकारूपापि यतो–

'येषां सबीजिका दीक्षा कुर्यात्तेष्वभिषेचनम् ।' (४-४५४)

इत्युपक्रान्तम् । सबीजिका च शिवयोजनिकात्मैवोक्तो । अत एवोक्तमन्यत्र–

'अप्रसादाद्भवेत्सिद्धिः प्रसादाच्छांकरं पदम् ।'

ऐसा दीक्षित आचार्य पद पर प्रतिष्ठित और अधिकृत गुरु स्वयं शिवतुल्य हो जाता है । उसमें इतनी शक्ति भर जाती है, जिससे वह स्वयं शिवधाम प्राप्ति रूप फल प्रदान करने में समर्थ हो जाता है ।

उक्त सारे विषय पुत्रक और आचार्य विषयक थे । इनके कथन के बाद साधक विषयक दीक्षा के विषय की चर्चा कर रहे हैं–

शान्त्यन्त पद पर नियोजित करने के उद्देश्य से सदाशिव पद प्रदान करने वाली भूतिदीक्षा का भी अपना विशेष महत्त्व है । साधक को यही दीक्षा दी जाती है । भूति का अर्थ ऐश्वर्य होता है । अणिमा महिमा आदि सिद्धियाँ भी ऐश्वर्य रूप ही होती है । ये शिव योजनिका भी मानी जाती हैं ।

जहाँ तक अभिषिक्त कने का प्रश्न है, इस विषय में ४/४५४ में यह आदेश है कि,

'जिन्हें सबीजा साधक दीक्षा दी जाय, उनका भी अभिषेक करना चाहिये ।' सबीजा दीक्षा भी शिव योजनिका होती है । इसी आधार पर यह कहा गया है कि,

अप्रसाद से सिद्धि भोग प्राप्त होता है और प्रसाद अर्थात् अनुग्रह से शाङ्कर पद की उपलब्धि होती है । यहाँ अप्रसाद का तात्पर्य यह है कि, सिद्धि की दशा में उसमें मादकता होती है । यह मादकता अर्थात् धन का नशा शाङ्कर पद की

इति, यदि सिद्धिविषयेषु माद्यति, तदस्य शांकरे पदे विघ्नो मा भूदित्येवमर्थं साधकस्य शिवयोजनिकां कृत्वा सदाशिवे योजना कार्या ॥४८१॥

तदित्थम्–

शिवधर्मिण्यसौ ज्ञेया

साधकदीक्षेति शेषः, यत्र सदाशिवतत्त्वे योजनमस्ति ।

सा च–

लोकधर्मिण्यतोऽन्यथा ।

अशुभैकक्षपणात् तत्तद्भुवनेशादिपदयोजनात्मिका ।

अतश्च–

शिवधर्मिण्यसौ येषां साधकानां प्रकीर्तिता ।।४८२।।

तेषां कृत्वाभिषेकं तु

वक्ष्यमाणरूपम् ।

तानेव–

साधकत्वे नियोजयेत् ।

तत्र–

साधकस्याभिषेकोऽयं विद्यादीक्षात उत्तरः ।।४८३।।

ओर जाने से रोकता है । भोग की प्राप्ति तो रहती ही है । इसलिये उसके श्रेय को सम्पन्न करने के लिये शिवयोजनिका क्रिया कर शैवमहाभाव से जोड़ दिया जाना चाहिये ॥४८१॥

यह साधक दीक्षा शिवधर्मिणी दीक्षा कहलाती है । इसमें सदाशिव तत्त्व में योजन किया जाता है । लोकधर्मिणी दीक्षा इसके अतिरिक्त होती है । इसमें अशुभ के विनाश के उपाय होते हैं । साथ ही जिस भुवन की आकांक्षा होती है, उसके भुवनेश्वर से योजन किया जाता है ।

कभी कुछ साधकों की शिवधर्मिणी दीक्षा की यदि प्रबल इच्छा होती है, तो गुरु उन्हें शिवधर्मिणी दीक्षा भी देते हैं । जिन्हें यह दीक्षा दी जाती है, उनका अभिषेक करने के उपरान्त उन्हें साधकत्व में ही योजित करना चाहिये । अभिषेक के उपरान्त साधकत्व में नियोजित ही करना है, तो इस अभिषेक का औचित्य क्या है ? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् कह रहे हैं कि, यह अभिषेक विद्या दीक्षा के उत्तर अर्थात् इधर विद्या दीक्षा सम्पन्न हुई और उधर अभिषेक की तैयारी कर दी गयी । अर्थात् दीक्षा के तुरत बाद ही अभिषेक सम्पन्न कर देना चाहिये ।

विद्या सकलमन्त्रस्तत्कृता विद्यात्मकसदाशिवपदयोजनात्मा शिवपदयोजनान्तरभाविनी या दीक्षा, तंत उत्तरः साधकस्यायमितीदानीमेव कथ्यमानप्रकारोऽभिषेकः कार्यः ॥४८३॥

यद्यपि सकलमन्त्रस्यापि परपदप्राप्तिहेतुत्वमस्ति, तथापि–

विद्यादीक्षा भवेत्सा तु वासनाभेदतः स्थिता ।

उक्तं हि 'मन्त्रमुद्राद्रव्याणां होमः साधारणः' इत्यादि ।

अत एव–

कर्मभेदो न विद्येत सर्वत्राध्वनि संस्थितः ।।४८४।।

कर्म पाशक्षपणम् ॥४८४॥

अतश्च–

कृतानि यानि कर्माणि सर्वाण्यध्वगतानि तु ।
तानि संशोध्य विधिवत्कलापञ्चस्थितानि तु ।।४८५।।

विद्या सकल मन्त्र को कहते हैं । उसी की दीक्षा विद्या दीक्षा कहलाती है । यह भी सदाशिव पद पर नियोजित करने वाली दीक्षा होती है । यह ध्यान देने की बात है कि, पहले उसे शिवधर्मिणी दीक्षा दी गयी थी, फिर वह साधकत्व में नियोजित हुआ । अतः शिव पद योजन के अनन्तर भाविनी दीक्षा साधकत्व दीक्षा और इसके तत्काल बाद अभिषेक । यही क्रम यहाँ उचित और पारम्परिक माना जाना चाहिये । इसमें व्यवधान नहीं होना चाहिये ॥४८२-४८३॥

शास्त्र के अनुसार सकल मन्त्र से भी पर पद की प्राप्ति होती है फिर भी वासना के भेद की जानकारी लेने के बाद ही आचार्य श्री उचित दीक्षा देते हैं । परन्तु ऐसी दीक्षायें साधारण श्रेणी में ही आती हैं । मन्त्र, मुद्रा और द्रव्य सम्बन्धित होम भी साधारण ही होते हैं । यह एक आगमिक उक्ति इसका समर्थन करती है । इसलिये यह कहा जा सकता ही षडध्व के किसी अध्वा का उपासक हो, उसमें कर्म भेद साधारण ही अर्थात् सामान्यतः नहीं होता है । यह ध्यान देने की बात है कि, दीक्षा का यही मुख्य एक ही कर्म होता है । वह कर्म है–पाशों का नाश । पाश से छुट्टी होते ही अक्षय की छाया का सम्बल मिल जाता है ॥४८४॥

इसलिये समस्त अध्वाओं में दीक्षाओं में जितने कर्म हैं, उनका संशोधन आवश्यक है । यह शोधन कार्य विधिवत् सम्पन्न होना चाहिये । पाँचों कलाओं की परिधि में भी सारे शास्त्रीय सिद्धान्त शोधन की बात स्वीकार करते हैं । आचार्य का यह उत्तरदायित्व होता है कि, वह योजन के अवसरों पर साधक की श्रेणी पर भेद-

योजन्यवसरे भेदो विमर्शः साधकस्य तु ।

पूर्वं च कलात्रये कार्ममलस्थितिः स्थूलतयोक्ता इह तु सूक्ष्मतया कलापञ्चकेऽपि- इति न कश्चिद्व्याघातः, प्रथमस्तुशब्दश्चार्थे भावीन्यपि कर्माणि समुच्चिनोति ।

अत्र पूर्वोक्तं विधिं स्मारयति-

प्रारब्धं कर्म पाश्चात्यं न चैकस्थं तु भावयेत् ।।४८६।।

वर्तमानदेहे मन्त्राराधनादि यत्प्रारब्धं कर्म पाश्चात्यं च यत्तदेकत्र क्षपणीयत्वे स्थितं न भावयेत्, नास्य मन्त्राराधनादि[1] कर्मापि क्षपयेदित्यर्थः ।।४८६।।

निर्णीतं चैतत्-

साधकस्य तु भूत्यर्थं प्राक् कर्मैकं तु शोधयेत् ।

प्राक् कर्म आगामि चैकस्थं भावयित्वेत्यर्थः ।

दृष्टि से परामर्श के उपरान्त ही निर्णय ले । यह सभी जानते हैं कि, निवृत्ति, प्रतिष्ठा और विद्या में कार्ममल की प्रमुखता होती है । सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह जान पड़ता है कि, पाँचों विशेषकर शान्ता और अतीता में भी कलाओं में भी किसी न किसी तरह पाशों की छाया का स्पर्श हो ही जाता है । अतः इस कथन में कोई व्याघात उपस्थित नहीं होता । श्लोक ४८६ में आया हुआ तु शब्द भावी कर्मों का भी समुच्चय कर लेता है । वस्तुतः चार्थ में तु का प्रयोग ऐसा अध्याहार करता है ।

वर्त्तमान शरीर से हम जो कुछ भी मन्त्राराधन आदि कर्म कर रहे हैं, ये प्रारब्ध कर्म हैं । इस जीवन के सारे कर्म प्रारब्ध हैं । जो पाश्चात्य कर्म हैं, उनका अलग महत्त्व होता है । दोनों को एक तरह ही आकलन नहीं करना चाहिये । कर्म का क्षपण तो आवश्यक है किन्तु मन्त्राराधन रूप कर्म का क्षपण कैसे किया जा सकता है । इस स्तर पर सावधानी पूर्वक विचार करना चाहिये ।।४८५-४८६।।

इस तरह हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि, साधक के कल्याण के लिये उसके पहले के किये हुए और आगामी कर्मों को एकस्थ भावित कर इनका शोधन करना चाहिये । इसलिये धाम मन्त्र[2] जिसे सकल मन्त्र भी कहते हैं और अघोर मन्त्र राज की संज्ञा से जिसे विभूषित करते हैं, जिसमें बत्तीस अक्षर मिलकर महामन्त्रवीर्यात्मक पूर्णाहन्ता परामर्श का उद्भावन करते हैं, उसका उच्चारण कर इन सभी अक्षरों को सदाशिव के शरीर में न्यस्त कर दिया जाय ।

---

१. क.ख.पु. मन्त्रसन्धानादीति पाठः   २. स्व० १/४३, ६१-६२

अतश्च–

धाम प्रोच्चार्य सकलं सदाशिवतनौ न्यसेत् ।।४८७।।

सकलं द्वात्रिंशदक्षरम् ।

कथम् ?

विद्यादेहस्वरूपेण ध्यात्वा देवं सदाशिवम् ।
पूर्णाहुतिप्रयोगेन अणिमादिगुणैर्युतम्[1] ।।४८८।।

कर्मों को तीन भाग में पौराणिक परम्परा के अनुसार बाँटा गया है । १-क्रियमाण (जो किया जा रहा है) २-संचित (जो अगले जन्म में भोग के लिये एकत्र हो रहे हैं) और ३-प्रारब्ध अर्थात् जिनके अनुसार हम फल भोग रहे हैं । इसमें सञ्चित कर्म की गठरी खुल जाती है और हम इसे भोग रहे हैं । किन्तु यहाँ परिभाषा बदल गयी है । १-प्रारब्ध जिसका हम प्रारम्भ कर रहे हैं । यही कह रहे हैं-यही प्रारब्ध है । २-प्राक् कर्म (इसे हम संचित कह सकते हैं । यह कर्म है आगामि कर्म । यह विभाजन शोध्यमान कर किया गया है । किन्तु यह वैज्ञानिक नहीं लगता । इन कर्मों का शोधन करने के लिये धाम मन्त्र का उच्चारण करते हुए सदाशिव शरीर में उसके सभी ३२ अक्षरों का न्यास कर दिया जाना चाहिये । शोधन का यह प्रकार प्राणसम और अक्षर सम होना चाहिये ।।४८७।।

न्यास के प्रकार पर प्रकाश डाल रहे हैं-सदाशिव देव का ध्यान विद्यादेह के रूप में ही किया जाना चाहिये । सकलमन्त्र ही विद्यादेह और यही सदाशिव का शरीर है । इस शरीर में ही इन्हीं अक्षरों का न्यास ऊर्जा को ऊर्जस्वल बनाने के उद्देश्य से किया जाता है । वस्तुतः कुछ और गहराई से विचार करने पर विद्यादेह के दैहिक स्वरूप में अट्ठारह भुजाओं की भी कल्पना की जाती है ।

बाहुओं का तात्पर्य साधकतम को सम्पन्न करने वाले करण से है । मन्त्र में ये १८ ही हैं । इनमें शब्दों और विभक्तियों की गणना की जाती है । जैसे १-अघोर, २-भ्यः, ३-अथ, ४-घोर, ५-भ्यः, ६-घोर, ७-घोरतर, ८-भ्यः, ९-सर्व, १०-तः, ११-शर्व, १२-सर्व, १३-भ्यः, १४-नमः, १५-ते, १६-रुद्र, १७-रूप, १८-भ्यः । यह १८ बाहुऐं सदाशिव शरीर में हैं । यही सकल भट्टारक का तान्त्रिक विग्रह भी है । इसके बाद पूर्णाहुति का प्रयोग होता है । यह भक्तों को विदित है कि, सदाशिव देव समस्त अणिमादि गुणों से समन्वित हैं । ऐसे महामाहिम देव के लिये पूर्णाहुति का प्रयोग अनिवार्य रूप से किया जाना चाहिये । यह शास्त्र का आदेश है ।।४८८।।

---

१. ख.पु. गुणान्वितमिति पाठः ।

विद्यादेहोऽष्टादशभुजः सकलभट्टारकः ।

अथ–

अणिमादिगुणावाप्तौ मूलमन्त्रस्वसंज्ञया ।

अष्टावेवाहुतीर्दत्त्वा अभिषिञ्चेत्तु साधकम् ।।४८९।।

यथा निष्कलयोजनानन्तरं तद्गुणापादनं कृतमेवं सकलयोजनान्तरमस्याणिमादि-गुणात्मतापत्तिः कार्या । अत्र सकलमन्त्रपूर्वं साधकनामाणिमाभवेत्युच्चार्य पुनः सकलोच्चारपूर्वमणिमादिगुणाय दीक्षात्मने स्वाहेत्यादिप्रयोगः । अणिमादिगुणावाप्ताविति तन्निमित्तम् ।।४८९।।

तदभिषेकं प्राग्वत्–

कलशैः पञ्चभिः कुर्यात्

कथमित्याह–

निवृत्त्याद्यास्त्रिषु न्यसेत् ।

शान्त्यतीतां पञ्चमे च शान्तिं पश्चाच्चतुर्थके ।।४९०।।

अणिमादि गुणों की अवाप्ति का यह एक विधान है । इसमें १–पहले सकलमन्त्र का उच्चरण, २–साधक का अपना नाम, ३–अणिमा भव, पुनः ४–सकलोच्चार और ५–अणिमादि गुणात्मने, ६–दीक्षात्मने, ७–स्वाहा । यह पूरा ऊह मन्त्र बनता है । इसी मन्त्र से मात्र आठ आहुतियाँ देनी होती हैं । सिद्धियों की संख्या आठ ही है । अतः एक एक के लिये एक एक आहुति दी जाती है । इसलिये मात्र आठ आहुतियाँ देने के उपरान्त साधक का अभिषेक कर देना चाहिये ।

जैसे निष्कल योजन के बाद उसके छः गुणों का श्लोक (४४५) किया गया है, उसी तरह सकल योजन के अनन्तर उसके अणिमादि गुणों का आपादन स्वभावतः करना चाहिये । गुणावाप्ति के निमित्त ही यह होम करना आवश्यक माना जाता है ।।४८९।।

अभिषेक जैसे पहले विधि पूर्वक किया गया है, उसी विधि से करना चाहिये । पहले भी पाँच कलशों का प्रयोग किया गया था । उसी का यहाँ भी उल्लेख है । निवृत्ति, प्रतिष्ठा और विद्या इन तीनों को दक्षिण उत्तर और वरुण दिशाओं के कलशों में, ईशान कलश में शान्त्यतीता कलाओं और प्राच्यकलश

त्रिष्विति दक्षिणोततरवारुणदिग्गतेषु[१] प्राग्वक्त्रादिपूर्णेषु पञ्चसु, पञ्चम इति चेशाने, पश्चादिति शान्त्यतीतान्यासादनन्तरम्, चतुर्थक इति प्राच्यकलशे, अत्र चाभिप्रायो यत्साधकस्य शिवदशाविश्रान्तिपूर्वमविघ्नं सादाशिवी सिद्धिर[२]स्त्वित्येवं भुक्त्वा भोगानयं शिवो भवत्विति ॥४९०॥

तदित्थम्–

शान्त्या तु सम्पुटीकृत्य

शान्त्यतीताकलशानन्तरं शान्ताकलशन्यासात् शान्त्या संपुटीकारो भवती शान्त्यतीतायाः कलात्रयेण शान्त्या च गर्भीकृतत्वात् ।

किञ्च,

पृथिव्याद्यैश्च[३] पञ्चभिः ।

कलाक्रमेणैव कलशेषु न्यासं कुर्यादिति शेषः । पृथिव्यादयोऽत्र क्रोडीकृताशेषतत्त्वतत्त्वेश्वरस्फारा ब्रह्मपञ्चकपर[४]मार्था न तु स्थूलभूतमात्रात्मकाः ।

अथ–

एकैककलशे पश्चात्साध्यमन्त्रं तु विन्यसेत् ॥४९१॥

में शान्ताकला का न्यास करना चाहिये । इन कलाओं के न्यास का उद्देश्य भी शिवत्व में विश्रान्ति ही निर्विघ्नता और सादाशिवी सिद्धि की प्राप्ति ही है । इस तरह यह भाग्यशाली साधक समस्त भोगों का नियम पूर्वक उपभोग करते हुए शिवरूप में विश्रान्त हो जाय, यह मुख्य उद्देश्य है ॥४९०॥

शान्त्यतीता कलश एक ओर दूसरी ओर शान्ता मध्य में निवृत्ति, प्रतिष्ठा और विद्या के क्रम से एक प्रकार का यह सम्पुट तैयार हो जाता है । यहाँ पंच भूतों के साथ इनके तत्त्वेश्वरों के न्यास भी किये जाते हैं । इसमें पञ्च ब्रह्म रूप पारमार्थिक तत्त्वों का आधान भी हो जाता है । यह सारी प्रक्रिया सूक्ष्मता की दृष्टि से ही पूरी की जाती है । पुनः एक एक कलश में साध्यमन्त्र का भी विन्यास आवश्यक है ॥४९१॥

---

१. ख.पु. वारुणोत्तरदक्षिणादिग्गतेष्विति पाठः ।
२. क.पु. रित्येवमिति पाठः ।
३. ख.पु. स्तु इति पाठः ।
४. ख.पु. पदार्था इति पाठः ।

विद्याङ्गैः सकलीकृत्य

साध्यमन्त्रः सकलभट्टारक इह मुख्यः, अन्योऽपि वा पुष्पपातानुसारम्, विद्याङ्गै-रिति सकलाङ्गैः सर्वज्ञत्वादिरूपैतत्तत्साध्यमन्त्राङ्गैर्वा ।

पश्चात्तत्र–

विद्याङ्गावरणं न्यसेत् ।

विद्याङ्गानां सर्वज्ञत्वादिरूपाणामेव सिद्धिसाधनानुगुण्यान्नावरणान्तरन्यास उक्तः ।

अथ साध्यमन्त्रेणैव

सम्मन्त्र्याष्टशतेनैव एकैकं कलशं ततः ।।४९२।।
बहिर्मण्डलके न्यस्य आसनं प्रणवेन तु ।
साधकं तत्र संस्थाप्य सकलीकरणं ततः ।।४९३।।

विद्याङ्गों द्वारा सकलीकरण की प्रक्रिया अपनाकर इनके आवरण न्यास भी करे, यह शास्त्र का निर्देश है । पहले साध्यमन्त्र के विन्यास का निर्देश भी दिया गया है । साध्यमन्त्र सकल भट्टारक मन्त्र ही है । पुष्प पातानुसार अन्य मन्त्रों को भी साध्य माना जा सकता है । ये विद्याङ्ग[१] छः हैं–१–सर्वात्मा, २–ब्रह्म शिरस्, ३–ज्वालिनी, ४–पिङ्गल, ५–दुर्भेद्य पाशुपत्य और ६–ज्योतिरूप । इनके छः गुण[२] भी होते हैं–१–सर्वज्ञ, २–परितृप्त, ३–अनादिबोध, ४–स्वतन्त्र, ५–अलुप्तशक्ति और ६–अनन्तशक्ति । इन दोनों में से किसी एक मन्त्र से सकलीकरण होता है । क्योंकि हृदयादि छः अङ्गों के साथ प्रयुक्त किये जाने के कारण ये भी हृदयादिनेत्राङ्ग रूप से प्रसिद्ध हैं । इसका पहला ऊह मन्त्र इस प्रकार बन सकता है–१–ॐ अघोरेभ्यः सर्वात्मने सर्वज्ञाय हृदयाय नमः । २–घोरतरेभ्यः ब्रह्मशिरसे परितृप्ताय शिरसे स्वाहा आदि ४मन्त्र इसी प्रकार मन्त्र विद्याङ्ग और गुण के साथ शिखा कवचादि लगाकर बनाकर सकलीकरण व विद्याङ्गवरण न्यास पूरा करना चाहिये ।

इसके बाद निवृत्ति आदि कलाओं के कलशों में से एक एक कलश का साध्यमन्त्र द्वारा अभिमन्त्रण करना चाहिये । इसका तात्पर्य यह होता है कि, इस मन्त्र की महिमा के कारण सभी कला विद्या आदि की भूमियाँ सिद्धि प्रद बनें और सार्वत्रिक श्रेय की सिद्धि से दीक्ष्य कृतार्थ हो जाय ।।४९२।।

याग मण्डल के बाह्य भाग में निर्मित्त स्वस्तिक मण्डप में इन न्यासों को सम्पन्न कर ॐकार न्यास कर श्रीपर्णीचन्दन के आसन का प्रकल्पन करते हैं । वहीं पर साधक बिठलाया जाता है । सकलीकरण निर्भर्त्सन आदि पहले की तरह करके साध्यमन्त्र से उसका काञ्चिकादि द्रव्यों से अभिषेक करना चाहिये ।।४९३।।

---

१. स्व० १/६४-६५ ।   २. स्व० ४/४४५-४४६ ।

निर्भर्त्स्य पूर्ववत्सर्वैः साध्यमन्त्रेण सेचयेत् ।

निवृत्त्याद्येकैककलशस्य साध्यमन्त्रेण मन्त्रणं सर्वभूमयोऽस्य मन्त्रप्रसादात् सिद्धिप्रदा भवन्त्विति, यागाद् मण्डले स्वस्तिकादिरूपे, आसनं श्रीपर्ण्यादिरूपम्, सकलीकरणमिति तस्य कुर्यादिति शेषः । सर्वैरिति पूर्वोक्तैः काञ्चिकादिद्रव्यैः ।

तत्र–

निवृत्त्यादित्रिभिः कुम्भैः स्नापयेत्पूर्वदिङ्मुखम् ।।४९४।।
शान्त्यतीतं घटं पश्चाद्गृहीत्वा सेचयेच्छिशुम् ।
शान्तिं पश्चात्तु गृहणीयात्

शान्तिमिति शान्तिघटम् ।

तदित्थम्–

सम्पुटेनाभिषेचयेत् ।।४९५।।

सम्पुटार्थस्तदभिप्रायश्च व्याकृत एव ।

तदेवम्–

साधकस्याभिषेकोऽयमनुलोमविलोमतः ।

आनुलोम्यं निवृत्त्यादित्रये, शान्तिशान्त्यतीतयोस्तु प्रातिलोम्यम् ।

किञ्च,

अभिषिच्य प्रवेश्यैनं दक्षिणां मूर्तिमास्थितम् ।।४९६।।

परिवर्तिवस्त्र इत्यर्थात्, दक्षिणमूर्त्याश्रयणं विघ्नप्रशमाय ।।४९६।।

पूर्वाभिमुख साधक को बिठलाकर पहले निवृत्ति, प्रतिष्ठा और विद्या कलशों से उसे स्नान कराना चाहिये । इसके बाद शान्तीता के कलश से और उसके तुरत बाद शान्ता कलश से अभिषेक होना चाहिये । एक प्रकार सम्पुटित कला कलशाभिषेक हो जाता है । निवृत्त्यादि तीन और शान्ता के बीच में आकर शान्त्यतीता सम्पुटित हो जाती है ।।४९४-४९५।।

साधक का यह अभिषेक अनुलोम और विलोम प्रक्रियाओं द्वारा सम्पन्न करना चाहिये । पहला क्रम अनुलोम है । पुनः शान्ता से, शान्त्यतीता से और इसके बाद निवृत्यादि तीनों से प्रतिलोम क्रम द्वारा स्नान कराना चाहिये । अभिषेक के बाद नवीन वस्त्र धारण कर दक्षिणामूर्त्ति के समक्ष प्रणिपात अर्पण करना चाहिये । इससे विघ्नों का निराकरण हो जाता है ।।४९६।।

तत्रास्य च–

प्रणवेनासनं दत्त्वा सकलीकरणं भवेत् ।

अथास्य सिद्ध्युपकरणम्–

साधकस्याधिकारार्थमक्षमालादि कल्पयेत् ।।४९७।।

समुचितं ढौकयेत् ।।४९७।।

कल्पयित्वैतत्–

मन्त्रकल्पाक्षसूत्रं च खटिकां[१] छत्रपादुके ।
उष्णीषरहितं दत्त्वा

कल्पः साध्यमन्त्रपुस्तिका, उष्णीष आचार्यायैव देयः ।

अथ–

प्रविश्य शिवसन्निधौ ।।४९८।।

विज्ञाप्य परमेशानं साधकोऽयं मया कृतः ।
भूयात्सिद्धिस्त्वदाज्ञातस्त्रिप्रकारास्य भक्तितः ।।४९९।।

इन प्रक्रियाओं के उपरान्त ॐ से आसन प्रकल्पन कर सकलीकरण करे । पश्चात् इसके अधिकार के लिये अक्षमाला आदि पदार्थों की व्यवस्था करनी चाहिये ।।४९७।।

इस प्रकल्प के बाद मन्त्रकल्प (उस समय प्रचलित साध्यमन्त्र की पुस्तिका) अक्षसूत्र, खटिका, छत्र और पादुका आदि उसे देना चाहिये । इस अवसर पर उसे उष्णीष (पगड़ी) नहीं दिया जाना चाहिये । क्योंकि उष्णीष मात्र आचार्य को ही दिया जाता है । इसके बाद उस शिव के समक्ष आचार्य उपस्थित करें ।।४९८।।

वहाँ आचार्य भगवान् के सामने उनसे यह विज्ञापित करे कि, भगवन् ! आप की आज्ञा से ही मैंने इसे साधक पद पर प्रतिष्ठित किया है । इसे आपकी कृपा से अवश्य सिद्धि मिले । यह आप का भक्त है । आपके चरणों में सदा श्रद्धाभक्ति पूर्वक यह समर्पित रहेगा । इतना कहकर आचार्य द्वारा उसे साध्यमन्त्र प्रदान करना चाहिये ।

---

१. ग.पु. पेटिकामिति पाठः ।

साध्यमन्त्रं ददेत्पश्चात्पुष्पोदकसमन्वितम् ।

शिवसन्निधाननिमित्तं प्रविश्यान्त[१]र्मुखीभूय तदवष्टम्भेनैव देवं विज्ञाप्य साध्यमन्त्रं दद्यात्, साधकोऽयमित्यादि विज्ञप्तेः स्वरूपम्, विज्ञप्तेः पश्चात् पूर्ववल्लब्धानुज्ञत्वं भाव्यं शिवसन्निधावेव च पुष्पं फलोत्पादनधिया, उदकं सिद्ध्याप्यायनाय ।

तदाह–

तस्य हस्ते समर्प्येत सिद्ध्यर्थं साधकस्य तु ।।५००।।

परशक्तित उद्भुतं तच्छक्तिसम्मुखीभूतमेतदित्यभिप्रायाद् हस्तेन हस्ते समर्पणम् ।

साधकस्तु–

प्रणम्योभौ गृहीत्वा तु मन्त्रं हृदि निवेशयेत् ।

उभौ गुरुमन्त्रौ, हृदीति स्वात्मानं तत्तद्विमर्शमयं कुर्वीतेत्यर्थः ।

तदेवमुभयोर्योग्यसम्बन्धलाभात्–

प्रहृष्टवदनः शिष्यो गुरुश्चापि प्रहर्षवान् ।।५०१।।

शिव के समक्ष ही उसे पुष्पोदक प्रदान करने की प्रथा है । पुष्प से तात्पर्य कि, आगे फलोत्पत्ति में सफल और उदक इसलिये कि, इससे इसकी सिद्धि सदा आप्यायित रहे । इन्हीं उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिये ही उक्त पदार्थ साधक के हाथ में देते हैं । परशक्ति से उत्पन्न और शिव साम्मुख्य में उपस्थित इन द्रव्यों को आचार्य अपने हाथ से साधक के हाथ में अर्पित करते हैं ।।५००।।

मन्त्र, मन्त्रशक्ति और मन्त्राधिष्ठाता के एकल रूप मन्त्र को और मन्त्रप्रद गुरुदेव का प्रणाम साधक करे । मन्त्र को उसने ग्रहण किया । उस गृहीत को वस्तु को कहाँ रखे ? इसका उत्तर भगवान् दे रहे हैं कि, गुरु उसके हृदय में ही निविष्ट करा दें । इस तरह जीवन का प्रेय प्राप्त कर शिष्य प्रसन्न है । गुरुदेव भी इतने योग्य साधक शिष्य को पाकर प्रसन्न हैं । दोनों की प्रसन्नता में शास्त्र की प्रक्रिया भी प्रहृष्ट है ।।५०१।।

---

१. ख.पु. इति संमुखीभूयेति पाठः ।

उभौ निर्गत्य[1] च–

अग्न्यागारे सावधानौ

स्यातामिति शेषः ।

ततो गुरुरग्नौ तु–

तर्पयेन्मन्त्रसंहिताम् ।

ततोऽपि यथासम्भवम्–

सहस्रं वा शतं वापि साध्यमन्त्रस्य तर्पणम् ।।५०२।।

कुर्यात् ।

एवं सन्तर्पयित्वा तु पुष्पं पाणौ [illegible]पयेत् ।

प्राग्वत् गुरुः साधकाय, तेन वात्मन इत्यर्थः ।

ततः साधकः–

त्रिस्थं सम्पूज्य देवं तु

स्थण्डिलवह्निगुरुमूर्तिषु दण्डवन्निपतेत् ।

ततोऽपि त्रिःप्रदक्षिणम् ।।५०३।।

वहाँ से गुरु और शिष्य दोनों निकलकर अग्नि के समीप पहुँचें । यज्ञ कुण्ड ही अग्नि का आगार माना जाता है । वहाँ दोनों सावधानी पूर्वक मन्त्र संहिता का तर्पण करें । यह तर्पण मूल मन्त्र से, जो संहिता के रूप में होता है, उसी से किया जाता है । इससे भगवान् भैरव परम तृप्त होते हैं । इसके अतिरिक्त साध्यमन्त्र जिसे गुरु योग्यतानुसार देता है, उससे या साध्यमन्त्र (४९२) सकल भट्टारक मन्त्र से भी हजार बार या एक सौ आठ बार तर्पण करते हैं ।।५०२।।

इस प्रकार तर्पण के उपरान्त साधक के हाथ में उसके उत्कर्ष की कामना से पुष्प दे । साधक भी आशीर्वाद लेने के लिये गुरु के हाथ में पुष्प अर्पित करे । पुष्प के आदान प्रदान में ग्राह्यग्राहक संवित्ति के साथ भावना की भव्यता का आधार भी झलकता है । इसके बाद साधक स्थण्डिल (वेदी पर अवस्थित, कुण्ड में वह्नि के रूप में जाज्वल्यमान और गुरु रूप में विद्यमान भैरव भट्टारक का तीन बार दण्डवत् प्रणाम करे । इसके बाद सबकी तीन बार प्रदक्षिणा भी करे ।।५०३।।

---

१. ख.पु. निःसृत्येति पाठः ।

कृत्वा–

प्रणम्य भक्तियुक्तात्मा अणिमादिफलं लभेत् ।

तद्योग्य[१]तामेति ।

गुरुस्तु–

उत्थाप्य साधकं ब्रूयात्समयान्याहि यत्नतः ।।५०४।।

तेऽग्रे भविष्यन्ति ।

किञ्च निर्बीजदीक्षादीक्षितवर्जं सर्वे शिष्याः समयान् श्राव्या इत्यादिशति–

दीक्षावसाने ते देवि श्रावणीया विपश्चिता ।

समयज्ञेन ।

उपसंहरन्नन्यदवतारयति–

एवं दीक्षां तु निर्वर्त्य सर्वदैव वरानने ।।५०५।।

भक्ति भाव से भरित श्रद्धापूर्वक प्रणाम करने से साधक अणिमादिक फल की प्राप्ति कर लेता है । वहीं गुरुदेव दण्डवत् प्रणाम की मुद्रा से साधक को उत्थापित करता है । वहीं उसे स्नेह पूर्वक 'समय' पालन की सीख देता है और सावधान भी करता है कि, इस कार्य में शिथिलता नहीं आनी चाहिये वरन् यत्नपूर्वक इसे सम्पन्न किया जाना ही चाहिये ।।५०४।।

यहाँ यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिये कि, निर्बीज दीक्षा से रहित सारे शिष्य गुरुद्वारा श्रावित समय के नियमों और आचारों को स्नेह और श्रद्धा भाव से सुनें । इसी बात को भगवान् स्वयं कह रहे हैं कि, दीक्षा के अन्त में वे समयी शिष्य, सर्व विद्यापारङ्गत परमार्थतत्त्वज्ञ विद्वान् गुरु से स्वयं सुनें । इस प्रकार दीक्षा पूर्ति के अनन्तर विशिष्ट सद्भाव पूर्वक गुरु की आज्ञा से देवि भैरवि ! सभी शिष्य एक दूसरे प्रकार के याग को भी सम्पन्न करें ।।५०५।।

---

१. क.पु. योगात्समतामिति पाठः ।

आत्मयागः प्रकर्तव्यो यथा भवति तच्छृणु ।

दीक्षां समय्यादीनाम् । आत्मनो यागः परतत्त्वयोजनात्मा समुच्छेद्यपाशसंस्पर्श-विधिन्यूनतादिसम्भावनाशङ्काशान्तये कर्तव्यः ।

तदित्थम्-

वैज्ञानिकी प्राकृती वा आचार्यस्य यदृच्छया ।।५०६।।

दीक्षा भवति । विज्ञानहेतुका वैज्ञानिकी । तिलज्याहुतिहेतुका प्राकृती ।।५०६।।

तत्र-

वैज्ञानिकीं सुसूक्ष्मां तु विधिनानेन कारयेत् ।

सुसूक्ष्मां पूर्णज्ञानसम्पाद्याम् । अनेन वक्ष्यमाणेन ।

तत्र प्राकृतीं तावत्पूर्वोक्तप्रकारात् किञ्चिद्वैलक्षण्येनाह-

तिलाज्यादिसमायुक्ता अध्ववागीशिकल्पना ।।५०७।।

प्राकृत्यां[1] कार्येति शेषः ।।५०७।।

उस याग को आत्मयाग कहते हैं । आत्मयाग सबको करना चाहिये, यह कह कर भगवान् स्वयं उसकी करणीयता के विषय में बतला रहे हैं । वस्तुतः आत्मयाग एक पारिभाषिक शब्द है । आत्मा का याग परतत्त्वमय बोधात्मक प्रकाश की परावस्था में विधि पूर्वक योजन को ही कहते हैं । अणु जीव जिन पाश रूपी आवरणों से आवृत है, उनका निराकरण कर उन्हें उच्छिन्न कर देते हैं । इसी आधार पर शास्त्र पाशों को उच्छेद्य मानता है । इन पाशों के उच्छेदन के समय स्वभावतः उनका भावनात्मक संत्पर्श हो जाता है । यह न हो इसके लिये विधि की आवश्यकता होती है । साधना पथ का पथिक कितना कर पाता है या कुछ अच्छी तरह नहीं कर पाता, कुछ न्यूनता रह जाती है । यह सम्भावना बनी रहती है । इस प्रकार की सम्भावित शङ्का के निवारण के लिये अर्थात् शङ्का की शान्ति के लिये भगवान् आगे कह रहे हैं कि, यह भी एक प्रकार की दीक्षा है ।

आत्मयाग दीक्षा की दो प्रक्रिया है । १-वैज्ञानिकी और २-प्राकृती । आचार्य शिष्य की योग्यता के अनुसार यदृच्छा पूर्वक किसी शील संकोच में न पड़ कर जो समझता या निर्णय करता है, वही दीक्षा प्रक्रिया अपनाता है ।।५०६।।

जहाँ तक वैज्ञानिकी प्रक्रिया का प्रश्न है, यह अत्यन्त सूक्ष्म होती है । इसीलिये इसे सुसूक्ष्मा कहते हैं । सुसूक्ष्मा पूर्णज्ञान सम्पादन में समर्थ होती है । वहीं प्राकृती आत्मयाग दीक्षा पहली से कुछ वैलक्षण्यमयी होती है । इसमें तिल और आज्य आदि से आहुतियों का प्रयोग भी किया जा सकता है ।

---

१. ख.पु. प्राकृतेति पाठः ।

तत्र च–

कलाभिः पञ्चभिर्व्याप्तमध्वानं युगपन्न्यसेत् ।

न तु प्राग्वत् ।

क्रमेण च तद्व्यनक्ति–

पूजाहोमोपचाराद्यान् कृत्वात्मानं नियोजयेत् ।।५०८।।

शिष्यचैतन्यवत्

वागीश्यां युगपदशेषकलाव्या[१]प्तिकायामाह्वानार्चादिपूर्वं पुर्यष्टकरूपमात्मानं योजयेत् ।

ततोऽपि–

योगादध्वानं युगपन्न्यसेत् ।

गर्भयोजनादनन्तरं दीक्ष्यमध्वानं युगपन्न्यसेत् ।

न्यस्तं च–

पुष्पाद्यैः पूजयित्वा तं

तत्रैव–

योगार्थमाहुतित्रयम् ।।५०९।।

प्रणवमूलहंसबीजपूर्वमात्मानं सर्वाध्वव्यापकं वागीशीगर्भे युगपद्योजयामि स्वाहा इत्यत्र प्रयोगः ।।५०९।।

अध्वप्रकल्पन के साथ वागीशी शक्ति का भी प्रयोग कर सकते हैं । प्रकृत की अनुकूलता के कारण ही इसे 'प्राकृती' संज्ञा से विभूषित करते हैं ।।५०७।।

वागीशी में इन पाँचों कलाओं की व्याप्ति होती हैं । उसमें अध्वावर्ग का विन्यास भी करते हैं । अर्थात् कलाओं और अध्वावर्ग का युगपद् न्यास करते हैं । जितने पूजादि के उपचार होते हैं, उन्हें उपयाग में लाकर पुर्यष्टक रूप स्वात्म को ही वागीशी रूप परशक्ति में नियोजित करते हैं ।।५०८।।

स्वात्म का यह नियोजन शिष्य चैतन्य के नियोजन की तरह होता है । वागीशी शक्ति में कलाओं की व्याप्ति स्वाभाविक होती है । उसी में अवाहन पूजादि पूजा के बाद पुर्यष्टक रूप स्वात्म का विनियोजन गर्भ के उद्देश्य से होता है । वागीशी में आत्मा के योजन से गर्भ संस्कार करना पड़ता है । गर्भ योजन दीक्ष्य और अध्वा का पुनः युगपद् नियोजन करते हैं । इस नियोजन के बाद पुनः पुष्प आदि उपचारों से पूजा की जाती है। इस नियोजन के उपलक्ष्य में ॐ हूँ स्वात्मानं मां (नाम)

---

१. ख.पु. व्यापिकेति पाठः ।

अथ-

गर्भधारित्वजनने अर्जने भोगतल्लये ।
युगपद्धोमयेद्देवि मूलमन्त्रेण सुव्रतः ।।५१०।।

प्रत्येकं युगपदिति सर्वाध्वव्याप्तिभावनया त्रिर्होमः ।।५१०।।

तदाह-

आहुतीनां त्रयं होम्यं प्रतिकर्म वरानने ।

निष्कृतेः प्राधान्यात् पृथग्घोममाह-

होतव्या निष्कृतिर्भिन्ना पञ्चस्थानकलात्मसु ।।५११।।
शतमेकं तदर्धं वा

पञ्च पृथिव्यादीनि स्थानानि यासां कलानां तदात्मसु तद्विषये, तेन निवृत्तौ मच्चैतन्यस्य गर्भधानादिकर्मपञ्चके निष्कृतिरस्तु स्वाहा इति प्रयोगः । एवमन्यत्र ।

सर्वाध्वव्यापकं स्वात्मानं पुर्यष्टकांशरूपम् वागीशी गर्भे युगपद् योजयामि स्वाहा, इस मन्त्र से तीन आहुतियाँ दी जानी चाहिये । इस मन्त्र के प्रयोजन से मन्त्र की ऊर्जा द्वारा ही गर्भ धारण सम्भव है ।।५०९।।

गर्भ धारण, प्रजनन ये दो व्यापार परस्पर मिले हुए हैं । इसी तरह अर्जन और भोग में लीन रहकर उसका उपभोग इस युगल भाव का युगपद् होम सुव्रत शिष्य को अवश्य करना चाहिये । इसमें यह भावन भी आवश्यक है कि, उक्त चारों व्यापारों में अध्वव्याप्ति स्वभावतः है । यह युगपद् होम मात्र तीन तीन बार किया जाना चाहिये ।।५१०।।

प्रतिकर्म में मात्र तीन आहुतियों को अर्पित करने का समर्थन भगवान् इस श्लोक द्वारा कर रहे हैं । इसके बाद निष्कृति होम की चर्चा भगवान् कर रहे हैं । भगवान् कह रहे हैं कि, देवि सुमुखि भैरवि ! निष्कृति होम उक्त होमों से भिन्न अर्थात् अलग ही होता है । इस सन्दर्भ में यह ध्यान देना आवश्यक है कि, पाँच स्थान पाँच महाभूत माने जाते हैं । ये कलाओं के ही स्थान है । पृथिवी निवृत्ति कला, जल प्रतिष्ठा कला, अग्नि विद्या कला, वायु शान्ता कला और आकाश शान्त्यतीता कलओं के स्थान हैं । इन कलात्मक स्थानों में चैतन्यात्म की निष्कृति की जाती है । इसमें ऊहमन्त्र-'ॐ निवृत्तौ कलायां मच्चैतन्यस्य गर्भाधानादि कर्मपञ्चके निष्कृतिरस्तु स्वाहा' इस प्रकार से बनता है । इसमें १०८ या ५४ आहुतियाँ दी जाती हैं ।

एषा च–

निष्कृतिः परिकीर्तिता ।

पूर्वमेव निर्णीता ।

अथ–

विश्लेषपाशच्छेदाद्ये धाम्नैव युगपद्धुतिः ।।५१२।।

उद्धारे चात्मतत्त्वस्थे

आदिपदाद्विधिपूरणे पाशदाहे च युगपदेव पूर्णाहोमः । अत्र च ताडनच्छेदन-ग्रहणैकचैतन्यभावनकारणाह्वानपुर्यष्टकांशार्पणं पूर्वत उपजीव्यम् । पुर्यष्टकांशार्पणं सबीजाया-मपि भवतीति निर्णीतत्वात् ।

अथ–

पूर्णाहुतिं तु पातयेत् ।

तयैव च–

आत्मानं योजयेत्तत्त्वे शिवे परमकारणे ।।५१३।।

ततोऽपि–

गुणान् पूर्ववदापाद्य

अवभृथस्नानेन ।

तानेव–

अमृतान्पूर्ववत् कुरु ।

अमृतान् अविनश्वरान् ।

यह होम निष्कृति होम कहलाता है । इसमें भी विश्लेष, पाशच्छेद आदि विधि को सम्पन्न करने के उपरान्त धाम मन्त्र से ही आहुति वह भी युगपद्भाव से ही दी जाती हैं । यह हुति पूर्णा होम कहलाती है ।।५११-५१२।।

इसमें ताडन, पाशच्छेदन, ग्रहण, चैतन्य भावन, आवाहन और पुर्यष्टकांशार्पण, पूर्व की तरह सम्पन्न किये जाने चाहिये । पुर्यष्टकांशार्पण सबीजा दीक्षा में भी होता है, यह परम्परा है । इसके बाद पूर्णाहुति का सम्पात करते है । यहाँ अपने स्वात्म का योजन परमं कारण रूप परमात्मातत्त्व में किया जाना चाहिये ।।५१३।।

तत्पश्चात् सर्वज्ञतादि गुणों का आपादन होता है । इसके लिये अवभृथ स्नान करना चाहिये । इन गुणों के द्वारा अमृतत्त्व की उपलब्धि होती है । ये गुण स्वयम् अमृत रूप होते हैं । इन गुणों से युक्त शिष्य भी अविनश्वरता से विभूषित होते हैं ।

सेयं प्राकृती–

आत्मदीक्षा

पुत्रकादिदीक्ष्याणाम्–

समाप्तौ तु प्रायश्चित्तनिवृत्तये ।।५१४।।

पशुसंसर्गन्यूनातिरिक्तविधिसम्भावनाशङ्काशान्त्यर्थमित्यर्थः ।।५१४।।

नन्वात्मनोऽशुद्धस्य यो दीक्षया शुद्धिमादत्ते सोऽपि यद्यशुद्धस्तदन्धेनान्धस्य हस्तग्रहणम्, अथ प्राणादिविलक्षणतया प्रत्यभिज्ञातोऽसौ शुद्धः, तर्हि तत्परामर्शादेव सर्वं सम्पन्नमिति किं प्राकृत्या दीक्षया । सत्यमेतत्, यदि शक्तिपातवशादेवं रूढिः स्यात्, तदा प्राकृती नैव कार्या । तदा तु कुशलैकसम्पाद्यां विज्ञानदीक्षामाह–

इस प्रकार की पूरी दीक्षा प्राकृती दीक्षा होती है । यह आत्मदीक्षा होती है । पुत्रक आदि दीक्षाओं की समाप्ति कर प्रायश्चित की निवृत्ति के लिये यह आवश्यक है । पशु जनों के संसर्ग, न्यूनातिरिक्त विधि दोष, इनकी सम्भावना की शङ्का आदि के लिये प्रायश्चित्त करना चाहिये । इसलिये प्रायश्चित्त की निवृत्ति के लिये यहाँ भी होम करना चाहिये । तभी यह प्राकृती रूप आत्मदीक्षा पूरी होती है ।।५१४।।

यहाँ एक अत्यन्त विचारणीय प्रश्न उपस्थित है । वह यह कि, अशुद्ध स्वात्म की दीक्षा से शुद्धि की प्रक्रिया अपनायी जाती है । दीक्षा के बाद भी यदि अशुद्धि अवशिष्ट है, तो इसे क्या कहेंगे । इस बिन्दु पर कोई भी यह कह सकता है कि, मंजिल पहुँचाने के लिये अन्धे ने अन्धे का हाथ थाम लिया था । मंजिल मिले तो कैसे मिले ? इस तरह गुरु पर अङ्गुलि उठ जाती है । व्यक्ति की सप्राण सक्रियता से प्रत्यभिज्ञा का उदय हो जाता है । जिसे माया के प्रातीप्य और शिव के साम्मुख्य से स्वात्म बोध हो गया, वह वस्तुतः शुद्ध हो जाता है । इस प्रत्यभिज्ञान के परामर्श से सब कुछ सम्पन्न हो जाता है । ऐसी स्थिति में इस प्राकृती दीक्षा से क्या लाभ ? यह भी एक प्रकार का बाह्ययाग है । अतः प्राकृती दीक्षा एक व्यर्थ का उपक्रम है । आचार्य श्री क्षेमराज इस जिज्ञासा के समर्थक हैं । वे कहते हैं । बात सही है । यदि शक्तिपातवशात् भगवद्-सद्भाव-संभूति से ही शैवमहाभाव में रूढ़ि हो गयी है, तो इस प्राकृतीदीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं । उस समय तो कुशल शिष्य से सांसिद्धिक रूप से संपाद्य वैज्ञानिकी दीक्षा ही पर्याप्त है ।

अथ विज्ञानरूपेण सकृदुच्चारलक्षणा ।

दीक्षा भवति । मध्यधामसमनुप्रवेशेन यः स्वपूर्णाहंपरामर्शमयस्य मूलमन्त्रस्य सकृदुच्चारः, स एव लक्षणं यस्याः ।

यतः–

हेयोपादेयपाशानां युगपद्भैरवेण तु ।।५१५।।

भैरवेण निष्कलेन [१]सकृदुच्चारितेन मायान्तानां भेदैकरसत्वेन हेयानाम्, समनान्तानां भेदाभेदरूपतयोपादेयानां तथापि भेदांशसम्बन्धात् पाशव्यप[२]देश्यानां युगपत् शुद्धिर्भव-तीति शेषः । उक्तं च प्राक्–

'सकृदुच्चारितो देवि नाशयेत्सर्वकिल्बिषम् ।' (१-४४)

इति ।।५१५।।

इस दशा में प्रसङ्ग प्राप्त वैज्ञानिकी दीक्षा की चर्चा कर रहे हैं–

यह वैज्ञानिकी दीक्षा मात्र मध्यधाम में अनुप्रवेश की भव्यतम तादात्म्य-भाव-भरितावस्था में स्वात्म के पूर्णाहन्तामय परामर्श प्रद मूल मन्त्र के विमर्शात्मक उच्चार से सम्पन्न हो जाती है । एक शब्द में इसे सकृदुच्चार लक्षणा दीक्षा कहते हैं । ध्यान देने की बात है कि,

१–निष्कल भैरव बीजमन्त्र के एक बारगी तादात्म्य भाव के एक बार उच्चारण से माया पर्यन्त तत्त्व-भेद जो भेदमयता में ही रस लेते हैं, उनका सर्वनाश हो जाता है ।

२–इसके ऊपर निरोधिका से समना पर्यन्त भेदाभेदमय तत्त्व भाव आते हैं । इनमें भेदांश के कारण हेय भाव और अभेद के कारण उपादेय दोनों हेयोपादेय भाव का उल्लास है और इसी कारण इन्हें 'पाश' भी कहते हैं । मायान्त और समनान्त हेयोपादेयता के रहते मन्त्र के सकृत् निष्कल उच्चार से युगपत् शुद्धि हो जाती है, यह ध्रुव सत्य है । इस विषय में इसके माहात्म्य-प्रतिपादन प्रकरण में इसी ग्रन्थ के पटल १श्लोक ४४ में यह स्पष्ट कहा गया है कि, कोटि कोटि जन्मों में उपार्जित समस्त किल्बिषों का नाश इस महामन्त्र के एक बार के चिन्मय-उच्चार से तत्काल हो जाता है ।' वैज्ञानिकी दीक्षा की इस सहजशक्ति से शिवस्वरूपता स्वयम् उपलब्ध हो जाती है ।।५१५।।

---

१. क.पु. सम्यगिति पाठः । २. क.ग.पु. देशानामिति पाठः ।

न केवलं युगपत्पाशक्षपणं मन्त्रेण क्रियते यावत्परमशिवपदे

शाश्वती संस्थितिः पश्चात्

एषा च–

सूक्ष्मदीक्षा प्रकीर्तिता ।

इत्थमात्मदीक्षान्ते–

विशेषपूजनं होमं यथा[1]शक्ति प्रकल्पयेत् ।।५१६।।
वाद्यगीतसुनृत्याद्यैः स्तुतिभिः पूजयेद्धरम् ।
त्रिःप्रदक्षिणमावर्त्य कलशाग्निसमण्डलम् ।।५१७।।
अष्टाङ्गपतनं कृत्वा विज्ञपेत्परमेश्वरम् ।

त्र्यधिकरणं देवं प्रदक्षिणीकृत्य ।

किं विज्ञापयेदित्याह–

भगवन्पशुहेत्वर्थं यन्मयावाहितो भवान् ।।५१८।।
तत्क्षन्तव्यं सदा देव विधिस्थस्य मम प्रभो ।

विधिर्दीक्षाकर्म, ममेति त्वयैव दत्ताधिकारस्य ।

अनुभवी साधक यह घोषणा करता है कि, केवल इस मन्त्र से युगपत् पाशों का नाश होता है, अपितु परम शिव पद में शाश्वती स्थिति भी प्राप्त हो जाती है । यह सूक्ष्म दीक्षा कहलाती है । हाँ यह ध्यान देने की बात है कि, इसमें भी विशेष पूजन, यथाशक्ति हवन आदि का भी प्रकल्पन होना चाहिये । इससे शास्त्र परम्परा को बल मिलता है ।।५१६।।

इसके साथ ही साथ वाद्य, गीत, नृत्त और नृत्य आदि में प्रयुक्त स्तुतियों के माध्यम से भगवान् भैरव का पूजन होना ही चाहिये । इसके बाद तीन बार प्रदक्षिणा कलश स्थापन अग्नि मण्डल में होम आदि करना चाहिये ।।५१७।।

तत्पश्चात् साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम अर्पण करने के उपरान्त मानो सामने ही सविग्रह विद्यमान परमेश्वर शिव से स्वात्म समर्पण पूर्वक श्रद्धा से यह निवेदन करे कि, भगवन् ! शिष्य के उत्कर्ष की कामना से मैंने आपका आवाहन किया है ।।५१८।।

भगवन् ! मैंने आपको कष्ट देने का अपराध किया है । आप इसे कृपा पूर्वक क्षमा करें । मैं आत्मविधि में अवस्थित हूँ । प्रभो ! इस विधि को पूर्णता प्रदान करने की कृपा करें । विधि से यहाँ दीक्षा विधि रूप कर्म होना चाहिये ।

---

१. ख.पु. यावदिति पाठः ।

यदपि–

विधिन्यूनमकामस्य

प्रामादिकं विधिन्यूनत्वमपि क्षन्तव्यमित्यर्थः ।

यस्मात्–

पूजा शास्त्रोदिता यथा ।।५१९।।

न भवेदतिभूयिष्ठा[1] प्राकृतैर्द्रव्यसंचयैः ।

यथा शास्त्रे पूजा भूयिष्ठा विततपरिपाटीकोदिता, तथा प्रकृतिपरिणामरूपैर्मितैर्द्रव्यैर्न भवेदिति विनयपरा उक्तिः, अन्यथार्घपात्रविप्रुट्संस्कृतानां द्रव्याणां शिवीकृतत्वात् कथं प्राकृतत्वात् कथं प्राकृतत्वं वित्तशाठ्यविवर्जनाच्च मितत्वमस्य प्रयोजकम् ।

यत एवं ततः–

अवलम्ब्य भक्तिमात्रं विधानं यत्कृतं मया ।।५२०।।

यह तथ्य है कि, देवाराधन रूप इस प्रक्रिया का अधिकार शास्त्र और भगवान् द्वारा ही प्राप्त होता है । विधिस्थ यहाँ भगवान् द्वारा अधिकार प्राप्त गुरुदेव ही हो सकते हैं । यह विधि एक प्रकार की अकाम विधि ही मानी जा सकती है । इसमें न्यूनाधिक दोष की सम्भावना भी है । इसके लिये भी गुरुदेव क्षमा प्रार्थना कर रहे हैं । पूजायें तो शास्त्रों द्वारा ही निर्दिष्ट होती हैं । उन्हीं आदेशों से गुरुदेव पूजा में प्रवृत्त हैं । अतः क्षमा प्रार्थना का भी अधिकार उन्हें है ।।५१९।।

शास्त्र में पूजा के लिये वित्तशाठ्य विवर्जित है । एक तरह से यहाँ तक कह दिया गया है कि, इससे विस्तृत और बड़े पैमाने पर सम्पन्न करना चाहिये । इस सन्दर्भ में आचार्य की विनयपरक यह उक्ति कि, इन प्रकृति परिणामी द्रव्यों से अत्यन्त भूयिष्ठ रूप से पूजा नहीं हो सकती, यह सिद्ध करती है कि, पूजा में श्रद्धा भाव की प्रधानता चाहिये । इसमें प्रदर्शनात्मक विस्तार का महत्त्व नहीं है । यह सभी जानते हैं कि, पूजा के सभी द्रव्य अर्घपात्र के पावन जल के छिड़काव से अत्यन्त पवित्र हो जाते हैं । मन्त्र से शिवीकृत हो जाते हैं । उनमें प्राकृतत्व की दृष्टि मात्र विनय परक ही है । इस प्रार्थना में यह भी कहा गया है कि, भगवन् ! ये जल्दी जो थोड़ी सामग्री जुटायी गयी है, इसी से भावमयी मेरी पूजा आप अवश्य स्वीकार करने की कृपा करें ।।५२०।।

---

१. ख.पु. इति भूयिष्ठेति पाठः ।

तत्सर्वं सफलं मेऽस्तु सुप्रसन्ने विभो त्वयि ।

सुष्ठु प्रसादो मायाकालुष्यप्रशमनेन पूर्णचिद्रसमयत्वेन स्फुरणम् ।

एवं विज्ञप्तिसमनन्तरम्–

प्रसन्नवदनो हृष्टो वरं दत्तं विभावयेत् ।।५२१।।

अथ–

उपविश्य ततो यागं संहरेत क्रमात् प्रिये ।

तत्रादौ–

अग्रं सम्प्रार्थ्य गृह्णीयात्स्थापयेच्चास्त्ररक्षितम् ।।५२२।।

अग्रवर्ति चर्वादि अग्रम्–

'देवदेवस्य नैवेद्यं चान्द्रायणशतादिकम् ।'

इति अन्यत्रोक्तत्वात् परं पवित्रमेतन्मा कश्चिद्भूतादिरदीक्षित आहार्षीदित्यस्त्रेणास्य रक्षणम् ।

भगवन् ! मेरी यह पूजा सफल हो, सुफलप्रद हो, आप का अनुग्रह रूप प्रसाद मुझे प्राप्त हो । मुझे यह पूर्ण और दृढ विश्वास है कि, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर आप अवश्य प्रसन्न है । आप कृपालु हैं । इससे मेरी मयाजन्य कलुषता नष्ट हो गयी है । मेरे ऊपर पूर्ण चिन्मयचिद्रस की वर्षा करो भगवन् ! इस प्रकार विनम्र प्रार्थना और प्रणति निवेदन के पश्चात् आचार्य अनुभव करे कि, भगवान् प्रसन्न हैं, सुमुख हैं और मेरे ऊपर वरदानों की वर्षा कर रहे हैं । इस प्रकार के विभावन में बड़ा बल होता है ॥५२१॥

इस प्रार्थना और प्रसादानुभूति सम्भूति के बाद अपने आसन पर उपवेशन कर याग के उपसंहार की व्यवस्था आचार्य करे । याग शेष में बचे चरु आदि का सशिष्य ग्रहण करे । कुछ प्रसाद अस्त्रमन्त्रों से अभिमन्त्रित कर अन्यत्र सुरक्षित रखवा दे, जिससे कोई अदीक्षित या कोई जीव जन्तु उसे जूठा न कर सके । एक स्थान पर चरु के महत्त्व के विषय में कहा गया है कि, 'देवाधिदेव को अर्पित नैवेद्य शतशत चान्द्रायणव्रतों से भी महत्त्वपूर्ण होता है' ॥५२२॥

एवं कृत्वा–

विशेषपूजनं चार्घं प्रणिपातं ततः पुनः ।
निरोधार्घं ततो गृह्य अर्घं सव्यापसव्यतः ।।५२३।।
दत्त्वा विसर्जयेद्देवं धाममन्त्रमनुस्मरन् ।

अर्घमिति–

'पश्चादर्घः प्रदातव्यः सुरया..........।' (२-१३६)

इत्युक्तपूर्वं दत्त्वा प्रणिपातं कृत्वा निरोधप्रयोजनोऽर्घः प्रसृतस्तं परिसमाप्ते विधौ स्वरूप-विश्रान्त्यर्थं सव्यापसव्यत इति ज्ञानक्रियाशक्तिव्याप्तिभ्यां दक्षवामकराभ्यां दत्त्वा विजर्सयेत् ।

विसर्जनविधिमेव प्रदर्शयति–

आत्मनो रेचकं कृत्वा पुष्पं देवाय निक्षिपेत् ।।५२४।।

निष्कलेनेत्यर्थात् ।।५२४।।

संहारिण्या च संगृह्य मन्त्रान् पार्श्वव्यवस्थितान् ।
विद्युद्वच्चलितान्ध्यात्वा धामदेहे तु विन्यसेत् ।।५२५।।

इसके बाद विशेष पूजा अर्घ्य अर्पण, पुनः पुनः प्रणति निवेदन करे । प्रथा और परम्परा से प्रचलित निरोध के उद्देश्य से निर्मित अर्घ की व्यवस्था करे । इस अर्घ को ज्ञानशक्ति व्याप्तिक दक्षिण हाथ और क्रियाशक्ति व्याप्तिक बायें हाथ से सव्यापसव्य रूप से अर्पित करना चाहिये ।।५२३।।

इस प्रकार अर्घ प्रदान करने के बाद भगवान् का विसर्जन करे । इस विसर्जन की प्रक्रिया में धाम मन्त्र का अनुस्मरण करना चाहिये । विसर्जन के समय का अर्घ सुरा से दिया जाना चाहिये । यह तथ्य इसी ग्रन्थ के पटल २ के श्लोक १३६ में लिखा गया है । वहाँ कहा गया है कि, 'विसर्जन का अर्घ सुसुगन्धित सुरा से देना चाहिये ।'

इसके बाद प्राण की रेचक क्रिया के समय ही भगवान् के लिये पुष्प अर्पित करना चाहिये । यह पुष्पार्पण निष्कल भैरव बीज मन्त्र से करना चाहिये ।।५२४।।

इसके बाद एक सूक्ष्म अनुभूतियों से भरे आध्यात्मिक अव्यक्त आन्तर स्फूर्ति का उल्लेख कर रहे हैं–

यह सभी जानते हैं कि, मन्त्रों में अनन्त शक्तियों का ऊर्जस्वल उल्लास विस्फूर्जित होता रहता है । उनमें वैद्युतिक तरङ्गों की तरह चल चिन्मयता चमत्कृत

कनिष्ठादिक्रमेण दक्षकरशाखासंवर्तनात्मा संहारिणी मुद्रा । धामदेहे सकलभट्टारके । विन्यसेत्तदेकलीनान् भावयेत् ॥५२५॥

तमपि–

विद्यादेहं भैरवस्य

निष्कलस्य उपलीनं चिन्तयेत् ।

तल्लीनं बिन्दुविग्रहे ।

तन्निष्कलरूपमकारादिप्रशमयुक्त्या ज्योतिर्मात्रात्मनि बिन्दौ लीनम् ।

तमपि–

बिन्दुं तु नादशक्तिस्थं शक्तिरूपं तु ग्राहयेत् ।।५२६।।

अर्धचन्द्रानिरोधिकाप्रशमयुक्त्या विमर्शप्रधाननादनादान्तरूपतां गमितमानन्दस्पर्शप्रधानशक्तिरूपं सम्पादयेत् ॥५२६॥

होती रहती है । याग में जब मान्त्रिक प्रयोग करता है, और वहाँ मन्त्रों की चिन्मय उच्चार प्रक्रिया चलती रहती है, तो वहाँ नाद और नादान्त दो वृत्तियाँ नृत्य सी करती रहती हैं । उन पार्श्व में व्यवस्थित मन्त्रों और उनकी वैद्युतिक तरङ्गों को भगवान् के धाम मन्त्र स्वरूप में एक लीन कर देना भी आवश्यक है । यह कार्य संहारिणी मुद्रा से होता है । दाहिने हाथ की अङ्गुलियों को कनिष्ठा के क्रम से संवर्त्तन करने से संहारिणि मुद्रा बनती है । इसी संहारिणी मुद्रा से मन्त्र संग्रहण कर सकल भट्टारक के धाम देह एकलीन मानकर कर विन्यास करने की प्रक्रिया पूरी करे ॥५२५॥

उस एकलीन धाम देह को भी भैरव के निष्कल विद्या देह में लीन कर रहा हूँ, इस प्रकार के भाव से भावित होकर उपलीन कर दे । इस निष्कल रूप को भी अकार आदि अक्षरों की प्रथम युक्ति से ज्योति मात्र रूप से दीप्तिवन्त बिन्दु विग्रह में लीन करने का भावन करे ।

शास्त्र दृष्टि से बिन्दु के बाद अर्धचन्द्र और अवरोधकारी निरोधिका क्रम आता है । पर ये दोनों बिन्दु के अन्तर्गत ही अन्तर्भूत मानी जाती हैं । अत: उस बिन्दु विग्रह को नादशक्ति में अन्तर्लीन करना चाहिये । उस नादशक्तिस्थ देव को स्पर्श प्रधानशक्तिरूपस्थ करने की प्रक्रिया का सम्पादन आचार्य करे ॥५२६॥

तदपि–

शक्तिरूपं व्यापकेन

स्वरूपेण स्थितं सत् ।

प्रणवोभयसम्पुटम् ।

प्रकर्षेण नूयते स्तूयते सर्वैरिति प्रणवः परं तत्त्वम्, तेन उभयतः सम्पुटितमित्यन्तःकृतं सर्वतो व्याप्तमित्यर्थः ।

तथा भावितम्–

संहारिण्या तु संगृह्य द्वादशान्ते तु योजयेत् ।।५२७।।

शक्ति स्वरूप में अवस्थित उस चैतन्य को व्यापिका में अन्तर्लीन करना चाहिये । व्यापिनीस्थ करने के लिये उसे प्रणव से सम्पुटित कर लेना चाहिये । प्रणव शब्द में 'प्र' उपसर्ग है 'नू' धातु है । 'प्रकर्षेण नूयते अर्थात् स्तूयते सर्वैः' यह विग्रह वाक्य प्रणव को विश्ववन्द्य सिद्ध करता है । व्यापक में स्थित करने के लिये इस विश्ववन्द्य एकाक्षर सर्वव्यापक ब्रह्म से सम्पुटित कर देने से उसकी व्यापकता भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है ।

इस प्रकार धामदेह से उन वैद्युतिक तरङ्गायमाण चिन्मय मन्त्रों के माध्यम से यह देव विसर्जन की प्रक्रिया ॐकार से सम्पुटित होकर व्यापिनी तक पूरी की गयी । अब आचार्य संहारिणी मुद्रा से उसको पकड़ कर द्वादशान्त में नियोजित कर देता है । यह ऊर्ध्व द्वादशान्त होता है । यहाँ द्वादशान्त प्रयोग विचारणीय है । व्यापक भाव को तो व्यापिनी बिन्दु व्यक्त करता है । व्यापिनी दशा दशवीं श्रेणी का सोपान है । इसके ऊपर समना और उन्मना के पद आते हैं । इन दोनों पदों को 'शक्ति रूपं व्यापकेन' इस श्लोक ५२७ के अंश वाक्य द्वारा यहाँ व्यापक शब्द से व्यापिनी, समना और उन्मना तीनों का अन्तर्भाव शास्त्रकार ने किया है । इन व्यापकों के ऊपर ऊर्ध्व द्वादशान्त माना जाता है । इसकी गणना इस प्रकार देखी समझी जा सकती है–१–अकार, २–उकार, ३–मकार, ४–बिन्दु, ५–अर्धचन्द्र, ६–निरोधिनी, ७–नाद, ८–नादान्त, ९–शक्ति, १०–व्यापिनी, ११–समना और १२–उन्मना । इन द्वादशों का अन्त द्वादशान्त में होता है । इसी पद पर ॐ नमः शिवायै ॐ नमः शिवाय के अभेद अद्वय शैव सद्भाव का सामरस्य भासित होता है ।

इस प्रकार श्लोक ५२७ का 'द्वादशान्ते नियोजयेत्' पदांश का अर्थ श्लोक ५२८ के 'स्वस्थानस्थं तु भावयेत्' पदांश से अन्वित किया जा सकता है । द्वादशान्त योजन का यह रहस्यार्थ है ।।५२७।।

ततोऽपि–

पूरकेण हृदि न्यस्य स्वस्थानस्थं तु भावयेत् ।

स्वस्थानं निरुपाधिप्रकाशानन्दघनमेव तत् ।

सकलं निष्कलं रूपं तथा सकलनिष्कलम् ।।५२८।।

भिन्नावस्थं तु मन्त्रेषु हृत्स्थं तत्संस्मरेत्प्रिये ।

सकलं द्वात्रिंशदर्णम्[१], निष्कलं च मन्त्रविरामे प्रकाशविमर्शमात्रतत्त्वम्, सकलनिष्कलं तु चतुष्कलनाथात्मकं यदेकमपि अनुजिघृक्षया त्रिधैव भूत्वा पुनर्वक्त्राङ्गादिभूमिषु भिन्नावस्थं तदेवंव्याप्तिकमेतदेकमेव मान्त्रं रूपं हृत्स्थं स्मरेत् ।

उपसंहरति–

विसर्जनविधिर्ह्येवं

इसके बाद पूरक प्राणायाम कर 'हृदय' में न्यास करना चाहिये । यहाँ 'हृदय' भी अनाहत के लिये नहीं अपितु 'सा स्फुरता महासत्ता 'हृदयं' परमेष्ठिनः' वाला हृदय शब्द है । वही स्वस्थान है । उस 'स्व' स्थान को आचार्य क्षेमराज निरुपाधि प्राकाशानन्दघन कहते हैं । वहीं द्वादशान्त का मध्यधाम है । उसी में मान्त्र रूप का भावन होता है । वहाँ सकल, निष्कल का भेद भाव सकल निष्कल के ऐक्य में समाहित हो जाता है । इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिये ।।५२८।।

सकल, निष्कल और सकलनिष्कल ये तीन भिन्नावस्था के मन्त्र हैं । सकल बतीस अक्षरों वाले अघोर मन्त्र को कहते हैं । निष्कल मन्त्र अघोर मन्त्रान्त में प्रकाश विमर्श रूप होता है । सकल निष्कल मन्त्र चतुष्कलनाथात्मक मन्त्र होता है । यह एक होते हुए भी अनुग्रह की आकाङ्क्षा से तीन प्रकार का हो जाता है । इसके बाद वक्त्राङ्ग और विद्याङ्ग भूमिकाओं में भी भिन्नावस्थ रूप ग्रहण करता है । यही एक मन्त्र अकार से द्वादशान्त पर्यन्त अपनी व्यापकता में विद्यमान रहकर विश्व के ऊपर अनुग्रह की वर्षा करता है । इसका ही द्वादशान्त रूप हृदय में अवस्थित कर स्मरण किया जाना चाहिये । इसका उपसंहार कर रहे हैं–

यही विसर्जन की विधि है । इस विधि से प्रायः लोग अपरिचित हैं । यह कहना कि 'न जानामि विसर्जनम्' एक प्रकार की सच्चाई ही है । मण्डल की तरह

---

१. ख.पु. द्वात्रिंशदक्षरमिति पाठः । पं. २४ ग.घ.ङ.पु. अग्निमेवमिति पाठः ।

यथा मण्डले तथान्यत्राप्याह–

अग्नावेवं

तत्रादावग्निं

प्रपूजयेत् ।।५२९।।

ततोऽपि मूलेन–

अष्टोत्तरशतं हुत्वा पूर्णाहुतिं प्रपातयेत् ।

तं च–

अर्घमाचमनं दत्त्वा प्रणिपत्य क्षमापयेत् ।।५३०।।

क्षमयेदित्यत्रार्थेऽयमैशः पाठः ।।५३०।।

कथं क्षमयेदित्याह–

मण्डलस्थप्रयोगेण रेचकापूरकेण तु ।
संगृह्य मन्त्रसंघातं यथास्थानं प्रकल्पयेत् ।।५३१।।

स्वात्मनो मन्त्रोच्चारानन्तरं नासिक्यरेचकेन निर्गत्य लोकपालादिक्रमेण धामान्तमापूर्य रेचयित्वा स्वात्मानमेव पूरयेत् । तत्र लोकपालमन्त्राणां भैरवाः, तेषामङ्गवक्त्राणि, तेषां सकलः, तस्यापि सकलनिष्कलः, तस्यापि व्याख्यातरूपनिष्कलनाथः स्थानमित्ययमेवात्र क्रमः ।।५३१।।

अग्नि में भी विसर्जन की यही विधि अपनायी जानी चाहिये । अग्नि में पूजन कर उक्त प्रकार से भावोत्कर्ष के माध्यम से हृदय में स्फुरत्ता रूप से स्मरण करना चाहिये ।।५२९।।

इसके बाद मूल मन्त्र से अष्टोत्तर शत आहुतियाँ अर्पित करनी चाहिये । अर्घ और आचमन के उपरान्त दण्डवत् प्रणिपात का अर्पण कर अग्निनारायण से क्षमा प्रार्थना करनी चाहिये ।।५३०।।

क्षमापयेत् और क्षमयेत् के फेर में न पड़कर साधक मन्त्रोच्चार की प्रक्रिया पूरी कर नासिक्य रेचक से बाहर विश्वात्मक विस्तार में आकर लोकपालाष्टकों से लेकर धामान्त पर्यन्त प्राण में भरकर रेचकापूरण व्यापार से स्वात्म को भर ले । इस अवस्था में यह ध्यान दे कि, इनको किन किन स्थानों में अन्तर्लीन करना है । इस क्रम का निर्देश शास्त्र के अनुसार ही निर्धारित है । जैसे १–लोकपालों की लीनता के स्थान भैरवाष्टक में परिगणित भैरव हैं । २–इनके स्थान अङ्गवक्त्र हैं । अङ्गवक्त्रों की अन्तर्लीनता का स्थान सकल मन्त्र है । सकल की अन्तर्लीनता का स्थान सकल निष्कल नाथ है । इनकी अन्तर्लीनता के स्थान पहले ही प्रतिपादित स्वयं निष्कल नाथ हैं । इसी क्रम का अनुसरण करना चाहिये ।।५३१।।

इत्थमग्निस्थं देवं विसृज्य–

जागरयेत्तदाग्निं तु नित्यकर्मनिमित्ततः ।

मा भूत् प्रतिदिनं संस्करणमित्याशयः ।

अथ–

निर्माल्यनयनं कुर्याद्रजांस्यपह[1]रेत्प्रिये ।।५३२।।

ततः प्रविश्य वसुधां प्रोक्षयेत्तां शिवाम्भसा ।

निर्गतं माल्यं निर्माल्यं न तु चण्डेशकल्पनया तस्या इह विशेषनयेष्व[2]चोदितत्वात् ।

अथ–

वहिर्निर्गत्य भूतानां बलिकर्म तु पूर्ववत् ।।५३३।।

प्रागुक्तेनैव मन्त्रेण कार्यम् ।।५३३।।

इसके अनुसार अग्नि की क्रमिक अन्तर्लीनता निष्कल तक पहुँचकर पूर्णता में प्रवेश कर जाती है । यही विसर्जन का सच्चा स्वरूप है । एक बात की ओर भगवान् साधकों और उपासकों का ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं । वस्तुतः नित्यकर्म की विधि में अग्निदेव की आवश्यकता पड़ती है । अतः विसर्जन के बाद भी अग्नि का जागरण अवश्य करणीय हो जाता है । इस जागरण की प्रक्रिया के कारण अग्नि का प्रतिदिन का संस्कार अपेक्षित नहीं रह जाता ।

भगवान् कह रहे हैं कि, प्रिये देवि ! इसके बाद निर्माल्य को निर्गत कर देना चाहिये । तत्पश्चात् वहाँ अल्पना में प्रयुक्त रज का भी अपसारण करना चाहिये । इस रजस् के निर्गत करण में चण्डेश कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं होती । इस परम्परा के अनुकूल वह प्रकल्पन नहीं है । इसके बाद मण्डप से बाहर आकर भूतों के लिये बलिकर्म का विधान पहले की तरह ही सम्पन्न करना चाहिये ।।५३२-५३३।।

---

१. ख.पु. अपनयेदिति पाठः ।
२. क.ग.पु. चोदितेति पाठः ।

अथ–

आचम्य सकलीकृत्य लिङ्गिनस्तर्पयेत्ततः ।

लिङ्गिनो जटाभस्मादियुक्तान् । उक्तं च–

'शिवस्य परिपूर्णस्य किं नाम क्रियते नरैः ।

यत्कृतं शिवभक्तेषु तत्कृतं तु शिवे भवेत् ॥'

इति शिवधर्मेषु ।

अनन्तरम्–

गुरुं सम्पूजयेच्छिष्यो यथाविभवविस्तरैः ॥५३४॥

अथास्मै स्वात्मानमनृणीकर्तुम्–

देशाध्यक्षो ग्रामशतं मण्डलेशस्तदर्धकम् ।

शतभुक्पञ्च वै दद्याद्ग्रामं विंशतिभुक्तथा ॥५३५॥

दद्यात्तु ग्रामभुक् क्षेत्रं क्षेत्रभोक्ता तु विंशतिम् ।

विंशतितमं भागमित्यर्थः । एतच्चोपलक्षणम् ।

वस्तुतस्तु–

येन येन गुरुस्तुष्येत्तत्सर्वं विनिवेदयेत् ॥५३६॥

इसी क्रम में बलिकर्म के बाद आचमन कर सकलीकरण की प्रक्रिया अपनानी चाहिये । इसके बाद लिङ्ग धारण करने वाले जहाँ भस्मादि विभूषित उपासकों तृप्त करने में लग जाना चाहिये जिससे वे पूरी तरह तृप्त हो जाँय । इसी विषय का समर्थन करने वाली शिवधर्म की आगमिक उक्ति है । उसके अनुसार 'स्वयं परिपूर्ण शिव को तृप्त करने के लिये कोई भी क्या कर सकता है ? वस्तुतः शिव भक्तों की तृप्ति के लिये जो कुछ किया जाता है, वही शिव की तृप्ति के लिये पर्याप्त होता है ।'

इसके बाद शिष्य अपने गुरुदेव का श्रद्धाभक्ति के साथ पूजन करता है । इस प्रक्रिया में अपनी शक्ति के अनुसार उठा नहीं रखना चाहिये । वित्तशाठ्य का प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥५३४॥

इसके लिये स्वात्म को गुरुऋण से मुक्ति पाने के लिये देश का स्वामी सौ गाँव दान करे । मण्डलेश्वर पचास ग्राम दान में अर्पित करे । सौ ग्रामों का स्वामी ५ गाँव । बीस ग्राम का स्वामी सामन्त एक ग्राम, ग्राम का स्वामी एक खेत और खेतों का स्वामी अपने खेतों का बीसवाँ भाग गुरु को दान कर दे । इसका अन्तिम सिद्धान्त यह है कि, गुरुदेव जैसे भी जिस व्यापार से तुष्ट और तृप्त हो सकें, वह सब कुछ शिष्य को करना चाहिये । अर्थात् गुरु की तृप्ति के लिये वे जो कहें, उसी को विनिवेदित कर देना चाहिये ॥५३६॥

ततस्त्वनृणतां याति वित्तशाठ्यविवर्जितः ।

वित्तशाठ्ये सति लोभादियुक्तस्य शरीरादिप्रमातृत्वानुग(त्वंन)मनाद(ग)पि मि(ग)लितमिति दीक्षासंस्कारोऽस्य न सम्यग्वृत्त इत्यनुमीयते । यत्र च शिष्यस्येदृग्वृत्तं तत्र गुरुर्दण्डापूपिकयैव निर्लोभः सिद्धः । अत एव प्राक्-

'पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ।' (४-५०१)

इत्युक्तम् ।

एवं विदितयोग्यभावः शिष्यः-

ततस्तु समयाञ्श्राव्यस्तन्त्रे भैरवनिर्गते ।।५३७।।

ते चाग्रे भविष्यन्ति ।

इस प्रकार शिष्य गुरु ऋण से मुक्त हो जाता है । इसे ही आनृण्य की उपलब्धि कहते हैं । किसी भी दशा में वित्तशाठ्य नहीं अपनाना चाहिये । वित्तशाठ्य अर्थात् कंजूसी वही शिष्य करता है, जो वित्त का लोभी होता है और ज्ञान प्राप्ति को, स्वबोधताभरी जीवन्मुक्ति को महत्त्व नहीं देता । इससे यह भी अनुभव किया जा सकता है कि, अशुद्ध देह प्रमातृता में रह जाने वाले इस शिष्य को अकृत्रिम अहंता का लेश भाव भी उपलब्ध नहीं हो सका । एक तरह से यह कहा जा सकता है कि, इस शिष्य का दीक्षा संस्कार अच्छी तरह सम्पन्न ही नहीं हो सका । गुरुदेव अपने स्तर से च्युत नहीं होते । शिष्य के इस व्यवहार से दण्डापूपिका न्याय से वे निर्लोभ सिद्ध हो जाते हैं । एक ने डंडा रखा था, उसने यह कहा कि, डण्डे को चूहे खा गये । ऐसी स्थिति में यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि, पुआ तो डण्डे से पहले ही खा लिये गये होंगे ।

इस प्रसङ्ग में भी शिष्य द्वारा वित्त अर्पित न करने पर गुरु की निर्लोभता स्वयं सिद्ध हो जाती है । यहाँ यह न्याय घटित हो जाता है ।

सारी प्रक्रिया पूरी करने पर गुरु उस शिष्य के हाथ में पहले आशीर्वाद रूप में फूल देता है । यह ४/५०१ में कही गयी उक्ति है । इस पुष्प प्रदान के साथ ही शिष्य के हृद्गत भाव लक्षित भी हो जाते हैं । जो कुछ भी हो, भैरव देव के विसर्जन के बाद समय श्रावण होना आवश्यक है । यह निर्देश आचार्य के लिये ही है कि, वह अन्त में शिष्यों को 'समयों' के सम्बन्ध में नियमतः सारी बातें सुनाये और उन्हें सावधान रहने की शिक्षा दे ॥५३७॥

अथ च–

चरुकं प्राशयेत्पश्चाच्चुम्बकः साधकैः सह ।

वाङ्निरुद्धः प्रसन्नात्मा पृथक् पात्रव्यवस्थितः ।।५३८।।

चरुकमिति प्रार्थितनैवेद्यम् । साधकैरित्युपलक्षणम् । चुम्बति परम्परायातेन गुरुवक्त्रेण संयोज्यते संयोजयति च शिष्यमिति निरुक्त्या चुम्बको गुरुः । परमपवित्रचरुभोजने वाङ्निरुद्धत्वं चितैकाग्र्याय, अत एव प्रसन्नात्मा ।

स च चरुः साधकादीनां ज्येष्ठादिक्रमेण देय इत्याह–

अनुक्रमेण दातव्यः

एवं हि सति स स चरुभोजी–

ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ।

एष च दीक्षाविधिरसामान्यरूप इत्याह–

अनेनैव विधानेन दीक्षिता ये वरानने ।।५३९।।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्येऽथवा प्रिये ।

सर्वे ते समधर्माणः[१] शिवधर्मे नियोजिताः ।।५४०।।

इसके बाद चरु प्राशन की प्रक्रिया वह चुम्बन आचार्य शिष्यों के साथ ही अपनाये । परम्परा प्राप्त गुरु मुखारविन्द से निःसृत ज्ञान विज्ञान को शिष्य से समायोजित करने वाला गुरु चुम्बक कहलाता है । गुरु वक्त्रेण संयोज्यते शिष्यः येन सः चुम्बकः अथवा संयोजयति यः स इति चुम्बकः' इन विग्रहों के आधार पर चुम्बक गुरु के अर्थ की चरितार्थता होती है । चुम्बन भी एक प्रकार का मुख से संयोजन ही होता है । परम पवित्र चरु प्राशन के समय मौन रहना आवश्यक है । इससे चित्त एकाग्र रहता है । इतनी बड़ी प्रक्रिया पूरी कर शिष्य को उत्कर्ष की ओर अग्रसर करने से प्रसन्नता स्वाभाविक है । गुरु का पात्र पृथक् रहना ही चाहिये ।।५३८।।

नियम यह है कि, चरु का वितरण साधकों में ज्येष्ठ के क्रम से किया जाय । इसी तथ्य को अनुक्रम से देना चाहिये, इस निर्देश द्वारा व्यक्त कर रहे हैं । इस प्रकार चरु प्राशन करने वाले शास्त्रोक्त सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं । भगवान् इस दीक्षा का बखान करते हुए माता पार्वती से कह रहे हैं कि, देवि ! इस विधि से दीक्षित कोई भी हो, सभी समधर्मी माने जाते हैं ।।५३९।।

भले ही वे ब्राह्मण हो, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा किसी भी जाति में जन्म क्यों न लिये हों, ये सभी इस दीक्षा के बाद समान धर्मा, शिव धर्म में नियुक्त और एक परम्परा के पालक बन जाते हैं ।।५४०।।

---

१. ग.पु. सर्वधर्माण इति ।

सर्वे जटाधरा प्रोक्ता भस्मोद्धूलितविग्रहाः ।

नात्र अन्यतन्त्र इव दीक्षितानां प्रग्जातिसंस्कार: कोऽपि, केवलं समयादिभेदादेव भेद: ।

अत एव–

एकपङ्क्तिभुजः सर्वे समयिनस्तु वरानने ।।५४१।।

सर्व इति ब्राह्मणाद्या: संकीर्णाश्च ॥५४१॥

किञ्च–

पुत्रकाणां भवेदेका साधकानां तथा भवेत् ।
चुम्बकानां भवेदेका

पङ्क्तिरित्यर्थात् ।

न प्राग्जातिविभेदतः ।।५४२।।

यत:–

एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाव्यया[1] ।

कहा तो यह भी गया है कि, जटाधारी रह सकते हैं और शरीर में भस्म रमा सकते हैं । यह ध्यान देने की बात है कि, बहुत से अन्यतन्त्रों में प्राग्जाति-संस्कार की मान्यता रहती है किन्तु इस परम्परा में प्राग्जाति का स्मरण भी पापप्रद माना जाता है । यदि कोई भेद दीखता है, तो मात्र समयाचार पालन में ही होता है । इस दृष्टि से एक पङ्क्ति में भोजन का अधिकार सबको समान रूप से प्राप्त हो जाता है । भगवान् कहते हैं कि, देवेश्वरि ! समय पालन की अनिवार्यता सबके लिये ही निर्दिष्ट हैं । ब्राहण और संकीर्ण वर्ण वाले सभी एकधर्मी हो जाते हैं ॥५४१॥

हाँ पङ्क्ति भेद भी पारम्परिक रूप है । जैसे १–पुत्रक शिष्यों की पङ्क्ति पृथक् होनी चाहिये । २–साधक श्रेणी में आने वाले शिष्यों की पृथक् पङ्क्ति होनी चाहिये । और ३–चुम्बक सदृश गुरुजनों की पङ्क्ति भी पृथक् रहनी श्रेयस्कर होती है । इसमें भी यह ध्यान रखा जाता है कि, जाति का पार्थक्य भाव वहाँ बिल्कुल न रहे ॥५४२॥

क्योंकि दीक्षोपरान्त इस शिष्य वर्ग की एक जाति हो जाती है । इस जाति को अव्यया भैरवीया शिवा जाति कहते हैं । यह पहले (४०२) कहा गया है कि,

'उस परमपद में युक्त और सर्वज्ञता आदि छः गुणों से योजित कर दिये जाने पर वह शिष्य मात्र एक शिव ही हो जाता है । उस दशा में अविभाग भाव से उसकी सार्वत्रिक शैवव्याप्ति सिद्ध हो जाती है ।'

---

१. ख.पु. ज्ञयेति पाठः ।

उक्तं हि प्राक्–

'तस्मिन्युक्तः परे तत्त्वे सार्वज्ञ्यादिगुणान्वितः ।

शिव एको भवेद्देवि अविभागेन सर्वतः ॥' ४०४

इति । यत एषा भैरवसम्बन्धिनी जातिस्तत एव श्रेयोरूपा च नित्या च ।

अत्रायमेवागमः प्रमाणमित्याह–

तन्त्रमेतत्समाश्रित्य प्राग्जातिं न ह्युदीरयेत् ।।५४३।।

पुत्रकाणां साधकानां तथा समयिनामपि ।

किं पुनराचार्याणामेतत्तन्त्राश्रितानामेव अयं नियमो न लौकिकानां तन्त्रमेतत्समाश्रित्येत्येतदावृत्त्या योज्यम् ।

अतश्च एतत्तन्त्रदीक्षितः–

प्राग्जात्युदीरणाद्देवि प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ।।५४४।।

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि, यह एक भैरवीया जाति शिष्यों की श्रेयः साधिका का ही शेष रहती है । इसका विनाश कभी नहीं होता क्योंकि, यह नित्या होती है । यही आगम इसका प्रमाण है । यह आज्ञा भी यहाँ दी गयी है कि, इस तन्त्र परम्परा का आश्रय लेने के उपरान्त प्राग्जाति का कभी नाम भी न ले ॥५४३॥

प्राग्जाति की बात जबान पर भी नहीं लानी चाहिये । चाहे वह पुत्रक हो, साधक हो या समयी हो, सभी इस निर्देश का पालन दृढ़ता पूर्वक करें । जब पुत्रक, साधक और समयी पर यह नियम लागू होता है, तो आचार्य पर तो और भी कड़ाई से यह नियम लागू होना चाहिये । एक बात की ओर आचार्य क्षेमराज ध्यान आकर्षित कर रहे हैं । उनका कहना है कि, इस तन्त्र में दीक्षितों के लिये ही यह नियम है, लौकिक सामान्य लोगों के लिये यह नियम नहीं । अतः निष्कर्ष रूप से यह मानना चाहिये कि, इस तन्त्र में दीक्षित व्यक्ति यदि प्राग्जाति की बात करता है, तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है । नर शब्द से देहादि अभिमान ग्रस्त व्यक्ति का अर्थ लिया गया है ॥५४४॥

नर इत्यात्तदेहादिग्रहः ।

अतश्च–

दिनत्रयं तु रुद्रस्य पञ्चाहं केशवस्य च ।

पितामहस्य पक्षैकं नरके पच्यते तु सः ।।५४५।।

यत एवम्–

अविवेकी भवेत्तस्माद्यदीच्छेदुत्तमां गतिम् ।

अविवेकी स्वात्मानमिव दीक्षितान् शिवैक्येन पश्यन् ।

यतः–

अविवेकेन देवेशि सिद्धिर्मुक्तिर्ध्रुवं भवेत् ।।५४६।।

शिवैक्यदार्ढ्यमेव सर्वश्रेयःसाधनमिति शिवम् ।

तन्त्रार्थप्रतिजागरात्प्रतिपदं
सद्व्याप्ति-संदर्शनात्,
सम्यक् संकलनाक्रमात्प्रकटितो
दीक्षाविधिर्यो मया ।

इसके लिये शास्त्र में समय सीमा भी बाँध दी गयी है । ऐसा प्रायश्चित्ती मनुष्य रुद्र के तीन दिनों तक, विष्णु के पाँच दिनों तक एवं ब्रह्मा के १५ दिनों तक नरक भागी होता है ।।५४५।।

अन्तिम सलाह बड़ी अच्छी है । भगवान् कहते हैं कि, यदि दीक्षित अपना कल्याण और उत्तम गति चाहता है, तो वह शास्त्र की बातों में अपने विवेक रूप कुतर्क के खुरपेंच न लड़ाये । एक तरह से दृढ़ भाव से अविवेकी ही बन जाय । भगवान् देवी को सम्बोधित कर कह रहे हैं कि, देवेश्वरि देवि ! इस अविवेक अर्थात् शास्त्र के विवेक पर ही निर्भर रह कर भुक्ति और मुक्ति दोनों प्राप्त कर लेता है, यह ध्रुव है अर्थात् शैवैक्य दार्ढ्य ही समस्त श्रेयःसिद्धियों का सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण साधन है । इति शिवम् !

उद्द्योतेऽत्र तमामृशन्तु गुरवः
श्रीशंकराज्ञाधरा ।
दीक्षां दीक्ष्यजनस्य कर्तुमभितो
भोगापवर्गप्रदाम् ।।

।। इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यविपश्चिच्चक्रचक्रवर्तिश्रीक्षेमराज-विरचिते श्रीमत्स्वच्छन्दोद्द्योते दीक्षाभिषेकप्रकाशनं नाम चतुर्थः पटलः सम्पूर्णः ।।

क्षेमराज के श्लोक का हिन्दी पद्यानुवाद–

तन्त्र के निहितार्थ में हूँ सतत जागृत, तत्त्वदर्शन–
व्याप्ति की अनुभूति ही 'उद्योत' समुदित सजग-सर्जन ।
शैव गुरुजन करें दीक्षाविधि-विवेचन कल विमर्शन
शिष्य की हो सिद्धि, जीवन्मुक्ति रस का रासरञ्जन ।।

भाषाभाष्यकार का अन्तिम निवेदन–

स्वच्छन्दं विहरन्नये ह्यनुकले स्वच्छन्दतन्त्रस्य वै
ज्ञात्वा नित्यमगम्यभैरववचः कृत्वा ह्यलं स्वात्मसात्
नीरक्षीरविवेकभाष्यरचनां कृत्वातिनव्यां कृतिं
भैरव्याः सुकुमारकंजकरयोर्हंसोऽर्पयत्याग्रहात् ।।

श्रीस्वच्छन्दभैरव के चिद्रसचमत्कारमय स्वच्छन्दतन्त्र का
महामाहेश्वराचार्य श्रीक्षेमराजकृतउद्योताख्यव्याख्योपेत
डॉ० परमहंसमिश्रकृत नीरक्षीविवेक भाषाभाष्य
समन्वित दीक्षाभिषेक प्रकाशन नामक
चतुर्थ पटल परिपूर्ण ।।४।।
शुभं भूयात्



मूलश्लोकादि पंक्तिक्रमः

अवर्ग

कवर्ग

चवर्ग

तवर्ग

●

उद्धरणश्लोकादिपंक्तिक्रमः

विशिष्टोक्तयः

उद्धृताग्रन्था:

विशिष्टशब्दादिक्रमः

अवर्गः १

तवर्ग

यवर्ग



मुद्रक : श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स